# आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना

— डा. रामविलास शर्मा

विनोद पुस्तक मन्दिर
हास्पिटल-रोड, आगरा।

प्रकाशक—
विनोद पुस्तक मन्दिर,
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

प्रथम संस्करण
सं० २०१२ वि०
मूल्य ५)

मुद्रक—
राजकिशोर अग्रवाल
कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बाग मुजफ्फरखाँ, आगरा

शुक्लजी के योग्य शिष्य

डा० शिवमंगलसिंह सुमन

को

# भूमिका

हिन्दी साहित्य मे शुक्लजी का वही महत्व है जो उपन्यासकार प्रेम-चंद या कवि निराला का। उन्होंने आलोचना के माध्यम से उसी सामन्ती संस्कृति का विरोध किया जिसका उपन्यास और कविता के माध्यम से प्रेमचंद और निराला ने। शुक्लजी ने न तो भारत के रूढ़ि-वाद को स्वीकार किया, न पच्छिम के व्यक्तिवाद को। उन्होंने बाह्य जगत् और मानव-जीवन की वास्तविकता के आधार पर नये साहित्य-सिद्धान्तो की स्थापना की और उनके आधार पर सामन्ती साहित्य का विरोध किया और देशभक्ति और जनतंत्र की साहित्यिक परंपरा का समर्थन किया। उनका यह कार्य हर देशप्रेमी और जनवादी लेखक तथा पाठक के लिये दिलचस्प होना चाहिये। शुक्लजी पर पुस्तक लिखने का यही कारण है।

पिछले वर्षों मे शुक्लजी पर तरह-तरह के आक्षेप किये गये थे। इनसे शुक्लजी के बारे मे ही नहीं, साहित्य के सहज विकास के बारे में भी भ्रम फैलते थे। इन्हीं के निराकरण के लिये नवंबर सन् ५४ के "नया पथ" में मैंने शुक्लजी पर एक लेख लिखा था जो इस पुस्तक मे पहले अध्याय के रूप मे दिया गया है। यह लेख पढ़ कर कई लोगों ने शुक्ल जी पर एक पुस्तक लिख डालने पर जोर दिया। यह प्रयत्न उन मित्रों के आग्रह का भी फल है।

"नया पथ" का लेख पढ़ कर कुछ विद्वानों को यह काम अनावश्यक सा लगा और उसमे ग़लत खंडन-मंडन भी दिखा। उनकी राय पर मैंने ध्यान नहीं दिया, यह समझने का अवसर क्यो आये? भूमिका मे उस राय की थोड़ी चर्चा किये देता हूँ।

"नया पथ" वाले लेख के बारे मे उसी पत्र के जनवरी सन् ५५ के अंक मे कथाकार यशपाल की राय छपी है। उनकी इस शिकायत से मैं

सहमत हूँ कि इतना लंबा लेख उसमे न छपना चाहिये था। इसके साथ ही उन्होंने यह भी लिखा है, "साहित्यिक आलोचना और आलोचना की आलोचना तो केवल परीक्षार्थियो के काम की चीज होगी।" परीक्षार्थियों के काम की हो तो बहुत अच्छा है लेकिन सेवा मे निवेदन है कि शुक्लजी से हमारे कथाकार और साधारण साहित्यप्रेमी भी बहुत कुछ सीख सकते है। शुक्लजी ने एक विशेष प्रकार के साहित्य का विरोध किया है, एक विशेष प्रकार के साहित्य का समर्थन। उस तरह वह हिंदी पाठकों की साहित्यिक रुचि परिष्कार करने वालो में है। उनकी यह विशेषता साधारण साहित्यप्रेमियो के ध्यान देने योग्य है। इसके सिवा शुक्लजी ने उपन्यासों के बारे मे कुछ उम्दा सुझाव दिये है, बहुत से पात्र और घटनाएं इकट्ठा करने के बदले पात्रो के भरे-पूरे चित्रण और उनके चरित्र-विकास पर जोर दिया है। उन्होने प्रेमचंद का आदर्श रखते हुए जनसाधारण के जीवन पर उपन्यास लिखना आवश्यक बतलाया है। शुक्लजी की इन बातो को यशपालजी एक मामूली हिन्दी-प्रेमी का सुझाव भी माने और उस पर विचार करें तो वह अपना और हमारा बड़ा उपकार करें।

शुक्लजी ने मानव-जीवन और भौतिक जगत् की वास्तविकता पर बहुत कुछ लिखा है। यशपाल जी को मार्क्सवाद पर पुस्तकें लिखने का शौक है। वह अपनी कई ग़लत धारणाएं शुक्लजी के अध्ययन से दूर कर सकते हैं। मिसाल के लिये "मार्क्सवाद" नाम की पुस्तक में यशपाल जी ने लिखा है, "मनुष्य का विकास प्रकृति के रूप रहित और गतिहीन पदार्थों से हुआ है।" (यह उद्धरण पुस्तक के १६४४ वाले संशोधित संस्करण से है।) रूपरहित और गतिहीन अध्यात्मवादियों का ब्रह्म होता है, प्रकृति नहीं। इस संबन्ध में शुक्लजी की स्थापनाएं यहाँ दोहराने की जरूरत नहीं, पुस्तक में पढ़ी जा सकती हैं। इतना कहना काफी है कि प्रकृति की रूपमयता और गतिमयता की बात शुक्लजी ने बीसों जगह कही है।

यशपालजी के अनुसार "मार्क्सवाद मनुष्य की बुद्धि, चेतना या

मन को भौतिक पदार्थों से बना मानता है।" ऐसी बात हो तो बुद्धि गढ़ने का एक कारखाना खोल लिया जाय और भौतिक पदार्थो से मन और चेतना तैयार करके कुछ कथाकारो के पास भेज दी जाय। शुक्लजी मन को रूप-गतिमय मानते है लेकिन मन बाह्य जगत् का प्रतिबिब है, भौतिक पदार्थ नही। भौतिक पदार्थ मस्तिष्क है जिसका गुण है चेतना (बुद्धि भी उसका गुण हो, यह आवश्यक नहीं)।

शुक्लजी ने उन पच्छिमी मनोवैज्ञानिकों का खंडन किया है जो मनुष्य की निःस्वार्थ भावना मे विश्वास नही करते, जो सच्चे देशभक्तो और क्रान्तिकारियो मे भी छिपी हुई स्वार्थभावना ढूंढ़ निकालते है। इस घटिया मनोविज्ञान को मार्क्सवाद का नाम देते हुए यशपाल ने लिखा है, "मनुष्य चाहे अपने परिश्रम से कमाया धन दे दे या अपनी जान दे दे, सब कुछ अपने संतोष के लिये ही है।" इसीलिये कुछ लोग अपने संतोष के लिये साहित्य का व्यापार करते है, चीरहरण की चर्चा से बिकाऊ माल तैयार करते है और पैसे के अलावा जनता के सेवक होने का यशलाभ करते हैं। यशपालजी के आत्मविश्वास से ईर्ष्या होती है। क्या दोटूक बात लिखी है, "मार्क्सवाद कहता है—न्याय और परोपकार मे भी स्वार्थ की भावना रहती है।" इस संबन्ध में यशपाल जी को नहीं तो साधारण हिन्दी पाठकों को शुक्लजी मे बहुत कुछ सोचने की सामग्री मिलेगी।

प्रोफेसर प्रकाशचंद्र गुप्त को शुक्लजी के जनवादी तत्वों से काफी सहानुभूति है। इस विषय पर लेख छापने के लिये मुझे नही तो "नया पथ" को उन्होने आशीर्वाद दिया है। साथ ही उन्हें आपत्ति है कि "नया पथ" के लेख मे शुक्लजी की सीमाएं नहीं बतलाई गईं। इस संबन्ध मे उन्होने शुक्लजी की छायावाद-संबन्धी आलोचना का हवाला दिया है और लिखा है, "छायावाद की ऐतिहासिक भूमि को शुक्लजी अन्तकाल मे ही समझ रहे थे।" गुप्तजी ने जो आलोचना उद्धृत की है, उसे शुक्लजी ने कभी वापस नहीं लिया। वह स्वप्निल क्रान्ति और विचारो मे बच्चों की साँस का बराबर विरोध करते रहे और गुप्त

जी भी छायावाद के इस रूप का थोड़ा विरोध करते तो उनकी आलोचना कुछ जानदार होती। खास तौर से पंत का सौंदर्यवादी रूप पहचानना शुक्लजी से सीखना चाहिये। रही जमींदारो से सहानुभूति की बात, उसका पुस्तक मे यथास्थान उत्तर मैंने दे दिया है। एक बात मेरी समझ मे नहीं आयी। गुप्तजी का कहना है, "चौहान और नामवरसिंह शुक्ल जी की ही परंपरा का विकास कर रहे है।" शिवदानसिह चौहान और नामवरसिंह शुक्लजी पर एकाङ्गी समाजशास्त्री होने का आरोप लगा चुके हैं। यदि इसी परंपरा का वे विकास कर रहे हो तो मैं नही जानता लेकिन शुक्लजी का एकाङ्गी समाजशास्त्र से कोई संबन्ध नही है, यह मैंने पुस्तक मे यथाप्रसंग दिखा दिया है। किसी की परंपरा के विकास का दावा करने के पहले उसे समझ लेना भी जरूरी है। आशा है, प्रोफेसर प्रकाशचंद्र गुप्त को इस कार्य में मेरे इस क्षुद्र प्रयत्न से भी थोड़ी बहुत सहायता मिल सकेगी।

गोकुलपुरा, आगरा। रामविलास शर्मा

१७-४-५५।

# विषय-सूची

# आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
और
# हिन्दी आलोचना

# साहित्य और लोक-जीवन

"मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोक-बद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी का प्रयोजन और विकास होता है।"—चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १३४।

"सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओ और विचित्रताओ के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय मे हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है।"—चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २२७।

"ज्ञानेन्द्रियो से समन्वित मनुष्य-जाति जगत् नामक अपार और अगाध रूप-समुद्र मे छोड़ दी गयी है। न जाने कब से वह इसमे बहती चली आ रही है। इसी की रूप-तरंगो से ही उसकी कल्पना का निर्माण और इसी की रूप-गति से उसके भीतर विविध भावो या मनोविकारो का विधान हुआ है।....सुन्दर, मधुर, भीषण या क्रूर लगने वाले रूपो या व्यापारो से भिन्न सौंदर्य, माधुर्य, भीषणता या क्रूरता कोई पदार्थ नहीं। सौन्दर्य की भावना जगना सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं या व्यापारों का मनमें आना ही है।"—रस मीमांसा, पृ० २५९।

इधर हिन्दी साहित्य का नया इतिहास लिखने और हिन्दी मे साहित्य-शास्त्र रचने की काफी चर्चा हुई है। इस चर्चा मे दिल्ली की "आलोचना"

ने विशेष योग दिया है। हिन्दी साहित्य के नये इतिहास की आवश्यकता है। सन् ४० के बाद हिन्दी मे जो साहित्य रचा गया है, पिछले साहित्य पर जो रिसर्च का काम हुआ है, उस सबको समेटकर हिन्दी साहित्य का एक भरा-पूरा इतिहास जरूर लिखा जाना चाहिये। आलोचना के सिद्धान्तो के बारे मे हमारी जानकारी बढ़े, उनसे साहित्य को परखने और नया साहित्य रचने मे सहायता मिले, यह भी वांछनीय है। लेकिन ये दोनो काम शुक्लजी की विरासत के आधार पर ही हो सकते है। इन दोनो क्षेत्रो मे शुक्लजी ने उल्लेखनीय कार्य किया है, यह सभी मानते है। लेकिन "आलोचना" के अधिकांश लेखको को इतिहास-लेखन और शास्त्र-चर्चा दोनो मे शुक्लजी एक बहुत बड़ी बाधा के रूप मे खड़े दिखाई देते है। वे शुक्लजी की विरासत को आधार नहीं बनाते, आधार बनाने की बात भी नहीं करते, वे अपने रास्ते से इस विरासत को हटा देना अपना परम कर्त्तव्य समझते है। इसलिये शुक्लजी के आलोचना-सिद्धान्तो का मूल्यांकन आवश्यक है, उनकी विरासत को पहचानना, उसके विरोधियो के तर्कों की परीक्षा करना एक समयोपयोगी कार्य है।

शुक्लजी पर पहला आरोप यह है कि उनका दृष्टिकोण एकांगी समाजशास्त्रीय है। "आलोचना" नं० ४ अक्तूबर १९५२ मे श्री शिवदान सिह चौहान ने लिखा है :

"शुद्ध कलावादी दृष्टिकोण से तो इतिहास नहीं लिखे गये, लेकिन न्यूनाधिक मात्रा मे एकांगी समाज-शास्त्रीय दृष्किोण आचार्य शुक्लजी से लेकर आज तक अपनाये जाते रहे है, चाहे ये समाज-शास्त्रीय दृष्टि-कोण राष्ट्रीय विचारधारा से प्रेरित हो या मार्क्सवादी विचारधारा से।"

श्री नामवर सिंह ने इसी अंक मे ऊपर की बात यों कही है : "शुक्ल जी के इतिहास मे सामाजिक परिस्थितियां तथा साहित्यकार साथ-साथ रखे जाने पर भी एक दूसरे से अलग है।" स्वयं शुक्लजी का ऐति-हासिक सम्बन्ध परिस्थितियो से जोड़ते हुए श्री नामवरसिंह ने लिखा है, "राष्ट्रीय आन्दोलन का वह गांधीयुग था जिसमे व्यक्ति और समाज मे यथोचित घनिष्ट संबंध स्थापित हो सका था।"

"आलोचना" के इसी अंक मे श्री रांगेय राघव ने अपना यह मत प्रकट किया है कि "आचार्य शुक्ल ने इतिहास को शुद्ध ब्राह्मण दृष्टि-कोण से देखा है।"

"आलोचना" के एक ही अंक मे तीन ऐसे लेखो का छपना, जिनमें शुक्लजी के बारे मे एक ही मत का प्रतिपादन हो, आकस्मिक नही कहा जा सकता।

जुलाई सन् ५३ की "आलोचना" मे डा० धीरेन्द्र वर्मा ने आधुनिक हिन्दी साहित्य-मीमांसा पर अपना यह विचार प्रकट किया है: "हिन्दी का आधुनिक साहित्य-शास्त्र अथवा समालोचना-शास्त्र सम्बन्धी साहित्य अंग्रेजी के चार-छ चुने हुए ग्रन्थो का सार है, न इस विषय के संस्कृत अथवा रीतिकालीन साहित्य से ही इसका सम्बन्ध है और न वास्तविक हिन्दी ललित साहित्य से ही।"

अक्तूबर ५३ की "आलोचना" मे श्री शिवनाथ आचार्य शुक्ल की सीमाएँ बतलाते हुए कहते है, "जिनसे उनका मत विशेष प्रकार से मिलता है वे प्रायः ईसा की १९ वी सदी के सन्त और बीसवी सदी के आरम्भ के विचारक है। वे प्रायः मध्यवर्गीय और यत्र-तत्र मध्यकालीन संस्कृति के हिमायती है। आचार्य शुक्ल की रुचि भी ऐसी ही संस्कृति पर है, यथार्थ विवेचना यह कहने से न हिचकेगी।"

शुक्ल जी की विरासत का मूल्यांकन और उसकी रक्षा क्यो महत्व-पूर्ण है, यह दिखाने के लिये ऊपर के उद्धरण काफी है।

काव्य के बारे मे अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि और रस—ये चार सम्प्रदाय यहाँ प्रचलित रहे है। इनमे से शुक्लजी का सम्बन्ध रस सम्प्र-दाय से है। भरत से उन्होने रस-निष्पत्ति का सिद्धान्त लिया है, लेकिन संस्कृत के आचार्यों की रस-सम्बन्धी व्याख्याएँ उन्हे मान्य नही है।

रस को आनन्द-स्वरूप कहा गया है। शुक्लजी इस बात का विरोध नही करते कि रस आनन्द भी देता है। लेकिन उनका तर्क है कि रस आनन्द स्वरूप है तो काव्य का उद्देश्य क्या है? केवल आनन्द?

आनन्द को काव्य का चरम लक्ष्य मानने का अर्थ है, "मार्ग को ही अंतिम गंतव्य स्थान" मान लेना। (रस मीमांसा, पृ० २७)।

शुक्लजी का दूसरा तर्क यह है कि साहित्य मे क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि भाव अपना सहज रूप छोड़ नही देते, इसीलिये जब हम कोई दुःखान्त कथा पढ़ते है तो चित्त मे खिन्नता बनी रहती है। काव्य से मनुष्य के हृदय मे क्रोध, शोक आदि भाव जाग्रत होते है। इसलिये लोकोत्तर आनन्द कहने से इसकी व्याख्या नही होती। शुक्ल जी कहते है :

"मेरी समझ मे रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप 'आनन्द' शब्द से व्यक्त नही होता। 'लोकोत्तर', 'अनिर्वचनीय' आदि विशेषणो से न तो उसके वाचकत्व का परिहार होता है, न प्रयोग का प्रायश्चित होता है। क्या क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि आनन्द का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय मे प्रकट होते है, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते है, उसे कुछ भी लगा नही रहने देते ! इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्व को बहुत कुछ कम कर दिया है—उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।" (रस मीमांसा, पृ० १०१)।

मानव-जीवन मे भावो का प्रकृत रूप साहित्य मे आकर बदल नही जाता—शुक्लजी के तर्क की यह आधारशिला है। साहित्य के सम्बन्ध मे जितनी भाववादी (आइडियलिस्ट) मान्यताएँ है, वे साहित्य को जीवन से अलग करके देखती है। शुक्लजी की मौलिक मान्यता यह है कि साहित्य के भावो और जीवन के भावो मे बुनियादी अन्तर नहीं है। क्रोध, भय, जुगुप्सा और करुणा की अनुभूति आनन्दमय होती है, वह यह नही मानते। वह स्पष्ट कहते हैं कि इनकी अनुभूति दुःखात्मक होती है। जो लोग कहते है कि आनन्द मे भी आँसू आते हैं यानी करुणारस से सुख के आँसू आते है, दुख के नही, वे बात टालते है। करुणारस प्रधान नाटक के "दर्शक वास्तव मे दुःख ही का अनुभव करते है।" (उप० पृ० २७३)।

शुक्ल जी ने यहां पूर्व और पश्चिम दोनो ओर के भाववादी विचा-

रको को चुनौती दी है। साहित्य से आनन्द ही मिलता है, यह मानकर वे सब विचारक चले है। करुणरस या ट्रैजेडीसे भी क्यों आनन्द ही मिलता है, इस पर उन्होने अलग-अलग मत दिये है। लेकिन मूल अनुभूति आनन्द की है, इसमे उन्हे सन्देह नही। शुक्लजी जीवन और साहित्य के भावो मे बुनियादी अन्तर नहीं मानते, इसलिये वे रस को भी अलौकिक नहीं मानते। इतना ही नही, वह रस की स्थिति साहित्य से अलग लौकिक जीवन मे भी मानते है। यद्यपि जीवन के अनेक व्यापारो मे हम नित्य ही नीरसता और सरसता का अनुभव करते रहते हैं, फिर भी भाववादी विचारकों ने रस को साहित्य तक सीमित करके उसे जीवन मे अनुभूत रस से एक दम अलग कर दिया था। शुक्लजी की कसौटी यह है कि जव हम क्रोध या भय को "लोक से सम्बद्ध देखेंगे तब हम रसभूमि की सीमा के भीतर पहुँचे रहेगे।" (उप० पृ० २७३)। जीवन और साहित्य के परस्पर अटूट सम्बन्ध का यही परिणाम निकलेगा। रस लौकिक है, लौकिक जीवन मे भी रस है। लोक-जीवन की ठोस धरती पर पैर रोपकर आचार्य शुक्ल ने इस सिद्धान्त की घोषणा की कि लोक-हृदय मे लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।

इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी ने शब्द पुराने लिये है लेकिन उनकी स्थापनाएँ उनकी अपनी है, मौलिक और क्रान्तिकारी है। लोक-हृदय मे लीन होने की कसौटी रखकर उन्होने हर तरह की संकुचित व्यक्तिवादी और भाववादी धारणाओ से साहित्य को मुक्त करके उसे सामाजिक जीवन का एक अंग बना दिया है। इसलिये लोक-हृदय, लोक-मङ्गल या लोक-हित को दर-किनार करके साहित्यकार आगे नही बढ़ सकता। वह किसी भी तरह के भाव प्रकट करके, किसी भी तरह रस-निष्पत्ति करके अपना पीछा नहीं छुड़ा सकता। प्राचीन रसवादियों से शुक्लजी का यह महत्वपूर्ण मतभेद है।

भाववादी साहित्य-शास्त्रियो की एक विशेषता यह है कि वे भावों को उनके आधार से अलग करके देखते है। शुक्लजी भावों को उनके आधार से अलग करके नही देखते; वे साहित्य मे उनके आधार के

चित्रण को ही सबसे महत्वपूर्ण समझते हैं। वह कहते हैं: "भावो के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का सबसे पहला और सबसे आवश्यक काम है।" (उप० पृष्ठ १०९)।

रूढ़िवादी शास्त्र से यह उनका दूसरा महत्वपूर्ण मतभेद है। मानव-जीवन से अलग भाव की शाश्वत सत्ता नहीं है, इसीलिये मानव-जीवन का चित्रण ही मुख्य कर्तव्य है। यहाँ शुक्लजी पश्चिम के उन तमाम भाववादियों का खण्डन करते है जो मानव-जीवन से परे एक अव्यक्त सौन्दर्य की सत्ता मानते है जिसकी झलक ही कभी-कभी इस संसार मे दिखाई देती है। शुक्लजी वस्तुओ से अलग उनके गुणो की कल्पना नही करते।

इस लेख के आरम्भ मे दिये हुए उद्धरणो से पता चलता है कि वह जगत् को सत्य मानते है, मिथ्या नही। संसार उनके लिये अपार और अगाध रूप-समुद्र है। मनुष्य के भीतर भावो का विधान इसी वस्तुगत यथार्थ से हुआ है। मनुष्य के भाव उसकी निज की सृष्टि नहीं है, उनकी अपनी वस्तुगत सत्ता है। इसी तरह संसार के रूपो या व्यापारो से भिन्न सौन्दर्य, माधुर्य की स्थिति नहीं है। यहाँ प्लैटो के पग-चिन्हों पर चलने वाला योरप का तमाम भाववादी साहित्य-शास्त्र निरुत्तर हो जाता है क्योकि उसकी मूल स्थापना सौन्दर्य की निरपेक्ष सत्ता, रूपमय जगत् से परोक्ष सत्ता की स्वीकृति ही है। लेकिन शुक्लजी मानव-सत्ता के ज्ञान को भी लोकबद्ध मानते है। उनके लिये ज्ञान इस वास्तविक जगत् ही का होता है, किसी रहस्यमय आध्यात्मिक शक्ति का नही। बीसवी सदी में योरप की देखा-देखी भारत मे अध्यात्मवाद की बराबर चर्चा होने पर शुक्लजी ने चिढ़ कर कहा था, " 'अध्यात्म' शब्द की मेरी समझ मे काव्य या कला के क्षेत्र मे कही कोइ जरूरत नहीं है।" (रस मीमांसा, पृ० ६९)।

आचार्य शुक्ल रस-दशा को लोक-हृदय मे लीन होने की दशा कहते हैं। लेकिन यह कोई निष्क्रिय दशा नही है। भावो का काम है—मनुष्य को कर्मों में प्रवृत्त करना। वह उन लोगो का खण्डन करते हैं जो कहते

है कि काव्य व्यवहार का बाधक है, उससे अकर्मण्यता पैदा होती है। (उप० पृ० २२)। भाव की प्रतिष्ठा से "कर्म क्षेत्र का विस्तार बढ़ गया" है। (उप० पृ० १६४)। शुक्लजी ने भाव को कर्म से अलग करके देखा ही नहीं है। उनके अनुसार भाव उस चित्त-विकार को कहते है "जिसके अन्तर्गत विषय के स्वरूप की धारणा, सुखात्मक या दुःखात्मक अनुभूति का बोध और प्रवृत्ति के उत्तेजन से विशेष कर्मो की प्रेरणा पूर्वापर सम्बद्ध संघटित हो।" (उप० पृ० १६८)।

विषयका ज्ञान, सुख-दुख की अनुभूति और कर्म की प्रेरणा—ये सब एक साथ जुड़ी होती है। इन क्रियाओ के समुच्चय का नाम ही भाव है। प्राचीन साहित्य-शास्त्री स्थायी भावो को रस रूप मे प्रकट करके साहित्यिक प्रक्रिया का अन्त निष्क्रियता मे कर देते थे। शुक्लजी ने भाव की मौलिक व्याख्या करके निष्क्रिय रस-निष्पत्ति की जड़ काट दी है।

इधर हिन्दी मे कुछ कलावादियो ने ज्ञानहीन, कर्महीन आनन्द के आधार पर पूर्व और पश्चिम की पटरी बिठाने की कोशिश की है। हिन्दी मे "कला कला के लिये" इस घिसे-पिटे नारे को फिर बुलन्द करके इस सिद्धांत को वैज्ञानिक रूप देने का दावा करते है। शुक्लजी ने पश्चिम के इन कलावादियो का खण्डन किया है। वह थियोडोर वाट्स डंटन की तब प्रशंसा करते है, जब वह काव्य को शक्ति मानता है। वह उसकी निन्दा करते है, जब वह काव्य को शुद्ध कला मानता है। ( उप० पृ० ५७ )। योरप मे प्रत्यक्ष अनुभूति से काव्य की अनुभूति को अलग किया गया, कल्पना को एक स्वतन्त्र-शक्ति मानकर उसे दूसरी सृष्टि रचने वाला कहा गया। शुक्लजी इन धारणाओ का खण्डन करके कहते हैं कि "सारे वर्ण और सारी रूप-रेखाएँ जिनसे कल्पित मूर्ति-विधान होता है, बाह्य जगत् के प्रत्यक्ष बोध से प्राप्त हुई है।" (उप० पृ० २६६)। इस तरह "कल्पना" मनुष्य के वास्तविक जीवन को प्रतिबिम्बित करती है, वह वास्तविक जीवन से निरपेक्ष एक स्वतन्त्र संसार नही रचती।

पश्चिमी कलावादियो की तरह शुक्लजी साहित्य को मनुष्य की क्रीड़ा-वृत्ति (प्ले इम्पल्स) का परिणाम नही मानते। (उप० पृ० २६५)। फ्रायड

आदि पश्चिमी मनो-विश्लेषण के आचार्यों की काम-वासना और स्वप्न-सम्बन्धी स्थापनाओ को वह नहीं मानते। (उप० पृ० २६४)। हिन्दी मे अनेक आलोचक फ्रायड को पिण्डदान करके काव्य को अतृप्त काम-वासना की काल्पनिक पूर्ति बतलाते है। उनका विरोध करने के लिए शुक्ल जी के विचार आज भी अपनी प्रगतिशील भूमिका पूरी कर रहे है।

काव्य आत्मा है, काव्य एक अखंड तत्व या शक्ति है जिसकी गति अमर है, इस तरह की ब्रैडले, मैकेल आदि की भाववादी स्थापनाओ का उन्होने खण्डन किया है। (उप० पृ० २६६)। शुक्लजी ने यूरोप के अभिव्यंजनावादियो का विरोध किया जो काव्य के वास्तविक आधार को ही अस्वीकार करते थे (उप० पृ० ३३६)। "काव्य मे अभिव्यंजना-वाद" नाम के निबन्ध मे उन्होने विस्तार से इटली के भाववादी विचारक क्रोचे की मार्मिक समीक्षा की है। क्रोचे "कल्पना मे उठे हुए रूपो की प्रतीति मात्रको" ज्ञान कहता है। (चिन्तामणि दूसरा भाग, पृ० १६८)। शुक्लजी कहते है कि इस तरह ईसाई सन्तो को भी आध्यात्मिक आभास हुआ करते थे; लेकिन ये आभास, कल्पना की प्रतीतियाँ है, ज्ञान नही है। वह फ्रांसीसी विचारक बर्गसो की ऐसी ही स्थापना का खण्डन करते है कि कल्पना-रूपी स्वयं-प्रकाश ज्ञान हमे पारमार्थिक ज्ञान देता है। (उप० पृ० १९९)। क्रोचे की मुख्य कमजोरी यह है कि वह रूपो को संसार से अलग आत्मा की उपज मानता है। शुक्लजी कहते है कि ये सब बाह्य-जगत् से ही प्राप्त किये हुए रूप है। (पृ० २००)। क्रोचे के तमाम तर्कजाल का सारतत्व है—कला कला के लिये। शुक्लजी ने उसका वाग्जाल छिन्न-भिन्न करके यह सारतत्व प्रकट कर दिया है। भारतीय साहित्य की तमाम प्रगतिशील परंपराओं को अपना आधार बनाकर उन्होने क्रोचे और उसके आगत-अनागत पूर्वी-पश्चिमी अनुयाइयो को ललकारते हुए कहा था :

"काव्य को हम जीवन से अलग नही कर सकते। उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु मानते है। 'कला कला ही के लिये' वाली बात को जीर्ण होकर मरे बहुत दिन हुए। एक क्या कई क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते।" (उप० पृ० २०१)।

शुक्लजी ने पूर्व और पश्चिम दोनो ओर के भाववादी साहित्य-शास्त्रियो की इन धारणाओ को निर्मूल किया कि काव्य का उद्देश्य केवल आनन्द देना है, उसकी अनुभूति जीवन की अनुभूति से मूलतः भिन्न होती है, कल्पना संसार के रूपो से परे अपना एक नया संसार रचती है। उन्होने रस को काव्य की आत्मा माना लेकिन लोक-हृदय मे लीन होने को रस-दशा कहा, ज्ञान को वास्तविक जगत् की सत्ता पर निर्भर बताया, साहित्य-शास्त्र से अवैज्ञानिक रहस्यवादी कल्पनाओ को बाहर किया, काव्य के भाव-योग की परिणति लौकिक जीवन के कर्मयोग मे की। इस तरह उन्होने हिन्दी मे एक मौलिक साहित्य-शास्त्र की नीव डाली, जो प्राचीन रूढ़िवाद और पश्चिमी कलावाद से स्वतन्त्र ही नही है, उनका तीव्र विरोधी भी है। शुक्लजी की इन मान्यताओ के आधार पर ही आज की हिन्दी आलोचना प्रगति-पथ पर आगे बढ़ सकती है।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी मे पहली बार जमकर रीति ग्रन्थो का विरोध किया, साहित्य पर उनके घातक प्रभाव का उल्लेख किया। कुछ खास तरह के नायको, नायिकाओ, उद्दीपनो आदि के भीतर साहित्य को बाँध रखने के प्रयास का विरोध करते हुए उन्होने कहा—"जिस प्रकार बाह्य दृश्यो के अनन्त रूप है उसी प्रकार मनुष्य की मानसिक स्थिति के भी···विविध प्रवृत्तियो के मेल मे संघटित जो अनेक स्वाभाव के मनुष्य दिखाई पड़ते है उनके स्पष्टीकरण के लिये मानव-प्रकृति के अन्वीक्षण की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता उक्त चार प्रकार के ढांचे तैयार मिलने से पिछले कवियो मे न रह गई।" (रस मीमांसा पृष्ठ ९५)।

रीति ग्रन्थो के विरोध का मूल सूत्र यही है—मानव प्रकृति की विविधता। शुक्ल जी यथार्थवाद की भूमि से रीति ग्रन्थो की कृत्रिमता दिखाते हैं। उनका आग्रह साहित्य को यथार्थ जीवन के निकट लाने के लिये है, उसे सच्चा और स्वाभाविक बनाने के लिये है। जिस तरह १९ वी सदी के आरम्भ मे अंग्रेजी के रोमांटिक कवियो ने पुराने दरबारी साहित्य-शास्त्र का ताना-बाना नष्ट करके अंग्रेजी काव्य की आत्मा को मुक्त किया था,

उसी तरह आचार्य शुक्ल ने रीतिग्रन्थो के बंधन तोड़कर हिन्दी साहित्य की आत्मा को मुक्त किया। अन्तर केवल इतना है कि अंग्रेजी रीतिग्रंथो का ताना-बाना बहुत हल्का था और यहाँ के रीतिग्रन्थो का जाल उससे कहीं अधिक जटिल था, उधर अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवियो ने अपना आक्रमण बहुधा भाववाद को आधार बनाकर किया था, शुक्लजी ने यह काम मूलतः वस्तुवाद की ठोस धरती से किया।

शुक्ल जी ने दिखाया कि नायको की तरह नायिकाओ के भेद गिना कर साहित्य मे नारी-चरित्र के साथ खिलवाड़ किया गया। मौलिकता का ह्रास हुआ। लीक पीटने वालो की संख्या बढ़ती गई। कविता खुशामद और दिल बहलाव की चीज हो गई। शुक्ल जी ने अपने साहित्य-सिद्धांत हवा मे नही बनाये, न वे सिद्धान्त केवल निषेधात्मक हैं। उन्होने भारतवर्ष के चार महाकवियो—वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति और तुलसीदास—को अपना आदर्श और आधार बनाया। इनके प्रकृति वर्णन को, इनकी लोक-हृदय मे लीन होने की दशाको अपनी कसौटी मान कर वह हिन्दी-संकृत के आचार्यों के अवैज्ञानिक सिद्धान्तो और अस्वाभाविक कृतियो की आलोचना करते है। साहित्य मे सदियो से प्रतिष्ठित शृंगार रस को एक कोने मे ठेलते हुए उन्होने "भावमूर्ति भवभूति" के महामंत्र "एको रस· करुण एव" का फिर पाठ किया। भवभूति का जन्म ऐसे समय मे हुआ था जब देश मे चारो ओर दरबारी साहित्य का बोलबाला था। इसलिये उस महाकवि ने क्षुब्ध होकर कहा था—जो मेरे काव्य की उपेक्षा करते है, करे, वे भी कुछ जानते होगे लेकिन उनके लिये मैंने यह नहीं लिखा; काल अनन्त है, पृथ्वी विशाल है, मेरा भी कोई समानधर्मा कहीं होगा या आगे पैदा होगा।

आलोचना के क्षेत्र मे भवभूति के समानधर्मा आचार्य शुक्ल है, जैसे काव्य में उनके समानधर्मा महाकवि निराला है। शुक्लजी ने साहित्य मे वाल्मीकि और भवभूति की परम्परा को फिर जगाया। उन्होने मगल का विधान करने वाले दो भाव ठहराये, करुणा और प्रेम। इनमे भी भारतीय महाकाव्यो को देखते हुए करुणा को ही उन्होने बीज भाव

माना। प्रेम की अपेक्षा उन्होंने करुणा को और व्यापक बतलाया। जिससे प्रेम हो, उसी के लिए करुणा जागे, यह आवश्यक नही है। करुणा प्रेम से स्वतंत्र है। "हमारे यहाँ के कवियो ने लोक-रक्षा के विधान मे करुणा को ही बीजभाव रखा है।" (रस मीमांसा, पृष्ठ ७६)। शुक्ल जी की करुणा निष्क्रिय करुणा नही। करुणा के विरोधी भाव क्रोध से वह उसका समन्वय करते है। यह क्रोध व्यक्तिगत हो तो त्याज्य है। जो क्रोध लोक-रक्षा के लिये किया जाय, वह उचित और आवश्यक है। वह कहते है, "क्षमा जहां से श्रीहत हो जाती है वही से क्रोध में सौन्दर्य का आरम्भ होता है!" (चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १३७)। शिशुपालवध के लिये उद्यत कृष्ण और रावण-वध के लिये उद्यत राम की मूर्तियों का स्मरण करके वह सक्रिय प्रतिरोध के लिये ललकारते है। बाल्मीकि, व्यास, तुलसीदास आदि महाकवियो की इस सच्ची मानवता-वादी परम्परा के आधार पर उन्होने रीतिग्रन्थो मे प्रतिपादित करुणा का टाट उलट दिया। करुणा का नाम पुराना है, शुक्ल जी ने उसे एक नये अर्थ से दीप्त कर दिया है।

इसी तरह शुक्लजी ने वीर रस के स्थायी भाव उत्साह का क्षेत्र भी व्यापक कर दिया है। वैज्ञानिक अनुसंधान, अगम स्थानो की यात्रा, कुरीतियों के विरोध आदि मे उन्होने उत्साह की व्यापकता दिखा कर उसे सामन्ती युद्धो के तथाकथित वीर रस की परिधि से बाहर निकाल लिया है। कर्ममय जीवन मे उसका सर्वत्र प्रसार दिखाकर वह कहते है, "कर्ममात्र के सम्पादन मे जो तत्परतापूर्ण आनन्द देखा जाता है वह भी उत्साह ही कहा जाता है।" (उप० पृ० ६)। इस तरह शुक्लजी ने आनन्दमय क्रियाओ से उत्साह का सम्बन्ध जोड़ कर रीतिग्रन्थो के उत्साह का रूप बदल दिया है। हास्य रस मे आलस्य और निद्रा को जो संचारी भाव कहा गया था, उसे शुक्लजी की जिन्दादिली स्वीकार न कर सकी। "आलस्य के वर्णन को किसी भाव का संचारी मानना मेरी समझ मे ठीक नहीं।" (रस मीमांसा, पृ० २२५)।

शुक्लजी ने स्थायो भावो की जो नयी व्याख्या की है, उसका कारण

वही मानव-जीवन और मानव-स्वभाव की विविधता है, उनकी व्याख्या का आधार वही यथार्थ जीवन का प्रेम है। इसी कारण अलंकारवादियो से उनकी नही पटती। अलंकार वर्णन की प्रणालियां है, वर्ण्य विषय नही। (उप० पृ० ५०)। काव्य मे उन्हे प्रधानता नही दी जा सकती। जो "अलंकार" वर्ण्य वस्तु का निर्देश करे, उन्हे अलंकार मानने से उन्होने इन्कार किया। उन्होने अलकारो की यह व्याख्या की है, 'भावो का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओ के रूप, गुण और क्रिया का अधिकाधिक तीव्र अनुभव कराने मे कभी-कभी सहायक होनेवाली युक्ति ही अलंकार है।' (उप० पृ० ३५८)। अलंकारो का प्रयोग कैसे होना चाहिये, इसकी मिसाले, उन्होने कालिदास आदि कवियो से दी है। अलंकारो को प्रधानता देने पर किस तरह के चमत्कारवाद का जन्म होता है, उसकी मिसाले, उन्होने रीतिकालीन कवियों से दी है। बात कहने के लिये बात कहना, उक्ति-चमत्कार दिखाना, अलंकारो के प्रयोग से लोगो की वाह्-वाही लूटना शुक्ल जी को असह्य है। वह हिन्दी के साथ फारसी, उर्दू और अंग्रेजी मे भी इस चमत्कारवाद का विरोध करते है। प्रकृति-वर्णन मे रीतिकालीन कवियो ने जो प्रकृति को उद्दीपन मात्र बनाकर संकीर्णता दिखाई थी, उसकी तीव्र आलोचना शुक्लजी ने विस्तार से की है और वाल्मीकि और भवभूति के प्रकृति-वर्णन को आदर्श रूप मे पेश किया है।

शुक्लजी ने अलंकारो को प्रधानता देने वाले शास्त्र पर और चमत्कारो और उक्ति-सौन्दर्य के काव्य पर जो प्रहार किये है, वह नये भारत के सांस्कृतिक आंदोलन का एक महत्वपूर्ण अंग है। सदियो से सामन्त वर्ग ने साहित्य को अपने मनोरंजन का साधन बना रखा था, साहित्यकारो को अपना क्रीतदास कर रखा था। मध्यकाल के संतकवियो ने इस सामन्ती चाकरी के विरोध में लोक-साहित्य की नींव डाली थी। शुक्ल जी ने नये भारत की संस्कृति के उत्थान के लिये सन्त कवियो के जनवादी तत्व लिये, उनसे पहले के संस्कृत कवियो से करुणा और सक्रिय प्रतिरोध के भाव लिये। उर्दू, हिन्दी और अंग्रेजी तीनो ही मे चमत्कारवाद,

शुद्ध कलावाद का विरोध करके और साहित्य की लौकिकता का प्रतिपादन करके उन्होने भारतीय संस्कृति के जनवादी रूप को प्रतिष्ठित करने मे योग दिया। शुक्लजी का दृष्टिकोण सामंतविरोधी है, इसीलिये वह असहिष्णु है। उनकी आलोचना सामन्ती संस्कृति के प्रेमियो के लिये ललकार है। वह जनता का पक्ष लेकर एक नयी संस्कृति के लिये लड़ने वाली आलोचना है। साहित्य मे तटस्थता, जनता के प्रति उदासीनता, शुद्ध कला और शुद्ध कल्पना के हामियो को शुक्लजी का यह लड़ाकू रूप पसंद नही। लेकिन इसीलिये वह हमारे साहित्यिक विकास के लिये इतना महत्वपूर्ण है।

शुक्लजी ने यही न देखा था कि उनके समय का सामंती वर्ग निकम्मा है, उन्होने यह भी देखा था कि कई सौ वर्ष पहले अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी करके यह वर्ग कभी का जर्जर हो चुका था। यह वर्ग देश-रक्षा और वीरत्व का ठेका लेता था लेकिन देश की रक्षा करने मे असमर्थ रहा था। राजा भोज के बारे मे उन्होने लिखा है· "भोज ऐसे राजा बात बनाने वाले खुशामदियो को कवि कहकर लाखो का पुरस्कार देने लगे। उसी भोज की तारीफो के पुल बाँधने वाले—उसके प्रताप को सूर्य से भी बढ़कर बताने वाले चारो ओर से आते थे जिसके सामने ही विदेशी इस देश मे आकर भारतीयो की इतनी दुर्दशा करने लगे थे।" (रस मीमांसा, पृ० ६६)। रीतिकालीन कवि सामंतो के हाथ किस तरह बिक गये थे, उसका व्यग्यपूर्ण चित्र खीचते हुए शुक्लजी ने लिखा है :

"हिन्दी के रीतिकाल के कवि तो मानो राजाओ के यहां राजाओ की कामवासना उत्तेजित करने के लिये ही रखे जाते थे। एक प्रकार के कविराज तो रईसो के मुँह मे मकरध्वज का रस झोकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान मे मकरध्वज की पिचकारी देते थे। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुसखे भी कवि लोग तैयार करने लगे।" (उप० पृ० २८)। शुक्लजी का व्यंग्य तिलमिला देने वाला है क्योकि उनका दृष्टिकोण राजा-रईसो के प्रति सहानुभूति पर निर्भर नही है। वह सामन्ती

वर्ग के निठल्लेपन और उसके चाटुकार साहित्यिक वर्ग की मकरध्वज-वादी वास्तविकता प्रकट कर देता है।

सामन्तो के हाथो कविता की जो दुर्दशा हुई है, उसके बारे मे शुक्ल जी क्रोध के साथ लिखते है :—

"कविता पर अत्याचार भी बहुत कुछ हुआ है। लोभियो, स्वार्थियो और खुशामदियो ने उसका गला दबाकर कही अपात्रों की आसमान पर चढ़ाने वाली स्तुति करायी है, कही द्रव्य न देने वालो की निन्दा। ऐसी तुच्छ वृत्तिवालों का अपवित्र हृदय कविता के निवास के योग्य नही।" (रस मीमांसा, पृ० ५३)।

इस तरह वर्ग शब्द का प्रयोग न करके भी शुक्ल जी ने बहुत अच्छी तरह रीतिकालीन साहित्य का वर्ग-आधार स्पष्ट कर दिया है। वर्गों से परे उन्होने शुद्ध कलावाद के आधार पर इस साहित्य का सौन्दर्य-निरूपण नही किया। यही बात शुद्ध कलावादियो के लिये एकांगी सामाजशास्त्रीय दृष्टकोण है।

शुक्लजी सामन्ती संस्कृति के ही विरुद्ध नहीं है, वे यूरोप की बर्बर साम्राज्यवादी संस्कृति का भी विरोध करते हैं। मध्यकालीन आक्रमणकारियो से यूरोप के व्यापारियो की तुलना करते हुए शुक्लजी ने लिखा है : "पुरानी चढ़ाइयो की लूट-पाट का सिलसिला आक्रमणकाल तक ही, जो बहुत दीर्घ नही हुआ करता था, रहता था। पर यूरोप के अर्थोन्मादियों ने ऐसी गूढ़ जटिल और स्थायी प्रणालियाँ प्रतिष्ठित कीं जिनके द्वारा भूमंडल की न जाने कितनी जनता का रक्त चुसता चला जा रहा है—न जाने कितने देश चलते फिरते कंकालो के कारागार हो रहे है।' (चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १२९)।

निःसन्देह आचार्य शुक्ल का हृदय साम्राज्यवादी उत्पीड़न से व्यथित था। इस उत्पीड़न के प्रति वह तटस्थ नही थे। प्रेमचन्द के साथ उन्होने बिना किसी दुविधा के उसकी निन्दा की, उसका जघन्य राक्षसी रूप जनता के सामने प्रकट किया। कांग्रेसी नेता रूस के साम्राज्य-विरोधी साहित्य को सोद्देश्य ( टेन्डेशस ) कह कर रेलवे स्टालों से उसका बहि-

ष्कार करा रहे है। उन्हे चाहिये कि शुक्लजी की आलोचना से भी ऐसे तमाम सोद्देश्य स्थल निकाल दे क्योकि उनसे लोगो को याद आयेगा कि भारत आज भी कंकालो का कारागार है और इसका कारण कांग्रेस-राज है, कांग्रेसी नेताओ को उन्ही व्यापारियो से प्रीति है जिनकी आचार्य शुक्ल ने रोषपूर्ण शब्दो मे निन्दा की थी।

शुक्लजी ने साम्राज्यवादी उत्पीड़न का ही विरोध नही किया, उन्होने पश्चिमी देशो की संस्कृति के मूल सूत्र व्यक्तिवाद को भी पकड़ा और दिखाया कि किस तरह बीसवी सदी मे वह पतन की सीमा तक पहुँच गया है। उन्होने इसकी शुरूआत रिनैसैंस काल से ही—यानी पूँजीवाद के अभ्युदय-काल से ही—दिखलायी है। रोमांटिक आन्दोलन के बाद यानी उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे यह व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति कितनी विकृत हो गयी और साहित्य के साथ कैसा खिलवाड़ करने लगी, यह उन्होने इन्दौर वाले भाषण मे विस्तार के साथ दिखलाया है। इस तरह उन्होने अंग्रेजी साहित्य की भोड़ी और प्रगतिविरोधी प्रवृत्तियो की ओर से हिन्दी-प्रेमियो और लेखको को सावधान किया है। उन्होने यूरोप के अबुद्धिवादियो का मजाक बनाया है जो समझते है कि अच्छे काव्य न बनने का कारण बुद्धि का बढ़ जाना है।

इस तरह के अबुद्धिवादी हिन्दी साहित्य मे भी है। पच्छिमी साहित्य के निराशावादियो से हमे सावधान करते हुए शुक्लजी कहते है—"वर्त्तमान अंग्रेजी साहित्य-क्षेत्र मे उनके नैराश्य मे योग देने वाले है मि० हाउसमन और इलियट। ये लोग केवल समय-समय पर अपनी कुढ़न और बौखलाहट भर प्रकट कर देते है।" ( चिन्तामणि, दूसरा भाग पृ० २४७—४८ )।

शुक्लजी की चेतावनी कितनी सामयिक थी, यह इधर के नये कवियो और कुछ पुराने लेखको पर इलियट के प्रभाव को देखकर समझा जा सकता है। अज्ञेय और नये प्रयोगवादी कवियो की विषयवस्तु उनकी कुढ़न और बौखलाहट ही व्यक्त करती है। कविता के रूप को विकृत करने मे तो ये सब इलियट के भी गुरू है।

शुक्लजी को अंग्रेजी से चिढ़ न थी। अंग्रेजी साहित्य की हर बात का विरोध करना प्रतिक्रियावाद की निशानी है। आलोचना मे शुक्लजी को रिचार्ड्स का यह सिद्धान्त पसन्द था कि साहित्य की अनुभूति और प्रत्यक्ष जगत् की अनुभूति मे मौलिक अन्तर नहीं है। लेकिन उन्होंने रिचार्ड्स के और सिद्धान्तो का—जो पूँजीवादी मनोविज्ञान से प्रभावित है—समर्थन नहीं किया। यह देखकर प्रसन्नता होती है कि शुक्ल जी ने पश्चिमी आलोचको द्वारा प्रतिपादित शेक्सपियर की तटस्थता और निरपेक्षता का खंडन किया है। वाट्स डंटन का हवाला देते हुए उन्होंने कहा है कि हम हैमलेट के बहुत से भाषणो को अपनाते है जिसका अर्थ है कि उनमे शेक्सपियर की ही भावनाएं प्रकट हुई है। (रस मीमांसा पृ० ३१८)। शेली के लिये उन्होंने लिखा है—"अंग्रेज कवि शेली संसार मे फैले पाखंड, अन्याय और अत्याचार के दमन तथा मनुष्य-मनुष्य के बीच सीधे सरल प्रेमभाव के सर्वभौम संसार का स्वप्न देखने वाले कवि थे।" (उप, पृ० ६०)। इससे यह भी पता चलता है कि शुक्ल जी को अंग्रेजी कविता मे किस तरह के भाव विशेष प्रिय थे। वर्ड्सवर्थ की भी उन्होंने प्रशंसा की है।

शुक्लजी ने भारतीय सामन्तवाद और यूरोपीय पूँजीवाद की सांस्कृतिक धाराओ का जहाँ खण्डन किया है, वहाँ उन्होंने भारतीय पूँजीवाद की मूल सांस्कृतिक स्थापना—निष्क्रिय प्रतिरोध—का भी खण्डन किया है। पूंजीवादी नेता और लेखक गान्धीवाद की भारतीयता का डंका बहुत पीटते है लेकिन गान्धीवाद की मुख्य स्थापना—निष्क्रिय प्रतिरोध—रूसी लेखक तोल्स्तोय की देन है। यह स्थापना जनता के क्रान्तिकारी विरोध को रोकने मे और साम्राज्यवाद से समझौता करने के काम आती है इस लिये पूंजीवादी नेता और लेखक उसके विदेशी होने की बात नही करते। फिर भी गान्धीजी ने अपने विरोध-प्रदर्शन का ढंग तोल्स्तोय से लिया था, यह उन्ही की कृतियो से स्पष्ट है। वाल्मीकि, व्यास और तुलसीदास ने अपने चरितनायको को हमेशा अन्यायी और अत्याचारी का सक्रिय विरोध करते हुए, उसका नाश करते हुए दिखया। उस परम्परा के उपा-

सक शुक्लजी निष्क्रिय प्रतिरोध का समर्थन कैसे करते ? भारतीयता के गान्धीवादी ठेकेदार शुक्लजी के इन शब्दों पर ध्यान दें :

"कर्म सौन्दर्य के जिस स्वरूप पर मुग्ध होना मनुष्य के लिये स्वाभाविक है और जिसका विधान कवि-परंपरा बराबर करती चली आ रही है, उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करके और कर्म सौन्दर्य के एक दूसरे पक्ष से ही—केवल प्रेम और भ्रातृभाव के प्रदर्शन और आचरण में ही—काव्य का उत्कर्ष मानने का जो एक नया फैशन टाल्सटायके समय से चला है वह एकदेशीय है। दीन और असहाय जनता को निरंतर पीड़ा पहुँचाते चले जाने वाले क्रूर आततायियों को उपदेश देने, उनसे दया की भिक्षा मांगने और प्रेम जताने तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा करने में ही कर्त्तव्य की सीमा नहीं मानी जा सकती, कर्मक्षेत्र को एकमात्र सौंदर्य नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्यकला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौंदर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।" (रस मीमांसा, पृ० ६४-६५)।

लोक के प्रति करुणा से प्रेरित होकर रावण पर चढ़ाई करने वाले राम के "कालाग्नि सदृश क्रोध" का उल्लेख करने के बाद शुक्लजी आगे कहते हैं : "काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेम भाव की कोमल व्यंजना में नहीं माना जा सकता जैसा कि टालस्टाय के अनुयायी या कुछ कलावादी कहते हैं। क्रोध आदि उग्र और प्रचंड भावों के विधान में भी, यदि उनकी तह में करुण भाव अव्यक्त रूप में स्थित हो, पूर्ण सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है।" (उप० पृ० ६८)।

शेली के काव्य "दि रिवोल्ट ऑफ इस्लाम" का हवाला देते हुए शुक्लजी इसी प्रसंग में कहते हैं : "स्वतंत्रता के उन्मत्त उपासक, घोर परिवर्तनवादी शेली के महाकाव्य "दि रिवोल्ट आफ इस्लाम" के नायक-नायिका अत्याचारियों के पास जाकर उपदेश देने वाले, गिड़गिड़ाने

वाले, अपनी साधुता, सहन-शीलता और शांत वृत्तिका चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन करने वाले नहीं है। वे उत्साह की उमंग मे प्रचंड वेग से युद्ध क्षेत्र मे बढ़ने वाले, पाखंड, लोक-पीड़ा और अत्याचार देख पुनीत क्रोध के सात्त्विक तेज से तमतमाने वाले, या स्वार्थवश, आततातियो की सेवा स्वीकार करने वालो के प्रति उपेक्षा प्रकट करने वाले है ।" (उप० पृ० ६८ ६९) ।

शुक्लजी के इन वाक्यो से प्रकट होगा कि गान्धीवाद राजनीति ही मे नही, साहित्य के लिये भी कितना हानिकर है । यही कारण है कि निष्क्रिय प्रतिरोध को लेकर हिंदी मे एक अच्छी कविता, एक अच्छी कहानी नही लिखी गई। जहॉ के लोग राम और कृष्ण के उपासक हो, जिन्होने १८५७ मे आततायी अंग्रेजो के रणभूमि मे छक्के छुटा दिये हो, उनमे निष्क्रिय प्रतिरोध की जड़े कितनी गहरी होगी ? सर्वश्रेष्ठ गान्धीवादी साहित्यकार स्वर्गीया सुभद्राकुमारी चौहान की सबसे लोकप्रिय कविता थी झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई पर !

प्रेम द्वारा पाप का नाश किया जाय, इस धारणा को तोल्स्तोय के उपदेशो की प्रतिध्वनि बतलाते हुए शुक्लजी ने लिखा है : "विचारने की बात है कि दूसरो की निरन्तर बढती हुई पीड़ा को देख-देख अत्याचारियो की शुश्रूषा और उनके साथ प्रेम का व्यवहार करते चले जाने मे अधिक सौन्दर्य का विकास है, कि करुणा से आर्द्र और फिर रोष से प्रज्वलित होकर पीड़ितो और अत्याचारियो के बीच उत्साह पूर्वक खड़े होने तथा अपने ऊपर अत्याचार-पीड़ा सहने और प्राण देने के लिए तत्पर होने मे। हम तो करुणा और क्रोध के इसी सामंजस्य मे मनुष्य के कर्म-सौंदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति और काव्य की चरम सफलता मानते है।" (चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ५३) ।

शुक्लजी ने ये शब्द "काव्य मे रहस्यवाद" नाम के निबन्ध मे लिखे थे। बीसवी सदी के भारतीय रहस्यवाद मे वही निष्क्रिय प्रतिरोध भावना छिपी हुई थी। इसी को अध्यात्मवाद भी कहा जाता था। शुक्लजी ने इस रहस्यवाद का रहस्य प्रकट करके देश-सेवा का काम किया था। इसी

"अध्यात्म" को उन्होने साहित्य संसार से निकाल देने की बात कही थी। आज भी जनता के बढ़ते हुए असन्तोष से भय खाकर पूँजीवादी लेखक "रूस" और "भौतिकवाद" को कोसते हुए इस अध्यात्म का स्मरण करते हैं। यह अध्यात्म और निष्क्रिय प्रतिरोध साम्राज्यवाद और भारत के वर्तमान शासक-वर्ग के लिये बहुत ही लाभकारी हैं। वह साम्राज्यवादी हितो और उससे जुड़े देशी निहित स्वार्थों की रक्षा करने मे सहायता करता हैं। इसीलिये शुक्लजी द्वारा रहस्यवाद और इस अध्यात्म की, तोल्स्तोय-पंथ की, आलोचना का महत्व आज भी कम नहीं हुआ।

शुक्लजी कहते है—"जब जीवन-प्रवाह क्षीण और अशक्त पड़ने लगता है और गहरी विषमता आने लगती है तब नयी शक्ति का प्रवाह फूट पड़ता है जिसके वेग की उच्छृङ्खलता के सामने बहुत-कुछ ध्वंस भी होता है। पर यह उच्छृङ्खल वेग जीवन या जगत् का नित्य स्वरूप नहीं है।" (रस मीमांसा, पृ० १६)।

ध्वंस कार्य कुछ समय के लिये ही आवश्यक होता है, उसे जीवन का नित्य नियम होना ही न चाहिए। लेकिन वह क्यो अनिवार्य हो जाता है, यह शुक्लजी ने बहुत स्पष्ट बता दिया हैं। ध्वंस जब नये निर्माण के लिये आवश्यक होता है, तब उसकी भीषणता भी सुन्दर होती है। शुक्ल जी कहते है · "लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द-ज्योति भीषण शक्ति मे परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोक-मंगल और लोक-रंजन के रूप मे अपना प्रकाश करती है"। (उप० पृ० ५६)।

शुक्लजी उन्ही कवियों को पूर्ण कवि मानते है जो "पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन मे तत्पर शक्ति के संचरण मे भी—उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गतिविधि मे भी—पूरी रमणीयता देखते है।" (उप० पृ० ५३)।

निश्चय ही शुक्ल जी की इस क्रान्तिकारी विरासत की ज्यादा जानकारी होनी चाहिए, और तत्परता से उसकी रक्षा होनी चाहिए।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकालीन साहित्य-शास्त्र का विरोध

किया, साहित्य को धनी-वर्ग का सेवक बनने से रोका, उन्होंने सामन्ती संस्कृति और साम्राज्यवादी उत्पीड़न का सच्चा रूप दिखाया, पश्चिमी व्यक्तिवाद और निराशावाद से बचने की चेतावनी दी, निष्क्रिय प्रतिरोध, तोल्स्तोय पंथ, रहस्यवाद और अध्यात्म की पुकार का रहस्य प्रकट किया और अन्याय और अत्याचार के दमन मे सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की। इस तरह उन्होंने साहित्यकार को जनता का पक्ष लेना सिखाया और नये साहित्य मे अपना ऐतिहासिक भूमिका पूरी की।

शुक्लजी का दार्शनिक दृष्टिकोण मूलतः वस्तुवादी है। यह जगत् सत्य है। शुक्लजी ने संसार को कही भी मिथ्या नही कहा। वह उसे रूप-समुद्र कहते है। मनुष्य को अपनी सत्ता का ज्ञान भी लौकिक जीवन से होता है। इस तरह ज्ञान का आधार अलौकिक नहीं है। शुक्लजी उसकी अलौकिकता का खण्डन करते है, यह उनके ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धांत का ही परिणाम है। "अत्मबोध और जगद्बोध के बीच ज्ञानियो ने गहरी खाई खोदी, पर हृदय ने कभी उसकी परवाह न की।" (चितामणि, पहला भाग पृ० २१३)। प्रसादजी की तरह शुक्लजी भी चेतना और प्रकृति मे मौलिक भेद नही करते। प्रसादजी ने लिखा था—"एक तत्व ही की प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन।" शुक्लजी के लिये सत्ता एक है। "सम्पूर्ण सत्ता, क्या भौतिक क्या आध्यात्मिक, एक ही परम सत्ता या परम भाव के अन्तर्गत है।" (रस मीमांसा, पृ० ११८-११९)।

फिर भी शुक्लजी का दृष्टिकोण सुसंगत रूप से भौतिकवादी नही है। वह यह स्पष्ट नहीं कहते कि विश्व की एकता उसकी भौतिकता मे है। वह एक ओर संसार की भौतिकता पर जोर देते है और ज्ञान को भौतिक जीवन से ही उत्पन्न मानते है; दूसरी ओर वह विश्वआत्मा और भौतिक जगत् मे व्यक्त होने वाले ब्रह्म की बात भी करते है। उनके विचार मे यह एक असंगति है। फिर भी यह विश्व-आत्मवाद उनके साहित्य-शास्त्र की मूलधारा नहीं है, यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है। इसीलिये उनके दार्शनिक दृष्टिकोण को मूलतः वस्तुवादी कहना उचित है।

शुक्लजी की तर्क-पद्धति द्वन्द्वात्मक है। वह वस्तुओ और विचारो

की गतिशीलता पर जोर देते है, पदार्थों के लिये वह बहुधा "व्यापार" (प्रोसेस) शब्द का इसीलिये प्रयोग करते है। सौन्दर्य और मंगल को वह गत्यात्मक कहते है और यह सिद्धान्त सामने रखते है कि "गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है।' (चितामणि. दूसरा भाग पृ० ५८)।

शुक्लजी की द्वन्द्व-पद्धति विरोधी वस्तुओ की एकता तुरन्त पहचान लेती है। चितामणि, पहला भाग, का पहला वाक्य ही यह है : "अनुभूति के द्वन्द्व ही से प्राणी के जीवन का आरम्भ होता है।"

इस मूल अनुभूति मे सुख और दुख जुड़े रहते है। भावो की विवेचना मे करुणा और क्रोध, भीषणता और माधुर्य आदि का संयोग दिखाने मे उन्हे कठिनाई नही होती। वह जड़वादी तर्क-शास्त्रियो की तरह यह नही कहते कि राम ने रावण पर शस्त्र उठाया, इसीलिये हिंसा हो गयी; वह राम के सात्विक क्रोध के मूल मे लोक-रंजन की कामना का उद्घाटन करते है। साहित्य मे केवल असाधारणता की खोज को निंद्य ठहराते हुए वह साधारण और असाधारण की एकता दिखाते है। "साधारण के बीच मे ही असाधारण की अभिव्यक्ति हो सकती है।" (रस मीमांसा, पृ० १०३)।

शुक्लजी सामन्ती समाज-व्यवस्था के समर्थक नही है। राजाओं के हाथो काव्य की जो दुर्दशा हुई, उसे उन्होने उभारकर जनता के सामने रखा। वह भक्ति आन्दोलन के प्रबल समर्थक थे लेकिन उन्होने साहित्य मे दासभाव का समर्थन नही किया। वर्णों के हिसाब से मानव-धर्म लिया जाय तो वह क्षात्र-धर्म के समर्थक है। "कर्म-सौंदर्य की योजना क्षात्र-जीवन मे जितने रूप से सम्भव है, उतने रूपो मे और किसी जीवन मे नही।....मनुष्य की सम्पूर्ण रागात्मिका वृत्तियो को उत्कर्ष पर ले जाने और विशुद्ध करने की सामर्थ्य उसमे है।" (चितामणि, पहला भाग, पृ० ४३)।

वह काव्य के भावयोग और लौकिक जीवन के कर्मयोग की एकता मानते है, इसलिये निठल्ले, अवकाशभोगी, पैसा-कमाऊ वर्गों के लिए वह कविता की आवश्यकता नहीं समझते। ऐसे लोग कविता को व्यर्थ

का व्यापार समझते है। "अर्थागम से हृष्ट, 'स्वकार्य साधयेत्' के अनुयायी काशी के ज्योतिषी और कर्मकाण्डी, कानपुर के बनिये और दलाल, कचहरियो के अमले और मुख्तार, ऐसो को [कवियो को] कार्य-भ्रंशकारी मूर्ख, निरे निठल्ले या खल्त-उल हवास समझ सकते है।" (रस मीमांसा, पृ० २२)।

इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी का सामाजिक दृष्टिकोण धनीवर्ग के हितो को देखकर नहीं बना, उसका आधार साधारण जनता का जीवन है। धनी वर्ग के देश-प्रेम का मखौल उड़ाते हुए शुक्लजी कहते है, "देश-प्रेम की दुहाई देने वालो मे से कितने अपने किसी थके-माँदे भाई के फटे पुराने कपड़ो पर रीझकर—या कम से कम न खीझकर—बिना मन मैला किये कमरे की फर्श भी मैली होने देगे? मोटे आदमियो! तुम जरा सा दुबले हो जाते—अपने अंदेशो से ही—तो न जाने कितनी ठटरियो पर मांस चढ़ जाता।" (उप० पृ० १५३)। भारतीयता के ठेकेदार बनने वाले कांग्रेसी नेता इन शब्दो की सचाई आज भी सिद्ध कर रहे है।

शुक्लजी हिन्दू-मुसलमानो की कट्टरता के विरोधी थे। इन दोनो की धार्मिक कट्टरता का विरोध करने के कारण ही उन्होने कबीर की प्रशंसा की थी। जायसी के सिलसिले मे उन्होने लिखा था—"सौ वर्ष पहले कबीरदास हिंदू और मुसलमान दोनो के कट्टरपन को फटकार चुके थे। पण्डितो और मुल्लाओ की तो नहीं कह सकते, पर साधारण जनता 'राम और रहीम' की एकता मान चुकी थी।"

शुक्लजी देशभक्त लेखक थे, वह साहित्य मे देशभक्ति के हामी थे। उन्होने देश के मनुष्यो और उसकी प्रकृति को देखने, जानने-पहचानने और प्यार करने पर जोर दिया था। अंग्रेजी मे जिसे कौस्मौपालिटनिज्म कहा जाता है, यानी हम तो विश्व-नागरिक है, हमे देश प्रेम और राष्ट्रीय स्वाधीनता से क्या मतलब, उसका शुक्लजी ने विरोध किया है। यह विश्ववाद साम्राज्यवादियो के प्रभुत्व का साधन है। जनता की देशभक्ति, अपनी जातीय संस्कृति से उसका प्रेम उनके साम्राज्यवादी प्रभुत्व

मे वाधक होता है। इसलिये वे विश्ववाद का प्रचार करते है। शुक्लजी ने लिखा था :

"इसी देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से सच्ची देशभक्ति या देश प्रेम की स्थापना होती है। जो हृदय संसार की जातियो के बीच अपनी जाति की स्वतन्त्र सत्ता को अनुभव नही कर सकता वह देश प्रेम का दावा नही कर सकता।" (रस मीमांसा, पृ० १५१)।

देशभक्ति, जातीयता और जनहित के आधार पर बना हुआ शुक्ल जी का दृष्टिकोण साहित्य के कलात्मक सौन्दर्य का पूरा हामी है। "सुन्दर और कुरूप–काव्य मे बस ये ही दो पक्ष है।" (उप० पृ० ३२)। मंगल को वह सुन्दर का ही दूसरा रूप मानते है। अमंगल, असुन्दर ही हो सकता है, सुन्दर नही। "कविता मे कही गई बात चित्र-रूप मे हमारे सामने आती है", कलात्मक सौन्दर्य का आधार साहित्य की यही मूर्तिमत्ता है। (उप० पृ० ४१)। इसी कारण वह उक्तिचातुरी को ही काव्य नहीं मानते। "काव्य मे अर्थग्रहण मात्र से काम नही चलता, बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है।" (उप० पृ० १६७)। इसी आधार पर अंग्रेजी के अनेक पतन-शील कवियो की उन्होने तीखी आलोचना की है जो मौलिकता की खोज मे कलात्मक सौन्दर्य के मूल नियम की अवहेलना करते थे। रहस्यवादी कविताओ मे मूर्ति की अस्पष्टता के लिये उन्होने अनेक हिन्दी कवियों की भी आलोचना की है। प्राचीन कवियो के चित्र-सौन्दर्य के लिए उन्होने उनकी प्रशंसा की। "काव्य मे बिम्ब-स्थापना (इमेजरी) प्रधान वस्तु है। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियो मे यह पूर्णता को प्राप्त है।" (उप० पृ०, ३५८)। जो लोग शुक्लजी के दृष्टिकोण को एकांगी समाज शास्त्रीय कहते है, वे वास्तव मे किसी और तरह का सौन्दर्य चाहते है।

शुक्लजी कलात्मक सौन्दर्य के हामी है, इसलिए वह उपदेश देने के विरुद्ध है। सूर और तुलसी को कवि न मानकर धर्मोपदेशक मानने वालो से वह कहते है, "सूर और तुलसी को हमे उपदेशक के रूप मे न देखना चाहिए। उपदेशवाद या तर्क गोस्वामीजी के अनुसार 'वाक्यज्ञान'

मात्र कराते है, जिससे जीव-कल्याण का लक्ष्य पूरा नही होता।" (चिंतामणि. पहला भाग. पृ० २०१)।

शुक्लजी के निधन पर निरालाजी ने लिखा था :

"अमानिशा थी समालोचना के अंबर पर
उदित हुए जब तुम हिन्दी के दिव्य कलाधर।"

चन्द्रमा की चौदह कलाएँ कैसे एक के बाद एक आयी और चन्द्र को पूर्णता देती गयी, इसका वर्णन करते हुए निरालाजी ने कहा है कि द्वितीया आयी—"किन्तु निशाचर संध्या के अंतर मे दहले।" वास्तविकता भी यही है कि निशाचरो ने उन्हे न तो तब क्षमा किया और न अब। शुक्लजी सामन्ती साहित्य-शास्त्र का टाट उलटकर हिंदी का अपना मौलिक शास्त्र रच रहे थे। फिर निहित स्वार्थों के चाकर उनका यह कार्य कैसे सहन करते? आज भी एक वर्ग उनके सिद्धान्तो और साहित्य की आलोचना के बारे मे जनता मे भ्रम फैलाता है। शुक्लजी ने जो कुछ लिखा, वह उनके गहरे अध्ययन और चिन्तन का परिणाम था। उनके हृदय मे जनता और देश के लिए अगाध प्रेम था, इसीलिये वह नये सिरे से और निर्भीक होकर साहित्य का मूल्यांकन कर सके, नये सिद्धान्त स्थिर कर सके। आज उनके वस्तुवादी दृष्टिकोण, द्वन्द्वात्मक तर्क-पद्धति, वाल्मीकि-भवभूति-तुलसीदास के मूल्यांकन और काव्य मे कलात्मक सौन्दर्य के महत्व के सिद्धान्त को आत्मसात् करके ही हिन्दी आलोचना और हिन्दी साहित्य आगे बढ़ सकते है। आजकल शाश्वत साहित्य रचने, देश की समस्याओ को भुलाकर निर्लिप्त भाव से सौन्दर्य या अध्यात्म की उपासना करने की बाते अक्सर सुनने को मिलती है। शुक्लजी सामाजिक प्रश्नो की ओर साहित्यकारो की उदासीनता का घोर विरोध करते है। "जाने दो, इससे क्या मतलब, चलो अपना काम देखे। यह महा, भयानक रोग है। इससे मनुष्य आधा मर जाता है।" (रस मीमांसा, पृ० २४)। साहित्य मे तटस्थता की बात करने वाले ऐसे ही

अर्धमृत लोग है। शुक्लजी साहित्य से राजनीति को बाहर रखने की बात नहीं करते। राजनीति बाहर न रखी जाय, साहित्य में वह आये, लेकिन साहित्य के अपने गुणों की रक्षा करते हुए।

राजनीति और साहित्य के सम्बन्ध पर शुक्लजी के ये वाक्य मनन करने योग्य है।

"यदि किसी जन-समुदाय के बीच कहा जाय कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रति वर्ष उठा ले जाता है तो संभव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्र्य और अकालका भीषण और करुण दृश्य दिखाया जाय, पेट की ज्वाला से जले हुए कंकाल कल्पना के संमुख रखे जांय और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त क्रंदन सुनाया जाय तो बहुत से लोग क्रोध और करुणा से व्याकुल हो उठेंगे और इस दशा को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेंगे। पहले ढंग की बात कहना राजनीतिज्ञ या अर्थ-शास्त्री का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य भावना में लाना कवि का।" (उप० पृ० २२)।

हिन्दी में अब जनता के वास्तविक जीवन को प्रतिबिम्बित करने वाला, उसकी आशाओं और संघर्षों को मूर्त रूप देने वाला साहित्य अधिकाधिक रचा जा रहा है। यही कारण है कि कुछ लोग शुक्लजी की विरासत मिटाने पर तुल गये हैं क्योंकि वह विरासत नये साहित्य के निर्माण के लिए निरंतर प्रेरणा देती है। इंदौर वाला भाषण समाप्त करते हुए शुक्ल जी ने उन दिनों का स्मरण किया था जब "थोड़े से लोग किसी भव्य भविष्य की आशा बांधे हिन्दी सेवा कर रहे थे।" हिन्दी ने जितनी प्रगति की थी, उस पर बधाई देते हुए उन्होंने और भी उज्ज्वल भविष्य के लिये बढ़ने का आह्वान करते हुए कहा था—

"जिन आँखों से मैंने इतना देखा उन्हीं से अब अपने हिंदी साहित्य को विश्व की नित्य और अखण्ड विभूति से शक्ति, सौन्दर्य और मंगल

का प्रभूत सञ्चय करके एक स्वतन्त्र 'नवनिधि' के रूप मे प्रतिष्ठित देखना चाहता हूँ ।"

निःसन्देह जनवादी और स्वाधीन भारत मे सुखी और शिक्षित जनता के समृद्ध जीवन के आधार पर नये जन-साहित्य के निर्माण द्वारा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह पुनीत मनोकामना पूरी होगी ।

---

# सन्त-साहित्य में योगियों की भूमिका

सन्त-साहित्य हिन्दी-भाषी जनता के नवजागरण का साहित्य है। वह उसके जातीय उत्थान का साहित्य है। आचार्य शुक्ल ने निर्गुण और सगुण ब्रह्म के उपासकों को समान रूप से भक्तिकाल मे लिया है। यह उचित है क्योकि निर्गुण और सगुण ब्रह्म के उपासकों मे जितनी समानताएँ हैं, उतनी असमानताएँ नहीं। प्रेम की सामान्य भूमि पर उनकी एकता देखी जा सकती है। जो सगुण ब्रह्म के उपासक है, वे निर्गुण के विरोधी नहीं है, जो निर्गुण के उपासक है, वे कभी-कभी उसे निर्गुण-सगुण दोनो से ही परे समझते है। इसलिए यह समझना कि संत वही है जो निर्गुणवादी है, सही नहीं है; न यह समझना ठीक है कि भक्त वही है जो सगुणोपासक है। सगुण और निर्गुण उपासकों को एक ही भक्तिधारा का कवि मानकर शुक्लजी ने साहित्यिक आन्दोलनो को परखने मे अपनी सूझ-बूझ का परिचय दिया है।

कुछ विद्वानो का विचार है कि सन्त-साहित्य पर बौद्ध सिद्धों और नाथपंथी योगियो का विशेष प्रभाव पड़ा है, ये सिद्ध और योगी वैष्णव मत के विरुद्ध थे; इन सिद्धो और योगियो की एक विशेष क्रान्तिकारी भूमिका रही है जो निर्गुणवादी सन्तो मे अच्छी तरह पल्लवित हुई। इस

विचारधारा के दो स्वाभाविक परिणाम निकलते है : (१) सन्त-साहित्य कोई मौलिक आन्दोलन नहीं है वरन् सिद्धो और योगियो के चिन्तन का ही विकास है; (२) सिद्धो और योगियो की भूमिका क्रान्तिकारी थी, इसलिये उनके अनुयायी निर्गुणवादी सन्तो का साहित्य क्रान्तिकारी है और राम और कृष्ण के उपासक कवियो का साहित्य सापेक्षरूप मे प्रीतक्रियावादी।

इस संबन्ध मे शुक्लजी का मत विचारणीय है। शुक्लजी की स्थापनाएँ इस प्रकार है।

बौद्ध धर्म के विकृत रूप वज्रयान का प्रभाव भारत के पूर्वी भागों मे बहुत दिनो तक कायम रहा। "इन बौद्ध तांत्रिको के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुँचा।"* ये लोग सिद्ध कहलाते थे और अलौकिक शक्ति संपन्न समझे जाते थे। "वज्रयानियो की योग-तन्त्र-साधनाओ मे मद्य तथा स्त्रियो का—विशेषतः डोमिनी, रजकी आदि का—अबाध सेवन एक आवश्यक अंग था।" वज्रयानियो के अनुसार निर्वाण का सुख रमणी-प्रसंग के सुख के समान था। मद्यपान और स्त्री-प्रसंग के कारण, मुसल्मानो के आक्रमण के समय, देश के पूरबी भागो मे "धर्म के नाम पर बहुत दुराचार फैला था।" रहस्यवादियो की तरह ये सिद्ध अपनी बाते बहुधा सांकेतिक ढंग से या उलटबासियो के रूप मे कहते थे। ये शास्त्रो का विरोध करते थे लेकिन उसके बदले अंतर्मुखसाधना पर जोर देते थे।

कौल, कापालिक, गोरखपंथी आदि मतो का वज्रयान से गहरा संबन्ध है। गोरख-मत या नाथपंथ सिद्धो के मत से एक हद तक भिन्न है। शुक्लजी के अनुसार नाथ-पंथियो ने "वज्रयानियो के अश्लील और वीभत्स विधानो से अपने को अलग रखा" यद्यपि शिव-शक्ति की भावना के कारण कुछ शृंगारमयी वाणी भी उनमे मिलती है। सिद्धो का प्रचार-क्षेत्र पूरब था, नाथपंथियों का पच्छिम।

नाथपंथियो ने हठयोग का सहारा लिया। उनका उद्देश्य ईश्वर-

* देखिये हिन्दी साहित्य का इतिहास

प्राप्ति था। मूर्ति-पूजा, तीर्थाटन, वेद शास्त्र के अध्ययन को वे अनावश्यक समझते थे। वे जाति-पांति के विरोधी थे। वे कान में बड़े-बड़े छेद करके कुंडल पहनते थे, इसलिये कनफटे कहलाते थे। इनमें बहुत से मुसल्मान फकीर भी शामिल हुए।

सिद्धों और नाथपंथी योगियों के चिंतन का विवेचन करने के बाद शुक्लजी कहते हैं: "उनकी रचनाएं तांत्रिक विधान, योगसाधना, आत्मनिग्रह, श्वास-निरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अंतर्मुख साधना के महत्व इत्यादि की सांम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं; जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से इनका कोई संबन्ध नहीं।" और भी—"उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई संबन्ध नहीं।"

शुक्ल जी की स्थापनाओं का निष्कर्ष यह है कि सिद्धों और योगियों की रचनाएं जीवन से पराङ्मुख थीं; उनमें या तो वामाचार था या हठयोग, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियां नहीं। इनका प्रभाव निर्गुणवादी संतों पर पड़ा, यह वह मानते हैं लेकिन यह भी कहते हैं कि यह प्रभाव वेदान्त के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद, वैष्णवों के अहिंसावाद आदि से घुलमिल कर विकसित हुआ।

इसका यह अर्थ नहीं है कि शुक्लजी धार्मिक कर्मकाण्ड के उपासक थे। उनका कहना है कि "हिंदी साहित्य के आदिकाल में कर्म तो अर्थ-शून्य विधि-विधान, तीर्थाटन और पर्वस्नान इत्यादि के संकुचित घेरे में पहले से बहुत कुछ बद्ध चला आता था।" इससे स्पष्ट है कि शुक्लजी इस तरह के कर्मकाण्डों के विरोधी थे। वे योगियों आदि का विरोध इसलिये नहीं करते कि वे कर्मकाण्डों का मजाक उड़ाते थे वरन् इसलिये कि "जनता की दृष्टि को आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण-विधायक सच्चे कर्मों की ओर ले जाने के बदले उसे वे कर्मक्षेत्र से ही हटाने में लग गए थे।' शुक्लजी उनका विरोध इसलिये करते थे कि "अपनी रहस्यदर्शिता की धाक जमाने के लिये वे बाह्य जगत् की बातें छोड़, घट के भीतर के कोठों की बात बताया करते थे।" बाह्य जगत् की बातें

छोड़—यह टुकड़ा ध्यान देने योग्य है। शुक्लजी साहित्य मे कल्पित अनुभूतियो के पक्षपाती नही है; वह साहित्य मे इस बाह्य जगत् के मनुष्य और उसकी अनुभूतियो का चित्रण चाहते है। शुक्लजी योगियो का विरोध इसलिये करते है कि उनकी बानियो का साधारण जनता पर यही प्रभाव पड़ सकता था कि "वह सच्चे शुभ कर्मों के मार्ग से तथा भगवद्‌गीता की स्वाभाविक हृदय-पद्धति से हटकर अनेक प्रकार के मंत्र, तंत्र और उपचारो मे जा उलझे और उसका विश्वास अलौकिक सिद्धियो पर जा जमे।" शुक्लजी उनका विरोध इसलिये करते थे कि "सिद्ध और योगी निरंतर अभ्यास द्वारा अपने शरीर को विलक्षण बना लेते थे। खोपड़ी पर चोट खा खाकर उसे पक्की करना उनके लिये कोई कठिन बात न थी।"

इस तरह की "साधना" से मानव-कल्याण असम्भव था। यह एक तरह के कर्मकाण्ड का खंडन करके उसके बदले उससे भी घटिया कर्म-काण्ड स्थापित करना था। यह योग-साधना मनुष्य को उसके साधारण सामाजिक कार्यों से विमुख करने वाली थी। वह जनसाधारण मे आत्म-विश्वास पैदा करने के बदले उन्हे सिद्धो और योगियो के अलौकिक चम-त्कारो का दास बनाने वाली थी। चितन की यह धारा साहित्य मे मनुष्य के यथार्थ जीवन के चित्र देकर उसे सरस और सजीव न बना सकती थी, वह उसे जीवन से विमुख करके, नाद, बिंदु और षट्‌चक्रो मे उलझा-कर पहेलियो और उलटवासियो की ओर ले जाने वाली थी। भारत का विराट् जनवादी सांस्कृतिक आन्दोलन, जिसे हम भक्ति-आन्दोलन के नाम से जानते है, इन कनफटे जोगियो और वामाचारी सिद्धो की प्रेरणा का मोहताज न हो सकता था।

इससे विपरीत स्थापनाएँ श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी की है। उनका विचार है कि ईसा की सातवी सदी मे पूर्वी भारत मे बौद्ध धर्म का प्रभाव काफी प्रबल था। वह अचानक मिट नही गया वरन् साहित्य पर उसका प्रभाव अमिट है। शैव और बौद्ध साधनाओ के मिलने से नाथपंथ पैदा हुआ।

"कबीरदास, सूरदास और जायसी की रचनाओं से जान पड़ता है कि यह संप्रदाय उन दिनो बड़ा ही प्रभावशाली रहा होगा।" (हिन्दी साहित्य की भूमिका, १९५०; पृ० ६-७)। द्विवेदी जी के अनुसार अवतारवाद पर भी बौद्ध मत का विशेष प्रभाव है। अवतारवाद पहले भी रहा है लेकिन "सूरदास, तुलसीदास आदि भक्तो मे उसका जो स्वरूप पाया जाता है वह उन प्राचीन चिन्ताओ से कुछ ऐसी भिन्न जाति का है कि एक जमाने मे ग्रियर्सन, केनडी आदि पण्डितो ने उसमे ईसाई पन का आभास पाया था।" बौद्ध धर्म का असर वैष्णव कवियो पर ही नही पड़ा, ईसाई धर्म पर भी उसका असर मौजूद है। "ईसाई धर्म मे जो भक्तिवाद है वही महायानियो की देन सिद्ध होने को चला है, क्योकि ऐसे बौद्धो का अस्तित्व एशिया की पश्चिमी सीमा मे सिद्ध हो चुका है और कुछ पण्डित तो इस प्रकार के प्रमाण पाने का दावा भी करने लगे है कि स्वयं ईसामसीह भारत के उत्तरी प्रदेशो मे आये थे और बौद्ध धर्म मे दीक्षित भी हुए थे।" (उप० पृ० १०)। निष्कर्ष यह है कि "बौद्ध धर्म क्रमशः लोकधर्म का रूप ग्रहण कर रहा था और उसका निश्चित चिह्न हम हिन्दी साहित्य मे पाते है।" इसलिये हिन्दी साहित्य और उसके अध्ययन की सार्थकता किस बात मे है? इसमे कि—"इतने विशाल लोक-धर्म का थोड़ा पता भी यदि यह हिन्दी साहित्य दे सके तो उसकी बहुत बड़ी सार्थकता है।" (उप० पृ० १०)।

जो लोग शुक्लजी पर यह आरोप लगाते है कि उन्होने इतिहास को ब्राह्मणवादी दृष्टि से देखा है, वे कृपया ऊपर का वाक्य पढ़ें। शुक्लजी ने जहाँ तीर्थाटन, पर्वस्नान आदि कर्मकाण्डो को संकुचित कहा था और हिन्दू-मुसलमानो, ऊँच-नीच सभी जातियो के लिये लोक-कल्याण का मार्ग निकालने वाले भक्त-कवियो का स्वागत किया था, वहाँ द्विवेदी जी हिन्दी साहित्य और उसके अध्ययन की सार्थकता इस बात मे देखते है कि वह बौद्ध धर्म जैसे "विशाल लोकधर्म" का पता दे सके।

द्विवेदीजी का मूल सूत्र बहुत सीधा है। उन्हीं के शब्दो मे वह यो है: "इस प्रकार जिन दिनो बौद्धधर्म उत्तरोत्तर लोक-धर्म मे घुलमिल रहा था,

उन्हीं दिनो ब्राह्मण धर्म उत्तरोत्तर अलग होता जा रहा था। ( उप० पृ० ११ )।

यह सूत्र काफी मौलिक है। उसकी मौलिकता का श्रेय महापण्डित राहुल सांकृत्यायन को है जिनके अनुसार बौद्ध धर्म वैज्ञानिक भौतिकवाद का ही पूर्व रूप है, जिनके अनुसार बौद्ध कवि अश्वघोष सामन्तो के चाकर हिन्दू कवि बाल्मीकि और कालिदास से श्रेष्ठ था। भारतीय संस्कृति को धर्म का पर्याय समझने का चलन राहुलजी ने शक्ति भर किया है। लेकिन धर्मों का इतिहास ही लिखना है तो राहुलजी या हजारीप्रसादजी को इतना तो बताना चाहिये था कि आखिर उस लोक-धर्म का भारत से प्रायः लोप क्यो हो गया।

राहुलजी की विशेषता है कि उन्होने साहित्य, संस्कृति, इतिहास और भाषा-विज्ञान को भी धर्म की ही दृष्टि से नही, नस्ल की दृष्टि से भी देखा है। उनके लिये आर्यों के शुद्ध जनतंत्र के पतन का मुख्य कारण अनार्य रक्त का संमिश्रण रहा है। बिहार मे आर्यों की नाक, आंख, रंग आदि की छानबीन करने मे उन्होने विशेष प्रतिभा का परिचय दिया है। द्विवेदी जी ने राहुलजी के नस्लवाद को भी आंशिक रूप मे ग्रहण किया है।

द्विवेदी जी की धारणा है कि "पश्चिमी प्रदेशो मे बसे हुए आर्य पूर्वी प्रदेशो मे बसे हुए आर्यो से भिन्न प्रकृति के है।" ( उप० पृ० २६ )। इस भिन्नता का परिणाम यह निकला कि "पूर्वी प्रदेशो मे भारतीय इतिहास के आदिकाल से रूढ़ियो और परम्पराओ के विरुद्ध विद्रोह करने वाले सन्त होते रहे है। वैदिक कर्मकाण्ड के मृदु विरोधी जनक और याज्ञवल्क्य तथा उग्र विरोधी बुद्ध और महावीर आदि आचार्य इन्हीं पूर्वी प्रदेशो मे उत्पन्न हुए थे।" ( उप० पृ० २६ )।

द्विवेदी जी जैसे विद्वान ने वेद न पढ़े होंगे, यह सोचना भी पाप होगा। लेकिन क्या ऋग्वेद उन्हे रूढ़िवाद और कर्मकाण्ड का ग्रन्थ लगा, यह पूछना असंगत न होगा। या जनक, याज्ञवल्क्य, बुद्ध और महावीर को क्रान्तिकारी सिद्ध करने के लिये ही उन्होने यह लिख दिया? जो भी हो, यहाँ महत्वपूर्ण प्रश्न यह नही है कि बुद्ध और महावीर

कितने क्रान्तिकारी थे और वैदिक ऋचाओं के निर्माता कितने रूढ़िवादी, महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि द्विवेदी जी ने विचारधारा का स्रोत मनुष्य के सामाजिक जीवन मे नही खोजा वरन् उसकी नस्ल मे तलाश करने की कोशिश की है। यह दृष्टिकोण कितना अवैज्ञानिक है यह कहने की आवश्यकता नही। इसके विपरीत शुक्लजी अपने इतिहास के आरम्भ ही मे कहते है : "जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियो पर है।" द्विवेदीजी का जोर आंतरिक परिस्थितियो पर भी नही नस्ल पर है।

भारत मे हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य क्यो श्रेष्ठ हैं? इसलिये कि "समग्र भारतीय साहित्य मे हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है जिसमें पश्चिमी आर्यों की रूढ़िप्रियता, कर्मनिष्ठा के साथ ही साथ पूर्वी आर्यों की भाव-प्रवणता, विद्रोही वृत्ति और प्रेमनिष्ठा का मणिकांचन योग हुआ है।" इस व्याख्या से यह पता नही चलता कि पूर्व के सिद्धो और पश्चिम के नाथपंथियो मे जो समान गुण मिलते है—गृहस्थो को गाली देना, योग और चमत्कारो से भोली जनता पर धाक जमाना, सामाजिक जीवन से विमुख होना आदि—उनका कारण क्या है? और सूर और मीरा जैसे सरस कवि पश्चिम मे कैसे हुए और डा० रघुवीर और महापण्डित राहुल जैसे विद्वान पश्चिम और पूर्व दोनो ही मे क्यो हुए? या यह भी मणिकांचन संयोग है?

इसमे सन्देह नही कि द्विवेदी जी की धारणाएँ बदलती रही हैं। उनकी किसी एक स्थापना को चिरायु मानना उनके साथ अन्याय करना होगा।

"कबीर" मे वह नाथपंथ के बारे मे कहते है : "नाथपंथ मे स्मार्त आचारों को कोई महत्व नही दिया जाता। यह बात उसे स्मार्त हिन्दू-धर्म के एकदम विरुद्ध खड़ा कर देती है।" (पृ० ४०)।

"हिन्दी साहित्य का आदिकाल" मे वह उसी नाथमत के बारे मे कहते है : "जैनधर्म से प्रभावित होने के कारण, आंशिक रूप से बौद्ध

साधना को आत्मसात् करने के कारण, स्मार्त धर्म का आश्रय पाने के कारण और मुस्लिम आक्रमण के रूप मे विजातीय संस्कृति की उपस्थिति के कारण वह निगु णपंथी, सहनशील उदासीन बना रहा।" (पृ० ३८)।

ध्यान देने योग्य यह टुकड़ा है—स्मार्त धर्म का आश्रय पाने के कारण! "कबीर" मे नाथमत उसका एकदम विरोधी था, यहाँ वह उसका आश्रय पा गया।

"हिंदी साहित्य की भूमिका" मे कबीर आदि सन्तो का उल्लेख करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है: "उनके पारिभाषिक शब्द, उनकी रूढ़ि-विरोधिता, उनकी खण्डनात्मक वृत्ति और उनकी अक्खड़ता आदि उनके पूर्ववर्ती साधको की देन है। परन्तु उनमे की आत्मा उनकी अपनी है। उसमे भक्ति का रस है और वेदना का ज्ञान है।"

यहाँ द्विवेदी जी कबीर मे वेदान्त का ज्ञान देखते है, लेकिन "कबीर" मे कहते है: "पाठको ने अब तक देख लिया होगा कि कबीर तात्विक दृष्टि से अद्वैतवादी नही थे और उनके 'निगु ण राम' मे और वेदान्तियो के पारिभाषिक 'निगु ण ब्रह्म' मे मौलिक भेद है।"

यदि ये दोनो बाते सच हो तो मानना पड़ेगा कि कबीर को वेदान्त का ज्ञान तो था लेकिन वह तात्विक ज्ञानी नही थे या फिर यह मानना पड़ेगा कि द्विवेदी जी भावप्रवणता मे उलटवांसी कह गये है!

योगियी और सन्तो मे समान बाते कौन सी है? शुक्लजी ने दिखलाया है कि सिद्धो ने बाह्य-पूजा, जाति-पांति, तीर्थाटन इत्यादि के प्रति उपेक्षा-बुद्धि का प्रचार किया, रहस्यदर्शी बनकर शास्त्रज्ञ विद्वानो का तिरस्कार करने और मनमाने रूपको के द्वारा अटपटी बानी मे पहेलियाँ बुझाने का रास्ता दिखाया, घट के भीतर चक्र नाड़ियाँ, शून्य देश आदि मानकर साधना करने की बात फैलाई और 'नाद, बिंदु, सुरति, निरति' ऐसे शब्द की उद्धरणी करना सिखाया। यही परम्परा अपने ढङ्ग पर नाथपंथियों ने भी जारी रखी। इसी बात को द्विवेदी जी ने अनेक पुस्तकों के अनेक अध्यायो में विस्तार से कहा है। शुक्लजी के अनुसार निगु ण संत

संप्रदाय वेदान्त, सूफ़ीमत और वैष्णव अहिंसावाद आदि को साथ लेकर "सिद्धो और योगियो द्वारा बनाये हुए इस रास्ते पर चल पड़ा।"

शुक्लजी और द्विवेदीजी मे अन्तर है यह कि शुक्लजी ने सिद्धो और योगियो की तुलना केवल निर्गुण संप्रदाय से की है, द्विवेदीजी ने सगुणोपासक कवियो पर भी बौद्ध धर्म का प्रभाव देखा है।

शुक्लजी ने धार्मिक कर्मकाण्ड वर्ण-भेद आदि की आलोचना को अंशत सही माना है लेकिन सच्चे लोक-कल्याणकारी कार्यों का विरोध करने के कारण उस आलोचना को आदर्श नहीं माना। द्विवेदीजी ने इस आलोचना को प्रगतिशील माना है और यह प्रश्न नहीं किया कि किस दृष्टिकोण से यह आलोचना की जा रही है और उससे लोककल्याणकारी कर्मों पर तो कुठाराघात नहीं हो रहा।

शुक्लजी ने सिद्धो के वामाचार की तीव्र भर्त्सना की है, द्विवेदीजी इस बारे मे चुप रहते है।

शुक्लजी ने जीवन की सहज अनुभूतियो का प्रश्न उठाकर सिद्धों और योगियो की असली कमजोरी प्रकट कर दी है। द्विवेदीजी इस प्रश्न को भारतीय चितन की लम्बी चर्चा मे छिपा जाते है।

शुक्लजी ने सिद्धो और योगियो की जीवन-विमुखता, चमत्कारवाद, जनता पर धाक जमाने की प्रवृत्ति को—संक्षेप मे उनके "योग" को—आड़े हाथो लिया है। इन अंधविश्वासो की खुल कर आलोचना की है। द्विवेदीजी ने कभी-कभी दबी जबान से इस योग का लोक-विरोधी रूप स्वीकार किया है और कभी दबी जबान से यह भी कहा है, क्या मालूम, योगी सच ही कहते रहे हो।

"नाथ संप्रदाय" मे द्विवेदीजी कहते है—"इस मार्ग की सबसे बड़ी कमी इसकी शुष्कता और गृहस्थ के प्रति अनादर का भाव है। इस कमज़ोरी ने इस मार्ग को नीरस लोक विद्विष्ट और क्षयिष्णु बना दिया।"

"हिन्दी साहित्य की भूमिका" मे ऐसे चमत्कारो का जिक्र करते हुए कि गुरू उंगली से आज्ञाचक्र छू दे तो चेला सिद्ध हो जाय, द्विवेदी जी कहते हैं: "यह नही कहा जा सकता कि यह विश्वास ढकोसला था या

गपोड़ियापन का परिणाम था। साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि सद्गुरु सचमुच ऐसा कर सकते है या नहीं। ये सब बाते साधना की है।···सच पूछिए तो इस प्रकार बिना अनुभव किये राय देना सिर्फ हिमाकत ही नहो, अन्याय भी है।"

बीसवीं सदी मे योग, कुंडलिनी, गुरू के करस्पर्श से सिद्ध बनने की बाते करना ज़रा कठिन काम है। तुरंत अन्धविश्वासी की उपाधि पाने का खतरा रहता है। शुक्लजी ने जहाँ इन चमत्कारवादियो का खुल कर खंडन किया था, वहाँ द्विवेदीजी उन पुराने अंधविश्वासियो का पक्ष लेकर कहते हैं—बिना अनुभव किये राय देना हिमाकत है, अन्याय है! राय देना जरूरी था, इसलिये भक्तिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवियो ने न्याय-अन्याय और हिमाकत-बेहिमाकत की पर्वाह न करके अपनी राय साफ़-साफ़ जाहिर कर दी थी। वास्तव मे सन्तसाहित्य की यह बहुत ही प्रगतिशील भूमिका रही है कि उसने जन-संस्कृति को इन चमत्कारवादियो के चंगुल से छुड़ाया।

शुक्लजी ने तुलसी की यह उक्ति उद्धृत की है: "गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग"। जोग और निर्गुन ब्रह्म को लेकर सूर की गोपियो ने जो कुछ कहा है, उससे पता चलता है कि साधारण जनता मे यह धारणा प्रचलित थी कि जो निराकार ब्रह्म को मानता होगा, वह योगी भी हो और जो योगी होगा, वह निर्गुणवादी होगा। लेकिन स्वयं कबीरदास जो सुन्नमहल की हवा खा आये थे, गोरखनाथ का स्मरण यो करते है। शुक्लजी ने कबीर की ये पंक्तियां उद्धृत की है:

"झिलमिल झगरा झूलते बाकी रही न काहु।
गोरख अटके कालपुर कौन कहावै साहु?"

इत्यादि।

यही नही कबीरदास योगियो को भी नही छोड़ते।

द्विवेदीजी कहते है, "परन्तु अक्खड़ता कबीरदास का सर्व प्रधान गुण नहीं है। जब वे अवधू या योगी को संबोधन करते है तभी उनकी अक्खड़ता पूरे चढ़ाव पर होती है।" (कबीर, पृ० १५५)। इसका अर्थ

यह हुआ कि कबीरदास योगियो की आलोचना करना हिमाकत न समझते थे वरन् उनकी बहुत सी बातो को हिमाकत समझते थे और इसलिये अपने व्यंग्य के सबसे तीखे बाण उन्ही के लिये सुरक्षित रखते थे।

कबीर अवधू से कहते है :

"जो तुम पवना गगन चढ़ाओ, करो गुफा मे बासा।
गगना पवना दोनो बिनसै, कहँ गया जोग तुम्हारा॥"

द्विवेदीजी कबीर के बारे मे कहते है : "वे समाधिगम्य परमपुरुष का साक्षात्कार कर चुके थे, पवन को उलट कर सहस्रार चक्र मे ले जा चुके थे, वहाँ के गगन का अनन्य साधारण गर्जन सुन चुके थे........." (उप० पृ० १५६)।

पूर्व के आर्यों की भावप्रवणता का यह भी एक प्रमाण है। द्विवेजी के आत्मविश्वास को देखकर ईर्ष्या होती है। इस गये गुज़रे जमाने में भी ऐसे लोग है जो पवन को उलट कर सहस्रार चक्र मे ले जाने में विश्वास करते है।

इसमे सन्देह नही कि कबीर ने उन सब बातो की चर्चा की है जिनका उल्लेख द्विवेदी जी ने किया है। लेकिन यह उनका कमजोर पहलू है जिसके कारण कबीर मानव-जीवन के साधारण व्यापारो का विस्तार से वर्णन न कर पाये। कबीर का सबल पक्ष पवन को उलटकर सहस्रार में ले जाने मे नही है वरन् ब्रह्म साक्षात्कार के लिये प्रेम का मार्ग दिखाने में है, प्रेम के मार्ग से हटकर ज्ञान, ध्यान, पूजा, नमाज़ और योग की हांकने वालो की धज्जियाँ उड़ाने मे है। कहते है :

"जोगी पड़े बियोग, कहै घर दूर है।
पासहि बसत हजूर, तू चढ़त खजूर है॥"

जोगी जिसके लिये योग करते थे—यानी उससे अलग रहकर वियोग सहते थे—कबीर उसे अपने पास देखने का दावा करते थे।

कबीर प्रश्न करते है—

"कबीर कबसे भये वैरागी।
तुम्हरी सुरति कहाँ को लागी॥"

फिर जवाब देते है—

"गोरख, हम तबके अहैं बैरागी।
हमरी सुरति ब्रह्म सो लागी॥
ब्रह्मा नहिं जब टोपी दीन्ही, बिस्नु नहीं जब टीका।
सिव-शक्ती कै जनमौ नाही, तबै जोग हम सीखा॥"

यहाँ गोरख को कबीर ने जिस तरह याद किया है, उससे नाथ-पंथियों के प्रति उनका विशेष प्रेम सूचित नही होता। गृहस्थो की निन्दा करने वाले नाथ-पंथी से कबीर कहते है—

"अवधू, भूले को घर लावै।
सो जन हमको भावै॥
घर मे जोग भोग घर ही मे, घर तज बन नहि जावै।"

शुक्लजी ने कबीर मे सूफियो के भावात्मक रहस्यवाद और हठयोगियो के साधनात्मक रहस्यवाद, दोनो के तत्व देखे है। लेकिन यह स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि कबीर ने साधनात्मक रहस्यवादियो का—नाथ-पंथी योगियो का—खण्डन भी किया था। नाथपंथी योगियो की विचार-धारा मूलतः प्रतिक्रियावादी थी। वे गृहस्थ जीवन के निन्दक थे, सामाजिक जीवन से पराङ्मुख थे, जाति-पांति का विरोध करते हुए वे लोक-धर्म और लोकाचार मात्र के विरोधी बन बैठे थे, वे बाह्य जगत् से ध्यान खींचकर उसे कल्पित चक्रो मे अटकाते थे, साधारण जनता पर आतङ्क जमाने के लिये अलौकिक चमत्कारों की डींग हाँकते थे। शुक्लजी ने नाथपंथियों की विचारधारा का यह प्रीतक्रियावादी रूप अच्छी तरह प्रकट कर दिया है। उन्होने जीवन की सहज अनुभूतियो का अभाव दिखाकर नाथपंथी साहित्य की मूल कमजोरी की ओर संकेत किया है। यदि वे ऐसा न करते तो सन्त साहित्य का क्रान्तिकारी महत्व लोगो की समझ मे न आता।

शुक्लजी के जीवन के अन्तिम वर्षों मे सिद्धो और नाथों की काफी

चर्चा होने लगी थी। इस चर्चा मे बौद्ध धर्म की क्रान्तिकारी भूमिका की भी काफ़ी दाद दी जाने लगी थी। इस चर्चा के सूत्रधारो ने यह ऐतिहासिक तथ्य भुला दिया था कि हिन्दी साहित्य का आदि काल बौद्ध धर्म के प्रायः निर्मूल होने का काल भी था। चौथी शताब्दी से ही भारत में वैष्णव मत का उत्थान आरम्भ हो गया था। यहाँ की लोक-कथाएँ, तिथि-त्यौहार, मन्दिर-मूर्तियाँ आदि उसके विशाल प्रसार की साक्षी है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने एक निबन्ध मे लोक-जीवन की साधारण रीतियो आदि का विवेचन करके उसका प्रसार सिद्ध किया है।

इस वैष्णव मत के प्रभाव से न तो सूर-तुलसी बचे है, न कबीर-जायसी। इसलिये सन्त-साहित्य के विकास का अध्ययन करते हुए उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की छान-बीन करना हो तो नाथपंथ के मुकाबले में वैष्णव मत पर ज़ोर देना ज्यादा लाभकारी होगा। स्वयं कबीर ने जहाँ गोरखनाथ को ललकारा है, वहाँ रामानन्द के लिये गर्व से कहा है—

"कासी मे हम प्रगट भये है, रामानन्द चेताये।
प्यास अहद की साथ हम लाये, मिलन करन को आये।"

यदि कोई कहे कि वैष्णव मत ने स्वयं वज्रयानी सिद्धों या दूसरे बौद्ध विचारको से माल चुराया है तो पुष्ट प्रमाणो के अभाव मे यह मत उतना ही मान्य होगा जितना यह कि तुलसीदास ने बाइबिल के प्रभाव से विनयपत्रिका लिखी थी।

वास्तविकता यह है कि सैकड़ो वर्षों से बौद्ध और अबौद्ध दोनो ही तरह के विचारको के चित्त पर योग की विचारधारा कुंडलिनी मारे बैठे थी। यह विचारधारा मनुष्य के सामाजिक कार्यों से उसकी आस्था नष्ट करती थी, तरह-तरह की तथाकथित साधनाओ मे उसका समय और शक्ति नष्ट करके अन्याय का प्रतिरोध करने से उसे रोकती थी। योग के विरुद्ध बहुत दिनो से संघर्ष चल रहा था और अन्त मे उसने योग और भक्ति के संघर्ष का रूप ले लिया। मध्यकालीन भारतीय चिन्तन में यह संघर्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण था। इस संघर्ष के बिना साहित्य और दर्शन को यथार्थ जीवन की ओर उन्मुख न किया जा सकता था। कबीर-सूर-तुलसी

की रचनाएं बारबार योग बनाम भक्ति के संघर्ष की सूचना देती है। स्वयं कबीर भक्त है या कि योगी ? इस संबन्ध मे द्विवेदीजी की मान्यता सर्व-मान्य होगी, इसमे सन्देह नही। वह कहते है–"भक्ति के लिये केवल एक ही बात आवश्यक है,—अनन्य भाव से भगवान की शरणागति, अहे-तुक प्रेम, बिलाशर्त आत्मसमर्पण। कबीरदास मे इन बातो की चरम परिणति हुई है।" (कबीर, पृ० १४७)। इसका अर्थ यह है कि कबीरदास भक्त ही नही थे, वरन् उच्चकोटि के भक्त थे। भक्ति का मौलिक लक्षण उनमे पूर्ण-विकसित दिखाई देता है। "हिन्दी साहित्य की भूमिका" मे उद्धृत यह दोहा कैसा सार्थक बैठता है—

"भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाये रामनन्द।
परगट किया कबीर ने, सप्त दीप नवखंड॥"

इसलिये कबीर और अन्य भक्तो की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की छान-बीन करते हुए रामानन्द की चर्चा भी होनी चाहिये, यह भी देखना चाहिए कि रामानन्द नाथ-योगियो और सिद्धो से कितना भिन्न थे।

रामानन्द के साथ भागवत की चर्चा भी होनी चाहिये जिसने भक्ति द्वारा अन्त्यजो, समाज के वहिष्कृतो आदि के मुक्ति पाने का दावा किया था।

ये मानवाः पापकृतास्तु सर्वदा
सदा दुराचाररता विमार्गगाः।
क्रोधाग्निदग्धाः कुटिलाश्च कामिनः
सप्ताह यज्ञेन कलौ पुनन्ति ये॥

पापी, दुराचारी, कुमार्गगामी, क्रोधी, कुटिल, कामी—सभी भक्ति के प्रसाद से मुक्ति पा जाते है।

पंडितो और कर्मकाण्डी विद्वानों पर व्यंग्य करने की प्रथा भी भाग-वत के लिये नयी नही है। कलियुग के पंडितो का यह हाल है—

पण्डितास्तु कलत्रेण रमन्ते महिषा इव।
पुत्रस्योत्पादने दक्षा अदक्षा मुक्तिसाधने॥

इसके सिवा वर्ण-व्यवस्था और उसके समर्थक शास्त्रो का विरोध

उतना ही पुराना है जितनी पुरानी यह व्यवस्था और उसके समर्थक शास्त्र है। भारत मे स्वतंत्र चिंतन की कभी कमी नही रही। इसलिए संत-कवियो मे वर्णव्यवस्था आदि का खण्डन देखकर उसका श्रेय सिद्धों और योगियो को देना ठीक नही।

सन्तो ने साहित्य रचा है, केवल साम्प्रदायिक ग्रन्थ नहीं। प्राचीन साहित्य की महाकाव्यो वाली परम्परा का उन पर प्रभाव पड़ा है, यद्यपि समान रूप से नही। उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि आँकते हुए वाल्मीकि और व्यास की परम्परा पर भी ध्यान देना आवश्यक है। उनके उपास्य राम और कृष्ण का चरित एक हद तक रामायण और महाभारत से ही लिया गया था।

सन्त साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि आँकते हुए हिन्दी-भाषी प्रदेश की लोक-कथाओ और जन-संस्कृति की ओर ध्यान देना आवश्यक है। जन-संस्कृति के आधार पर ही, यहाँ के लोक-गीतो लोक-रीतियो, लोक-गाथाओ के आधार पर ही सन्त साहित्य को अपार लोक-प्रियता सुलभ हुई। भक्तिकालीन साहित्य मे यह नया तत्व था। यह तत्व उनके साहित्य की विषय वस्तु और उसके रूप दोनो मे व्याप्त है—जो उसे प्राचीन संस्कृत साहित्य और सिद्धो-नाथो की बानियो से अलग करता है। दूसरे शब्दो मे ब्रज और अवध के किसानो का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन वह दृढ़ आधार शिला है जिस पर सन्त-साहित्य का प्रासाद निर्मित हुआ है।

शुक्लजी ने अपने इतिहास मे जायसी आदि की प्रेम कथाओं के सिलसिले मे लिखा है—

"हमारा अनुमान है कि सूफी कवियो ने जो कहानियाँ ली हैं वे सब हिन्दुओं के घर मे बहुत दिनो से चली आती हुई कहानियाँ है जिनमे आवश्यकतानुसार उन्होने कुछ हेर फेर किया है।" जायसी का प्रेम-मार्ग बाहर का है या यहाँ का, इस पर हम आगे विचार करेगे। यहाँ पर ध्यान देने की बात इतनी ही है कि शुक्लजी ने भक्तिकालीन साहित्य मे लोक-गाथाओ का महत्व स्वीकार किया है।

शुक्लजी लोकधर्म मे ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय चाहते थे, इसलिये उनके हृदय मे जितना आदर तुलसी के लिये था, उतना न कबीर के लिये, न सूर के लिये। इसका न तो यह अर्थ है कि वह कबीर को महान् कवि न मानते थे, न यह कि वह कबीर के वर्णव्यवस्था और धार्मिक कट्टरता के विरोध से बेहद क्षुब्ध थे।

सन्तो का मार्ग हिन्दू-मुस्लिम एकता का मार्ग था। इस बारे मे शुक्ल जी अपने इतिहास मे लिखते हैं : "प्रेमस्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियो ने हिन्दुओ और मुसलमानो दोनो को मनुष्य के सामान्य रूप मे दिखाया और भेदभाव के दृश्यो को हटाकर पीछे कर दिया।" (पृ० ७६)।

कबीर के बारे मे उन्होंने स्पष्ट लिखा है : "इसमे कोई संदेह नही कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को सँभाला जो नाथ-पंथियो के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता मे उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और उसे भक्ति के ऊँचे से ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिये बढ़ावा दिया।" (उप० पृ० ७८-७९)।

कबीर पर सारी पुस्तके एक तरफ और शुक्लजी के ये तीन वाक्य एक तरफ। कबीर का क्रान्तकारी कार्य इस बात मे है कि उन्होंने जनता के उस बड़े भाग को सँभाला जो नाथपंथियो के प्रभाव से शुष्क पड़ता जा रहा था। कबीर की क्रान्तकारी भूमिका साधारण जनता को नाथ-पंथियो के प्रभाव से मुक्त करने मे है, न कि उनके पीछे चलने मे। यह काम उन्होंने दार्शनिक क्षेत्र मे किया। दूसरा काम उन्होंने यह किया कि मनुष्यत्व की सामान्य भावना के आधार पर उन्होंने निम्न श्रेणी की जनता मे आत्मगौरव का भाव जगाया। इस कार्य से उन्होंने निम्न वर्गों की सामाजिक चेतना को निखारा, उसे बलप्रदान किया। इस तरह उन्होंने जनसाधारण को सामन्ती अत्याचारो के विरोध मे खड़ा होना सिखाया।

शुक्लजी ने यह भी कहा है कि निर्गुणमत के लिये नाथपंथियो ने रास्ता साफ कर दिया था। उनके उस तरह के वाक्यो को ऊपर के उद्धृत वाक्यो के साथ मिलाकर पढ़ना चाहिये। नाथपंथियो और निर्गुणमत-वादियो मे कुछ बाते समान थी लेकिन इस समानता को बढ़ा चढ़ाकर न देखना चाहिये। कारण यह कि नाथपंथी जहाँ एक पाखंड का खंडन करते थे वहां उसकी जगह दूसरे पाखंड की सृष्टि करते थे। संतो का क्रांतिकारी कार्य यह है कि उन्होने जनता को नाथपंथ के प्रभाव से बचाया। कबीर की महत्वपूर्ण भूमिका यह है कि उन्होने प्रेम के आधार पर मनुष्यमात्र की एकता की घोषणा की और निम्न वर्गों की जनता मे आत्मगौरव के भाव जगाये।

सन्त-साहित्य के सिलसिले मे नाथपंथियो की भूमिका पर कुछ विस्तार से लिखने का कारण यह है कि इधर कुछ दिनो से रांगेय राघव जैसे कुछ लेखक यह दावा करने लगे है कि मध्यकालीन भारत की क्रान्ति-कारी विचारधारा नाथपंथ थी, उसके प्रभाव से कबीर क्रान्तिकारी हुए और उसके अभाव मे तुलसी प्रतिक्रियावादी। ऐसे लोगो को अपने प्रचार के लिये श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी की अनेक स्थापनाओ से बल मिला है, इसलिये उनकी चर्चा भी यहां की गई है। यह कहना आवश्यक है कि रांगेय राघव आदि लेखक शुक्लजी पर जो ब्राह्मणवादी होने का और तुलसी पर सामन्तो के समर्थक होने का दोष लगाते है, वह मत द्विवेदीजी का नहीं है। फिर भी उस मत के एकाध कीटाणु द्विवेदीजी मे भी है, यह माने बिना निस्तार नहीं है।

"हिन्दी साहित्य का आदिकाल" मे द्विवेदी जी लिखते हैं: "इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएं साहित्य मे विवेच्य नही है। कभी-कभी शुक्लजी के मत को भी इस मत के सम-र्थन मे उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात बहुत उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश देना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।" (पृ० ११)।

यहां द्विवेदीजी ने शुक्लजी पर बांका आक्रमण किया है। शायद

शुक्लजी के मत को उद्धृत करना उचित नहीं है। लेकिन आगे चलकर स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लजी का मत स्वयं भी उचित नहीं है। द्विवेदी जी आगे कहते है :

"इधर जैन-अपभ्रंश-चरित-काव्यो की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है वह सिर्फ धार्मिक संप्रदाय के मुहर लगने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नही है। स्वयंभू, चतुर्मुख, पुष्पदंत और धनपाल जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्यक्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्य कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्यक्षेत्र मे अविवेच्य हो जायगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य-सीमा के भीतर नही घुस सकेगा।" (पृ० ११)।

बात बिल्कुल ठीक है। शुक्लजी या और किसी ने ऐसा किया है तो उस पर धार्मिक संकीर्णता का दोष अवश्य लगेगा। सबसे पहले इस प्रश्न का उत्तर मिलना चाहिये कि द्विवेदी जी ने जिन सिद्धो और नाथपंथियो की रचनाओ का प्रचुर उल्लेख किया है, वे साहित्य की श्रेणी मे आती है या नही। यदि नही आती तो शुक्लजी का मत ठीक है, आती है तो वह मत गलत है। शुक्लजी का मत उद्धृत करने वालो का खंडन करने के लिये द्विवेदीजी ने सिद्धो और नाथपंथियो की रचनाओ का ज़िक्र नही किया वरन् जैन कवियो का हवाला दिया है जिनकी रचनाओ की विपुल सामग्री "इधर" उपलब्ध हुई है। अपभ्रंशकाल के कवियो की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने हेमचंद्र, सोमप्रभ सूरि, मेरुतुङ्ग आदि का अलग से उल्लेख किया है।

इनकी चर्चा करने से पहले शुक्लजी ने सिद्धों और योगियो के सिलसिले में जो वाक्य लिखे है—और साम्प्रदायिक शिक्षामात्र से इन जैन और अन्य कवियो के "सामान्य साहित्य" को कैसे अलग किया है—यह ध्यान देने योग्य है। सिद्धो और योगियो की कृतियो के सिलसिले मे शुक्लजी लिखते है :

"उनकी रचनाओ का जीवन की स्वाभाविक सरणियो, अनुभूतियों

और दशाओ से कोई संबन्ध नहीं। वे साम्प्रदायिक शिक्षामात्र है, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि मे नहीं आ सकती। उन रचनाओं की परंपरा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नही कह सकते। अतः धर्म-संबन्धी रचनाओ की चर्चा छोड़, अब हम सामान्य साहित्य की जो कुछ सामग्री मिलती है, उसका उल्लेख उनके संग्रहकर्ताओ और रचयिताओ के क्रम से करते है।"

इन्हीं संग्रहकर्ताओ और रचयिताओ मे "जैन आचार्य्य हेमचंद्र", "जैन पंडित" सोमप्रभसूरि और "जैनाचार्य्य" मेरुतुंग भी है। ये सब विशेषण शुक्ल जी के दिये हुए है। इससे पता चलता है कि शुक्लजी को जैनियो, बौद्धो या नाथपंथियो से चिढ़ न थी, उनकी कसौटी यह थी कि आलोच्य ग्रंथ सांप्रदायिक शिक्षामात्र न हो, उनमे जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियो और दशाओ का चित्रण हो और वे "सामान्य साहित्य" की कोटि में आते हो। इसलिये सत्य यह है कि शुक्लजी ने "सामान्य साहित्य" मे जैन कवियो की रचनाओ को भी लिया है; यदि अनेक महत्वपूर्ण कृतियां छूट गई है तो इसका कारण उनका "इधर" उपलब्ध होना है, शुक्लजी की संकीर्णता नही।

द्विवेदीजी ने जहां शुक्लजी के मत की चर्चा की है, वहां यह भी उन्हे लिखना चाहिये था कि शुक्लजी ने जैन कवियो को जैन होने के नाते "सामान्य साहित्य" से बाहर नही रखा।

द्विवेदीजी के बांके आक्रमण की एक और मिसाल देखिये। "हिन्दी साहित्य की भूमिका" मे लिखते है:

"कभी-कभी यह शंका की गई है कि हिन्दी-साहित्य का सर्वाधिक मौलिक और शक्तिशाली अंश अर्थात् भक्ति साहित्य मुसलमानी प्रभाव की प्रतिक्रिया है और कभी कभी यह भी बताने का प्रयत्न किया गया है कि निर्गुणिया सन्तो की जाति-पांति की विरोधी प्रवृत्ति, अवतारवाद और मूर्ति-पूजा के खंडन करने की चेष्टा मे 'मुसलमानी जोश' है।" (पृ० २८)। इन सब बातो को "भ्रममूलक" बताते हुए द्विवेदीजी आगे कहते है: "हम आगे चलकर देखेंगे कि निर्गुण मतवादी सन्तों के केवल उग्र विचार ही

भारतीय नहीं है, उनकी समस्त रीति-नीति, साधना, वक्तव्य वस्तु के उपस्थापन की प्रणाली, छन्द और भाषा पुराने भारतीय आचार्यों की देन है।" (उप० पृ० २८)।

यहाँ पर द्विवेदी जी ने कबीर आदि सन्तो और योगियो के मौलिक भेद भुलाकर भारतीयता के जोश मे उनकी समस्त रीतिनीति, साधना आदि की प्रणाली तक को पुराने भारतीय आचार्यो—सिद्धो और जोगियो-की देन घोषित कर दिया है। यद्यपि उन्होने स्वयं दिखलाया है कि कबीर ने योगियो की किस तरह खिल्ली उड़ाई है, फिर भी "मुसलमानी जोश" का खण्डन करने के लिये उन्होने कबीर आदि को कनफटे जोगियो का जरूरत से ज्यादा देनदार बना दिया है।

यह 'मुसलमानी जोश' का टुकड़ा है कहाँ का? द्विवेदी जी ने उसका उद्गम न बताते हुए उल्टे कौमा लगाकर कहीं से उसके उद्धृत होने का संकेत कर दिया है। यही आक्रमण का बांकपन है।

शुक्लजी ने अपने इतिहास के पृ० ८५ पर कबीर के सिलसिले मे लिखा है: "इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य भक्ति-पद्धति का प्रचार था जिसमे हिन्दू और मुसलमान दोनो योग दे सके और भेदभाव का कुछ परिहार हो। बहुदेवोपासना, अवतार और मूर्तिपूजा का खण्डन मुसलमानी जोश के साथ करते थे और मुसलमानो की कुरबानी (हिंसा), नमाज, रोजा आदि की असारता दिखाते हुए ब्रह्म, माया, जीव, अनहद-नाद सृष्टि, प्रलय आदि की चर्चा पूरे हिन्दू ब्रह्मज्ञानी बनकर करते थे। सारांश यह है कि ईश्वर-पूजा की उन भिन्न बाह्य विधियो पर से ध्यान हटाकर, जिनके कारण धर्म मे भेदभाव फैला हुआ था, ये शुद्ध ईश्वर-प्रेम और सात्त्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे।'

"मुसलमानी जोश" के टुकड़े का मूल निवासस्थान यह है। शुक्लजी कबीर की दाद देते ही रह गये कि उन्होने धार्मिक भेदभाव हटाकर सात्त्विक जीवन का प्रचार किया था; शुक्लजी के आलोचको ने यह तलाश कर लिया कि कबीर ने मुसलमानी जोश मे आकर हिन्दू धर्म के

बाह्याचारो का खण्डन किया। यानी शुक्ल जी के अनुसार कबीर ने धार्मिक भेदभाव दूर किया इस्लामी भेदभाव के प्रभाव से! एक उलट-वांसी यह भी रही!

क्या यह भी लिखना जरूरी है कि "मुसलमानी जोश के साथ" का मतलब है, कबीर ने मूर्तिपूजा का खण्डन इस दृढ़ता से किया है, मानों किसी दूसरे धर्म—इस्लाम—का मानने वाला उसका खंडन कर रहा हो? और इसके बाद "कबीर" मे द्विवेदी जी ने सिद्धो और योगियो के चितन की लम्बी चर्चा करने के बाद कबीर को उन्ही सिद्धो और योगियो के दर्शन से मुक्त कहा है और उनकी साहसिकता का कारण मुस्लिम परिवार मे उनका पाला जाना बताया है! द्विवेदी जी कहते है: "मुस्लिम धर्म-साधना से उनका सम्बन्ध नाममात्र को ही था। पर मुसलमान वंश मे प्रतिपालित होने के कारण उनमे एक प्रकार का साहसिक भाव आ गया था और उस दार्शनिक तर्क-जाल से वे मुक्त थे जो उनके पूर्ववर्ती सिद्धो और योगियो को अभिभूत किये हुए था। इसीलिये वे सहज बात को सहज ढङ्ग से—बिना अपर-पक्ष की कल्पना किये—कह सके थे। यह मुस्लिम परिवार मे पालित होने का उत्तम फल था।" (पृ० १३६)।

कबीर की साहसिकता की दाद दीजिये! कबीर के सहृदय समालोचक द्विवेदी जी की साहसिकता की दाद और भी दिल खोलकर दीजिये। क्या ही अच्छा हो कि साहसिकता का विकास करने के लिये इस तरह के लालन-पालन की व्यवस्था करदी जाय! धन्य है द्विवेदी जी को कि उन्होने एक ओर तो निर्गुणिये संतो की "समस्त रीतिनीति, साधना, वक्तव्य वस्तु के उपस्थापन की प्रणाली" को योगियो और सिद्धो की देन कहा, दूसरी ओर कबीर जैसे प्रमुख निर्गुणिये सन्त को उन्होने योगियो और सिद्धो के तर्कजाल से मुक्त बताया; एक ओर उन्होने शुक्लजी के "मुसल-मानी जोश" के कल्पित अर्थ का तीव्र खंडन किया, दूसरी ओर कबीर की साहसिकता को मुस्लिम परिवार मे पालित होने का उत्तम फल बताया!

सारांश यह कि नाथपंथी योगियो और वज्रयानी सिद्धो की जीवन-

विमुख विचारधारा के बारे मे शुक्लजी की स्थापनाएं सत्य है। शुक्लजी ने सन्त-साहित्य का विवेचन करते हुए धार्मिक संकीर्णता का परिचय नही दिया वरन् हिन्दुओ-मुसलमानो को मिलाने वाली निम्न वर्गों मे आत्मगौरव का भाव जगाने वाली उसकी भूमिका को पूरी तरह स्वीकार किया है। सन्त-साहित्य की महत्ता नाथपंथी योगियो से प्रभावित होने मे नही है वरन् जनता को उनके प्रभाव से मुक्त करने मे है। शुक्लजी की स्थापनाओ का खण्डन करने के इच्छुक विद्वान् उलटवाँसियो मे फँस गये है और धर्म और नस्ल के आधार पर संस्कृति का मूल्याङ्कन करते हुए वैज्ञानिक आलोचना से दूर चले गये है।

हिन्दी आलोचना की प्रगति के लिये सन्त-साहित्य मे योगियो की भूमिका के सम्बन्ध मे शुक्लजी की सही स्थापनाओ और उनसे अलग भ्रान्त धारणाओ का इतिहास काफी शिक्षाप्रद है।

---

# जायसी का प्रेममार्ग

जायसी की भूमिका शुक्ल जी की बहुत ही शानदार आलोचना-कृतियो मे से है। लगता है, इसे उन्होने प्रेम से और फुर्सत मे बैठ कर लिखा है। उनकी विद्वत्ता, आत्मविश्वास, वैज्ञानिक अनुसंधान अपने सबसे निखरे हुए रूप मे यहाँ दिखाई देते है। यहाँ शुक्ल जी ने एक ऐसे कवि को, जिसे हिन्दी के पाठक बहुत कम जानते थे, तुलसीदास के बाद हिन्दी का श्रेष्ठ कवि घोषित किया है। इस तरह शुक्ल जी ने हमारे सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन को और समृद्ध किया है, साहित्य के इतिहास की क्षितिज को और विस्तृत किया है। यहाँ उनके तुलनात्मक अध्ययन की पद्धति खुलकर अपनी विशेषता प्रकट करती है। कहीं अंग्रेज कवि और विचारक, कहीं यूनानी आलोचक और जर्मन दार्शनिक, कहीं फारसी के कवि और अरब के विद्वान्—शुक्ल जी इनकी सहज चर्चा करते हुए विषय-विवेचन करते है। उनकी यह चर्चा एक साहित्य-रसिक की चर्चा है, कोरे संपादक-आलोचक का वैज्ञानिक विवेचन नहीं। साथ ही उन्होने अपने सुदीर्घ अध्ययन और चिन्तन के फलस्वरूप साहित्य के संबन्ध मे जो महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले है, उन्हे भी अयाचित ही पाठक को जहाँ-तहाँ देते चलते है। जायसी की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, दार्शनिक

विचार, कलात्मक मूल्यो आदि का विवेचन हिन्दी के अनुसंधान-साहित्य मे एक नये अध्याय का सूत्रपात करता है। अवधी की चर्चा करते हुए उन्होने भाषा-विज्ञान की समस्याओ पर महत्व पूर्ण निर्देश दिये है और हर जगह वाक्पटु, तर्कशास्त्री किन्तु सरस-हृदय और विनोदी शुक्ल जी के व्यक्तित्व की जैसी छाप यहाँ मिलती है, वैसी अन्यत्र नहीं।

जायसी के अध्ययन मे पहली समस्या उन पर नाथपंथी योगियो के प्रभाव की है। शुक्लजी ने दिखलाया है कि जायसी ने हठयोगियो के विभागो के अनुसार शरीर का वर्णन किया है। सिहलगढ़ के वर्णन मे नौ पौरी नाक, कान, मुँह आदि है। गढ़ के नीचे का कुंड कुंडलिनी का वासस्थान नाभि कुंड है। सुरंग सुषुम्ना नाड़ी है जो दसवें द्वार ब्रह्मरंध्र तक चली गई है। जायसी कहते है :

"पाइय नाहि जूझ हठि कीन्हे। जेइ पावा तेहि आपुहि चीन्हे।"

हठयोगियो की तरह हठ करने से मनुष्य को ब्रह्म का साक्षात्कार नही होता, अपने सहज ज्ञान से उसकी प्राप्ति होती है।

यहाँ भी हम देखते है कि जायसी ने शरीर-निर्माण की कल्पना योगियो से ली है, लेकिन उनका मार्ग योग का नहीं वरन् प्रेम का है।

दूसरी जगह हठयोगियो का प्रभाव इस बात मे देखा जाता है कि जायसी ने रत्नसेन से सिहलद्वीप की यात्रा कराई है। शुक्लजी ने बताया है कि "गोरखपंथी जोगी सिहलद्वीप को सिद्ध पीठ मानते हैं जहाँ शिव से पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने के लिये साधक को जाना पड़ता है।" रत्नसेन सिहल जाता है। वहाँ पद्मावती नाम की सिद्धि प्राप्त करता है। पद्मावती-रत्नसेन का संयोग और उसका वर्णन योग और उससे मिलने वाली सिद्धि से कितनी दूर है, यह सहज ही देखा जा सकता है।

शुक्लजी का कहना है कि "हठयोगियो वा नाथपंथियो की दो मुख्य बाते सूफियो और निर्गुण-मत वाले सन्तो को अपने अनुकूल दिखाई पड़ीं—(१) रहस्य की प्रवृत्ति (२) ईश्वर को केवल मन के भीतर समझना और ढूंढ़ना। कहने की आवश्यकता नही कि ये दोनों बातें भारतीय भक्तिमार्ग से पूरा मेल खाने वाली नही थी।" अन्य भक्तों की तरह

जायसी पर भी हठयोगियो और नाथपंथियो का प्रभाव नगण्य है।

जायसी के अध्ययन के सम्बन्ध मे दूसरी समस्या उन पर सूफी मत के प्रभाव की है।

सूफी मत के बारे मे शुक्लजी कहते है : "जायसी मुसलमान थे इससे उनकी उपासना निराकारोपासना ही कही जायगी। पर सूफी मत की ओर पूरी तरह झुकी होने के कारण उनकी उपासना मे साकारोपासना की सी ही सहृदयता थी।"

शुक्लजी ने यहाँ सूफी कवियो की सहृदयता की ओर संकेत किया है। वह जायसी की सहृदयता का कारण उन पर सूफी मत का प्रभाव समझते है। सूफी मत की सहृदयता का कारण उन्होने आर्य-संस्कारो का पुनरुत्थान माना है। लिखा है : "सूफियो के अद्वैतवाद ने एक बार मुसलमानी देशो मे बड़ी हलचल मचाई थी। ईरान, तूरान आदि मे आर्य्य-संस्कार बहुत दिनो तक दबा न रह सका। शामी कट्टरपन के प्रवाह के बीच भी उसने अपना सिर उठाया।"

शुक्लजी यहाँ एक क्षण के लिये अपना यह सिद्धान्त भूल गये है कि साहित्यिक गतिविधि का स्रोत जनता की सामाजिक परिस्थितियो मे ढूंढ़ना चाहिये। सूफीमत या उससे मिलती जुलती प्रवृत्तियो का स्रोत शामी और आर्य जातियो के संस्कारो मे न खोजकर विभिन्न देशो की सामाजिक परिस्थितियो मे खोजना ज्यादा उचित होगा। यदि हम यह मानले कि जहाँ भी सहृदयता मिले, वह आर्यसंस्कार के कारण है और जहाँ भी कट्टरता मिले, वह शामी संस्कार के कारण, तो बात ही दूसरी है। भारत में ही भक्तों ने जो प्रेम मार्ग अपनाया, वह भी एक प्रकार की कट्टरता का विरोध करने के लिये था। यह कट्टरता सामन्तों और उनके धार्मिक सहयोगियों की थी। उसके विरुद्ध जनता का पक्ष लेने वाले और समानता, भाई चारे और प्रेम की भावनाओ को व्यक्त करने वाले ये भक्त कवि थे।

यहूदियों की धर्म-गाथाओ मे एक ओर जहाँ धार्मिक कट्टरता मिलती है, वहाँ दूसरी ओर प्रेम के सरस गीत भी मिलते है। यूनानियों मे जहाँ सुकरात को जहर देने वाले लोग थे, वहाँ अनेक रचनाओ मे—यद्यपि हर

जगह नहीं—अफलातून जैसे प्रेम के व्याख्याकार थे। प्रसाद जी ने "रहस्यवाद नाम" के निबन्ध मे दिखाया है कि एक ओर भारत मे संसार को दुख का कारण मानने वाले लोग थे, तो दूसरी ओर आनन्दवाद के पंथ पर चलने वाले भी थे।

शुक्लजी का मत है कि यहूदी ईसाई और मुस्लिम धर्मों मे अद्वैतवाद ने रहस्यवाद का रूप लिया लेकिन "भारतवर्ष मे तो यह ज्ञान क्षेत्र से निकला और अधिकतर ज्ञान क्षेत्र मे ही रहा, पर अरब, फारस आदि मे जाकर वह भावक्षेत्र के बीच मनोहर रहस्य भावना के रूप मे फैला।"

क्या यह आश्चर्य की बात न होगी कि अद्वैतवाद कट्टर शामी जातियो के बीच तो मनोहर रहस्य भावना बनकर फैला और सहृदय आर्यों के देश भारत मे जहाँ उसका जन्म हुआ था, वह शुष्क ज्ञान-क्षेत्र की चीज़ ही बना रहा? प्रसादजी ने रहस्यवाद नाम के निबन्ध मे शामी जातियों की एक दूसरी विशेषता दिखाई है और वह यह कि वे मनुष्य को ईश्वर का उपासक अथवा दास मानते थे। इसलिए मंसूर को अनलहक़ कहने पर सूली पर चढ़ा दिया गया। सरमद को भी प्राण-दण्ड मिला। "सेमेटिक धर्म भावना के विरुद्ध चलने वाले ईसा मंसूर और सरमद आर्य अद्वैत धर्म भावना से अधिक परिचित थे।" फिर भी सौलोमन का गीत, जो प्रेम और सौन्दर्य का मधुर काव्य है, यहूदियो का ही रचा हुआ था। इससे सिद्ध होता है कि आर्य और शामी नस्लो के आधार पर दार्शनिक और धार्मिक प्रवृत्तियो की सही व्याख्या नहीं हो सकती।

प्रसादजी ने दिखलाया है कि जब "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" के अनुसार यहाँ एकेश्वरवाद की स्थापना हो रही थी, तब आत्मवाद (आनन्दवाद) भी यहाँ पल्लवित हो रहा था। उनके मत से वरुण एकेश्वर-वाद के प्रतिनिधि थे और इन्द्र आत्मवाद के। यदि यह बात सही है तो एकेश्वरवाद भारत की अपनी वस्तु है और उतनी ही पुरानी है जितनी कि ऋग्वेद और आनन्दवाद भी उतना ही पुराना है, वरन् उससे भी पुराना है और प्रसादजी के अनुसार भारतीय चिन्तन की मूल धारा है।

शुक्लजी ने एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद मे अंतर दिखलाया है। उनका कहना है कि एकेश्वरवाद स्थूल देववाद है और अद्वैतवाद सूक्ष्म आत्मवाद था ब्रह्मवाद है। "बहुत से देवी-देवताओ को मानना और सबके दादा एक बड़े देवता (ईश्वर) को मानना एक ही बात है।" इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत न होगा कि शुक्लजी स्वयं स्थूल देववादी न थे; उन्हे न तो अनेक देवी-देवताओ मे विश्वास था, न उन सबके "दादा एक बड़े देवता" मे। वह अद्वैतवादी थे और "अद्वैतवाद का मतलब है कि दृश्यजगत् की तह मे उसका आधार-स्वरूप एक ही अखंड नित्य है और वही सत्य है।' शुक्लजी मे और भौतिक अद्वैतवादियो मे अन्तर यह है कि भौतिकवादी संसार को नित्य-परिवर्तनशील और विकासमान मानते है और सत्य उसकी तह मे न होकर संसार की भौतिक एकता ही मे होता है।

सूफियो का दृश्यजगत् के बारे मे क्या कहना है? शुक्लजी के अनुसार "दृश्यजगत् के नानारूपो को उसी अव्यक्त ब्रह्म के व्यक्त आभास मानकर सूफी लोग भावमग्न हुआ करते है।" अद्वैतवादियों, निर्गुण ब्रह्मवादियो और योगियो से उनका यह महत्वपूर्ण भेद है। जो संसार को माया समझता है, वह उस माया मे भावमय होकर सत्य का साक्षात् करने की आशा नहीं कर सकता। जायसी ने संसार को माया कहा है जो उन्हे भारतीय वेदान्त के निकट ले आता है। "साथ ही जगत् को दर्पण कहना, नामरूपात्मक दृश्यो को प्रतिबिंब या छाया कहना यह सूचित करता है कि अचित को ब्रह्म तो नही कह सकते, पर है यह उसी रूप की जिस रूप मे यह जगत् दिखाई पड़ता है।" योग और वेदान्त से जायसी का यह अन्तर ध्यान देने योग्य है। जगत् ब्रह्म का ही दर्पण है, जगत् के दृश्य उसी ब्रह्म के ही रूप के प्रतिबिंब है। और जायसी को जितना प्रेम इस दर्पण से है, रूप के प्रतिबिंब से है, उतना परोक्ष रूप से नहीं।

शुक्लजी ने अद्वैतवाद के दो पक्ष बतलाये है। एक पक्ष आत्मा और परमात्मा की एकता का है, दूसरा पक्ष ब्रह्म और जगत् की एकता का है। उनका मत है कि साधना-क्षेत्रो मे सूफियो और पुराने ईसाई-भक्तों की

दृष्टि पहले पक्ष पर रहती है लेकिन "भावपक्ष मे जाकर सूफी प्रकृति की नाना विभूतियो से भी उसकी छवि का अनुभव करते आए है।" कहने के लिये प्रकृति की नाना विभूतियो से ब्रह्म की छवि का अनुभव किया जाता है, वास्तव मे ब्रह्म के बहाने अनुभव किया जाता है प्रकृति की नाना विभूतियों का ही।

कोई भी जनवादी आन्दोलन—वह चाहे सांस्कृतिक हो, चाहे राजनीतिक—भौतिकवाद की ओर किसी न किसी प्रकार झुके बिना रह नही सकता। इस तरह के आन्दोलन जनवादी इसीलिये होते है कि वे जनता की वास्तविक आवश्यकताओ के आधार पर उठ खड़े होते है। इन आवश्यकताओं पर तरह-तरह के सांस्कृतिक आवरण पड़े होते है लेकिन उनकी वास्तविकता पहचानना कठिन नही होता। क्या पूर्व मे क्या पच्छिम मे, शासकवर्ग ने संसार को मिथ्या कहकर जनता का ध्यान वास्तविक समस्याओ से हटाकर कल्पित परोक्ष की ओर लगाने की चेष्टा की लेकिन अनेक देशो मे और विभिन्न युगो मे ऐसे विचारक और कवि भी उत्पन्न हुए जो उस कल्पित परोक्ष को अस्वीकार न करके किसी न किसी रूप मे प्रत्यक्ष जगत् का महत्व भी स्वीकार करते रहे। शुक्लजी ने १९ वी सदी मे, पच्छिम के देशो मे, पैन्थीज्म या सर्ववाद के उत्थान की बात कही है। इस पैन्थीज्म का आधार ब्रह्म और जगत् की एकता थी। शुक्लजी पच्छिम के देशो मे इसके उत्थान का जिक्र करते हुए बतलाते है: "वहाँ इसकी ओर प्रवृत्ति स्वातंत्र्य और लोकसत्तात्मक भावो के प्रचार के साथ ही साथ दिखाई पड़ने लगी।" यह बात आकस्मिक नही है कि जिन कवियो ने स्वाधीनता और लोकसत्तावाद का प्रचार किया, उन्हीं ने ब्रह्म और जगत् की एकता भी घोषित की। इसका कारण यह था कि स्वाधीनता और लोकसत्तावाद का प्रचार जनता की वास्तविक समस्याओ पर निर्भर था; उन वास्तविक समस्याओं से दिलचस्पी रखने के कारण कवियों ने अंशतः भौतिकवाद की ओर भी झुकाव दिखाया।

जायसी ग्रन्थवली की इसी भूमिका मे शुक्लजी भारतीय भक्तो के बारे में कहते है: "जिसे यह जगत् प्रिय नही, जो इस जगत् के छोटे बड़े

सबसे सद्भाव नही रखता, जो लोक की भलाई के लिये सब कुछ सहने को तैयार नही रहता, वह कैसे कह सकता है कि ईश्वर का भक्त हूँ ?"
शुक्लजी ने इस तरह की भक्ति अपनी ओर से मध्यकालीन सन्तो पर आरोपित नही की थी। सन्त-साहित्य एक जनवादी सांस्कृतिक आन्दोलन था। उसका आधार सामन्ती अत्याचार से पीड़ित जनसाधारण की मुक्तिकामना थी। उस पर निर्गुण ब्रह्मवाद—यानी यह संसार मिथ्या है, इस धारणा—को प्रभाव होते हुए भी उसका झुकाव इस संसार को सत्य समझने की ओर भी था। शुक्लजी उन थोड़े से आलोचकों मे हैं जिन्होने संसार का प्रिय होना भक्ति का एक लक्षण माना है। तुलसी की इस उक्ति से शुक्लजी की धारणा का समर्थन होता है :

"झूठो है झूठो है झूठो सदा जग संत कहंत जे अंत लहा है।
ताको सहै सठ संकट कोटिन काढ़त दंत करंत हहा है।
जानपनी को गुमान बड़ो तुलसी के विचार गंवार महा है।
जानकी जीवन जान न जान्यो तो जान कहावत जान्यो कहा है ॥"

इसी तरह जायसी ने "पद्मावत" के आरम्भ ही में ईश्वर की स्तुति करते हुए कहा है :

"दीन्हेसि रसना औ रसभोगू। दीन्हेसि दसन जो बिहंसै जोगू।
दीन्हेसि जग देखन कहँ नैना। दीन्हेसि स्रवन सुनै कहँ बैना।
दीन्हेसि कंठ बोल जेहि माहाँ। दीन्हेसि कर पल्लौ बर बाहाँ।
दीन्हेसि चरन अनूप चलाही। सो जानइ जेहि दीन्हेसि नाहीं ॥"

ईश्वर ने नेत्र संसार देखने को दिये हैं, बन्द करने के लिये नहीं। जिसके पास हाथ पर नहीं है, वही उनका महत्व जानता है। इसी तरह "आखिरी कलाम" मे जायसी ने लिखा है :

"दीन्हेसि नयनजोति उजियारा। दीन्हेसि देखै कहँ संसारा ॥
दीन्हेसि स्रवन बात जेहि सुनै। दीन्हेसि बुद्धि ज्ञान बहु गुनै ॥"

इससे पता चलता है कि जायसी का दृष्टिकोण जीवन को अस्वीकार करने का नही है वरन् उसे स्वीकार करने का है। इसलिये शुक्लजी की यह स्थापना बिल्कुल सही है कि सच्चे भक्त को यह जगत् प्रिय होता है।

रहस्यवादी साधना या भावना से किसी नये सत्य का उद्‌घाटन होता है, इस पर शुक्लजी को विश्वास नहीं है। उनका मत है कि "रहस्यभावना किसी विश्वास के आधार पर चलती है, विश्वास करने के लिये कोई नया तथ्य या सिद्धान्त नहीं उपस्थित करती। किसी नवीन ज्ञान का उदय उसके द्वारा नहीं हो सकता। जिस कोटि का ज्ञान या विश्वास होगा, उसी कोटि की उससे उद्भूत रहस्य-भावना होगी।" शुक्लजी का दृष्टिकोण एक बुद्धि-वादी विचारक का है। वह रहस्यवादियों के लंबे चौड़े दावों पर विश्वास नहीं करते। रहस्यवादी लौकिक ज्ञान को क्षुद्र बताकर अपने को "पहुँचा हुआ" घोषित करते हैं। शुक्लजी बुद्धि की पहुँच से परे इस परोक्ष-प्रेम और ज्ञान के साक्षात्कार पर विश्वास नहीं करते। जो ज्ञान या विश्वास रहस्यवादियों को पहले से होता है, वही उन्हें साधना, इलहाम, प्रेम के आवेश में भी दिखाई देता है।

शुक्लजी उपनिषदों को भारतीय ज्ञानकाण्ड का मूल मानते हैं। इस ज्ञान को वह ऋषियों की अलौकिक दर्शन-शक्ति का परिणाम नहीं मानते वरन् "बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया द्वारा" ही उस ज्ञान का उदय मानते हैं। "बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया"—ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं। न तो ईश्वर ने विशेष कृपा करके ऋषियों को परोक्ष सत्ता का अलौकिक ज्ञान करा दिया था, न ऋषियों ने भावावेश, योग द्वारा या अपनी किसी अलौ-किक प्रतिभा द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। हमारे यहां ऐसे लोगों की कमी नहीं जो उपनिषदों के ज्ञान को अलौकिक, ऋषियों के चिन्तन को बुद्धि से परे मानते हैं। शुक्लजी ने इस तरह के चमत्कारवाद का विरोध करके वैज्ञानिक ढंग से भारतीय ज्ञान को बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया का परिणाम समझने का मार्ग प्रशस्त किया है। कहना न होगा कि जब तक उपनिषद् और अन्य प्राचीन ग्रंथ इस तरह के चमत्कारवाद से मुक्त नहीं होते, तब तक उनका सही मूल्याङ्कन करके उनकी विरासत को जनता की सांस्कृतिक निधि नहीं बनाया जा सकता।

शुक्लजी भावात्मक अद्वैतवाद या रहस्यवाद को बाहर से आयी हुई वस्तु समझते थे। जायसी के अध्ययन के संबन्ध में यह दिलचस्प समस्या

उठ खड़ी होती है कि जायसी रहस्यवादी थे या नही और यदि थे तो उनका रहस्यवाद यहां की वस्तु था या बाहर से लाया हुआ था।

शुक्लजी यह मानते है कि "प्राचीन ऋषियो को भी विचार करते करते गंभीर मार्मिक तथ्य पर पहुँचने पर कभी कभी भावोन्मेष हो जाता था और वे अपनी उक्ति का प्रकाश रहस्यात्मक और अनूठे ढंग से कर देते थे।" इससे यह सिद्ध हुआ कि शुक्लजी के अनुसार रहस्यवाद प्राचीन भारतीय साहित्य के लिये अनूठी वस्तु नही है। लेकिन उनका तर्क है: मार्मिक तथ्य पर पहुँचने पर भावोन्मेष हो जाता था। तथ्य पहले, भावोन्मेष बाद को। शुक्लजी का जोर इस बात पर है कि रहस्यवाद ज्ञानार्जन की कोई पद्धति नही है।

उन्होने रहस्यवाद के उदाहरण देते हुए बताया है कि "गीता के दसवें अध्याय मे सर्ववाद का भावात्मक प्रणाली पर निरूपण है।" इसके बाद शुक्लजी ने जो कुछ लिखा है, उससे यह सिद्ध होता है कि रहस्यवाद भाव प्रकट करने का ही एक अनूठा ढंग नही है वरन् भावना का भी वह एक विशेष प्रकार है। गीता के दसवे अध्याय का हवाला देते हुए शुक्लजी ने लिखा है:

"वहां भगवान् ने अपनी विभूतियो का जो वर्णन किया है वह अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। सर्ववाद को लेकर जब भक्त कं मनेवृत्ति रहस्योन्मुख होगी तब वह अपने को जगत् के नानारूपो के सहारे उस परोक्ष सत्ता की ओर ले जाता हुआ जान पड़ेगा। वह खिले हुए फूलो मे, शिशु के स्मित आनन मे, सुंदर मेघमाला मे, निखरे हुए चंद्रबिंब मे उसके सौन्दर्य का, गंभीर मेघगर्जन मे, बिजली की कड़क मे, वज्रपात मे, भूकंप आदि प्राकृतिक विप्लवो मे उसकी रौद्रमूर्ति का; संसार के असामान्य वीरो, परोपकारियो और त्यागियो मे उसकी शक्ति, शील आदि का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार अवतारवाद का मूल भी रहस्यभावना ही ठहरती है।"

यहां रहस्यवाद का मूल सूत्र हुआ—प्रत्यक्ष जगत् मे परोक्ष सत्ता का आभास। यदि यह सूत्र अभारतीय नहीं है तो रहस्यवाद भी अभारतीय

नहीं है। शुक्लजी ने यह माना है कि अवतारवाद का मूल रहस्यवाद है यद्यपि वह रामकृष्ण के उपासकों को रहस्यवादियों से अलग करते है। महत्वपूर्ण बात यह है कि जो भावुक, चिंतक या कवि "अपने को जगत् के नानारूपों के सहारे उस परोक्षसत्ता की ओर ले जाता हुआ जान पड़ेगा," वह कोई अभारतीय काम न करेगा; उसका यह काम यहां की प्राचीन रहस्यभावना के अनुकूल ही माना जायगा।

शुक्लजी जायसी के ईश्वरोन्मुख प्रेम का ज़िक्र करते हुए कहते है: "क्या संयोग, क्या वियोग, दोनो मे कवि प्रेम के उस आध्यात्मिक स्वरूप का आभास देने लगता है, जगत् के समस्त व्यापार जिसकी छाया से प्रतीत होते है।" जायसी को चंद्र, नक्षत्र आदि उसी के विरह मे जलते हुए दिखाई देते है। शुक्लजी के अनुसार इस तरह के विरह-वर्णन की प्रवृत्ति तो सगुणधारा के भक्तो में नहीं रही लेकिन तुलसी की "विनय-पत्रिका" से उन्होने ऐसे विश्वव्यापी विरह का एक उदाहरण दिया है:

"बिछुरे रबि ससि, मन! नैनन ते पावत दुख बहुतेरो।"

इत्यादि।

जायसी को जगत् के समस्त व्यापार परोक्ष सत्ता की छाया से प्रतीत होते है; प्रत्यक्ष जगत् मे परोक्ष सत्ता का आभास पाना भारतीय रहस्य-भावना का मूल था; यदि ये दोनो बाते सही है तो मानना होगा कि जायसी का रहस्यवाद भी भारतीय है, अभारतीय नही। यदि तुलसी और जायसी एक से विश्वव्यापी विरह का वर्णन करते है तो मानना होगा कि भक्तो और जायसी जैसे सूफियों की एक सामान्य भूमि भी है।

जायसी-ग्रंथावली की भूमिका मे शुक्लजी ने जायसी जैसे कवियों को ध्यान मे रखते हुए ठीक लिखा है: "सूफीमत की भक्ति का स्वरूप प्रायः वही है जो हमारे यहां की भक्ति का।"

इन स्थापनाओ को देखते हुए यह ठीक नहीं मालूम होता कि जहां भी प्रेमतत्व दिखाई दे—काव्य मे परोक्ष सत्ता के प्रति प्रेम दिखाया जाय—वहाँ उसे सूफीमत की देन माना जाय। शुक्लजी ने भक्त-कवयित्री अन्दाल का ज़िक्र किया है। उस पर सूफीमत के प्रभाव की कोई संभा-

बना न थी; वह आठवीं सदी की भक्त बतायी गई है। शुक्लजी ने अन्दाल की यह उक्ति उद्धृत की है: "अब मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त हूँ और स्वामी कृष्ण के अतिरिक्त और किसी को अपना पति नहीं बना सकती।" मीरा की उक्तियो से इसकी समानता तुरत देखी जा सकती है। शुक्लजी ने वैष्णव कवियो से उसकी तुलना भी की है: "पति या प्रियतम के रूप मे भगवान् को वैष्णव भक्ति-मार्ग मे 'माधुर्य भाव' कहते हैं। इस भाव की उपासना मे रहस्य का समावेश अनिवार्य और स्वाभाविक है।" इस तरह भक्तो का माधुर्य भाव भारतीय चिन्तन और भावना का स्वाभाविक विकास दिखाई देता है। लेकिन इतना सब कह देने के बाद भी शुक्लजी ने वैष्णव कवियो मे इस माधुर्य भाव के लिये सूफीमत को उत्तरदायी ठहराया है।

शुक्लजी का कहना है कि भारतीय भक्तो मे माधुर्य भाव का अधिक प्रचार नहीं हुआ और जो हुआ, वह सूफियो के प्रभाव से। वह लिखते है: "भारतीय भक्ति का सामान्य स्वरूप रहस्यात्मक न होने के कारण इस 'माधुर्य भाव' का अधिक प्रचार नही हुआ। आगे चलकर मुसलमानी ज़माने मे सूफियो की देखा देखी इस भाव की ओर कृष्ण भक्ति-शाखा के कुछ भक्त प्रवृत्त हुए। इनमे मुख्य मीराबाई हुई जो 'लोक लाज खोकर' अपने प्रियतम श्री कृष्ण के प्रेम में मतवाली रहा करती थी।"

और भी—"चैतन्य महाप्रभु में सूफियो की प्रवृत्तियाँ साफ़ झलकती है।"

कबीर, दादू आदि के बारे मे कहते हैं: "निर्गुणशाखा के कबीर, दादू आदि सन्तों की परम्परा मे ज्ञान का जो थोड़ा बहुत अवयव है वह भारतीय वेदान्त का है, पर प्रेमतत्व बिल्कुल सूफियो का है। इसमे से दादू दरिया साहब आदि तो खालिस सूफी ही जान पड़ते है। कबीर मे 'माधुर्य भाव' जगह जगह पाया जाता है।"

यदि माधुर्य-भाव का प्रसार चैतन्य महाप्रभु, कबीर, मीरा आदि सगुण-निर्गुण ब्रह्म के उपासकों तक है, तब यह कहना कहाँ तक ठीक हो

सकता है कि माधुर्य-भाव का अधिक प्रचार नहीं हुआ ? शुक्लजी जिसे माधुर्य-भाव कहते है, उसका व्यापक प्रभाव उत्तर भारत के कवियो पर—दक्षिण के कवियो को छोड़ भी दें तो—दिखाई देता है। जैसा कि स्वयं शुक्लजी ने दिखलाया है, इसकी जड़ें प्राचीन भारतीय चिन्तन मे मिलती है। अपने इतिहास मे उन्होने श्री मद्भागवत का जिक्र भी किया है। उसके प्रभाव से माधुर्य-भाव फैलता हुआ बतलाया है। इसलिये यह मानना होगा कि शुक्ल जी ने माधुर्य-भाव और प्रेमतत्व के लिये जगह-जगह जो सूफीमत को उत्तरदायी ठहराया है, वह सही नहीं है। उनकी इस धारणा का खण्डन उन्हीं की अनेक स्थापनाओ से हो जाता है।

अब देखना चाहिये कि जायसी किस कोटि के सूफी थे और उनके प्रेम-मार्ग पर सूफीमत का कितना प्रभाव है। जायसी सैयद अशरफ के शिष्य थे, यह उन्होने लिखा ही है। अपने को "गुरु मोहिदी" का सेवक भी कहा है। यह भी सही हो सकता है कि अपने समय मे वह एक सिद्ध फकीर माने जाते थे।

जायसी के परोक्ष-प्रेम की विशेषताएं क्या है ? विरह की अग्नि मे सूर्य-चन्द्र जलते दिखाई देते है। अग्नि, पवन आदि तत्व उसी परोक्ष प्रिय तक पहुँचने के लिये उत्सुक दिखांई देते है। सृष्टि मे जो सौन्दर्य दिखाई देता है वह भी उसी परम सौन्दर्य की झलक मालूम पड़ता है। सृष्टि के विभिन्न पदार्थ अपने गुणो का विकास करते हुए उसी की ओर पहुँचने की इच्छा रखते है। संक्षेप मे, शुक्लजी के अनुसार, जायसी के प्रेम का यही आलौकिक पक्ष है। प्रेम के ये तत्व भारत मे पहले से विद्यमान थे, यह शुक्लजी की ही स्थापनाओं मे हम ऊपर देख चुके है। इसके साथ ही यह भी सही है कि ईरान आदि देशों के सूफी कवियो ने प्रेम के जो अलंबन चुने है, अपनी कविता के लिये साकी, मैखाना, शराब गुल, बुलबुल आदि के जो प्रतीक चुने है, वे जायसी मे नहीं मिलते। इसके विपरीत "उत्तर भारत मे, विशेषतः अवध मे, "पद्मिनी रानी और हीरामन सूए" की कहानी अब तक प्रायः उसी रूप मे कही जाती है जिस रूप मे जायसी ने उसका वर्णन किया है।...इसी प्रकार 'बाला

लखन देव' आदि की और रसात्मक कहानियाँ अवध मे प्रचलित है जो बीच-बीच मे गा-गाकर कही जाती है।" इसलिये जायसी मे सूफीमत के तत्व ढूंढ़ने से पहले अवध की जनसंस्कृति के तत्व ढूंढ़ना ज्यादा लाभ-दायी होगा। शुक्लजी की यह धारणा बिल्कुल सही है कि "जायसी ने प्रचलित कहानी को ही लेकर, सूक्ष्म ब्यौरो की मनोहर कल्पना करके उसे काव्य का सुन्दर स्वरूप दिया है।" शुक्लजी की इस धारणा का और विस्तार से अध्ययन करने की आवश्यकता है। वास्तव मे समूचे भक्ति-साहित्य का इस दृष्टिकोण से बहुत कम अध्ययन किया गया है कि वह यहाँ की जनसंस्कृति का प्रतिबिम्ब है। जहाँ शुक्लजी ने जायसी आदि का अध्ययन करने के लिये बाहर के सूफीमत पर जोर दिया है, वहाँ इन कवियो मे जनसंस्कृति की ही धारा का प्रवाह देखना भी उन्होने हमे सिखाया है।

अब प्रश्न यह है कि जायसी मूलतः लौकिक प्रेम के कवि है या अलौकिक प्रेम के। जायसी ने "पद्मावत" के अन्त मे चित्तौर को तन, राजा को मन, सुए को गुरु, नागमती को दुनिया धंधा, राघव को शैतान, अलादीन को माया आदि कहा है। श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने "हिन्दी साहित्य" मे लिखा है: "काव्य के अन्त मे, 'तन चितउर मन राजा कीन्हा' जो संकेत है वह मूल ग्रन्थ का नही है। पद्मावत की प्राचीन प्रतियो से यह बात सिद्ध हो चुकी है।' जायसी का परोक्ष-प्रेम "तन-चितउर" आदि पंक्तियो पर निर्भर नही है। द्विवेदीजी कहते है: "परोक्ष-सत्ता की ओर संकेत करने का उत्साह जायसी मे इतना अधिक है कि वे ऐसे प्रसंगो को मानो खोजते फिरते है जिनसे परोक्ष सत्ता की ओर इशारा करने का मौका मिल सके। यदि जायसी परोक्ष-सत्ता की ओर इतना अधिक संकेत करते हैं, तो यह माना जायगा कि उनका उद्देश्य अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति भी रहा है।

शुक्लजी के विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होने प्रेम की लौकिकता पर जोर दिया है। रत्नसेन का घर से निकलना, माता और रानी का रोकर रोकना, पद्मावती का रसरंग, सपत्नी से कलह, राघव को पद्मावती का

अपना कंगन देना—आदि घटनाओं का उल्लेख करने के बाद शुक्ल जी कहते है : "प्रेम का लोकपक्ष कैसा सुन्दर है ! लोकव्यवहार के बीच भी अपनी आभा का प्रसार करने वाली प्रेम-ज्योति का महत्व कुछ कम नहीं।" शुक्लजी जायसी को इसके लिये बधाई देते है कि उसकी प्रेम-गाथा "पारिवारिक और सामाजिक जीवन से विच्छिन्न होने से बच गई है।"

उन्हे "पद्मावत" की कमजोरी इसमे दिखाई देती है कि जायसी ने कहीं-कही परोक्ष और प्रत्यक्ष को मिलाने का प्रयत्न किया है। पद्मावती का रूप-वर्णन सुनकर रत्नसेन के मन मे चाह पैदा होती है और अलाउद्दीन के भी। अन्तर इतना है कि अलाउद्दीन के लिये वह दूसरे की विवाहिता पत्नी है;रत्नसेनके लिये अविवाहिताथी। शुक्लजी इसे अस्वाभाविक समझते है और उसका कारण बतलाते है "लौकिक प्रेम और ईश्वर-प्रेम दोनो को एक स्थान पर व्यंजित करने का प्रयत्न।" इसी तरह रत्नसेन का नाम सुनने के पहले ही पद्मावती उसके वियोग मे विकल हो जाती है जिसका कारण अलौकिक ही हो सकता है और वह कथा को कमजोर बनाता है।

नागमती का विरह-वर्णन, गोराबादल की वीरता आदि लोकजगत के व्यवहार है जिनके वर्णन के लिये शुक्लजी ने जायसी की प्रशंसा की है। जायसी के विप्रलम्भ शृङ्गार के वर्णन को उन्होने अद्वितीय कहा है। इसी तरह बारहमासा आदि की उन्होने प्रशंसा की है जिसका आधार जायसी के वर्णन की लौकिकता है। परिणाम यह निकलता है कि जायसी ने अलौकिक प्रेम का वर्णन अवश्य करना चाहा, किया भी, लेकिन उनकी महत्ता का कारण प्रेम की लौकिकता है, अलौकिकता नहीं।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि जायसी की कथा मे कुछ ऐसी मौलिक कमजोरियाँ है जो अलौकिक प्रेम का निर्वाह होने नहीं देती। पद्मावती यदि ब्रह्म है तो प्रश्न यह उठता है कि आत्मा से मिलने के लिये क्या ब्रह्म भी तड़पता है ? और रत्नसेन के मरने पर जब पद्मावती सती हो जाती है, तब क्या ब्रह्म भी आत्मा के लिये सती हो गया ?

सतियाँ भी एक नहीं दो है। दोनो ही रत्नसेन से प्रेम करती हैं। यदि नागमती सांसारिकता है तो क्या वह भी ब्रह्म और जीव के साथ जल मरी ? और "चितउर भा इसलाम" का क्या अर्थ है, क्या शरीर पर इस्लाम की विजय हुई ? इस तरह की और भी कमजोरियाँ दिखाई जा सकती है।

वास्तव मे जायसी प्रेम और शृङ्गार के कवि है। ये प्रेम और शृङ्गार मूलतः लौकिक है, उनके वर्णन का प्रभाव लौकिक है। उनका आधार मूलतः यहाँ की जनसंस्कृति है। जायसी के शृङ्गार-वर्णन मे अनेक स्थानों मे अत्युक्ति होने पर भी वह दरबारी कवियो की परम्परा से भिन्न है। शुक्लजी ने इसे अनेक बार स्पष्ट कर दिया है।

शुक्लजी ने जायसी मे जिन चीजो को दोष माना है, वे बहुधा दरबारी कवियो की पद्धति से मिलती जुलती है जैसे वस्तुओं की गिनती। पद्मावती के समागम की कुछ पंक्तियो का अश्लील होना, पद्मावती और रत्ननसेन का नीरस वाक्चातुर्य, "गूढ़बानी का दम भरने वाले मूर्ख-पंथियों के अनुकरण पर कुछ पारिभाषिक शब्दों की थिगलियां" जोड़ना, समुद्र का काल्पनिक वर्णन, सुकुमारता दिखाने के लिये अस्वाभाविक अत्युक्तियाँ, एक ही भाव और एक ही उपमा को बार-बार दोहराना—ये सब दोष ऐसे हैं जो बहुधा रीतिकालीन कवियो मे मिलते है। सुकुमारता के बारे मे अत्युक्तियो की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने बिहारी का हवाला दिया भी है। उन्होने जायसी की आलोचना स्वाभाविकता, मानव-सुलभ सहृदयता की भूमि से की है। जहाँ जायसी ने कोरा चमत्कार दिखाने की कोशिश की है। वहाँ शुक्लजी ने निडर होकर जायसी को दोषी ठहराया है। शुक्लजी का यह कार्य आलोचना-साहित्य मे यथार्थवाद की प्रतिष्ठा करता है।

अपनी भूमिका के प्रारम्भ ही मे शुक्ल जी कहते है कि प्रेम की तरंगे सभी हृदयो में समान रूप से उठती हैं, प्रिय का वियोग सभी को व्याकुल करता है, माता का हृदय सभी जगह एक सा होता है। प्रेममार्गी कवियो ने "सामान्य जीवन-दशाओ को सामने रखा" : वे जीवन-दशाओ से परे

असामान्य प्रेम का चित्रण करने के कारण प्रेम-मार्गी नही है वरन् उन्होने "प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता" पूरी की।

शुक्लजी ने जायसी की महत्ता प्रकट करने के लिये अनेक स्थलो पर अन्य कवियो से उनकी तुलना की है। कबीर आदि निर्गुण-पंथियो से उन्हे श्रेष्ठ माना है। सापेक्ष दृष्टि से निर्गुण-पंथियों से सगुण-पंथियो ने मानव जीवन का चित्रण ज्यादा अच्छा किया है। लेकिन हम देख चुके है कि निर्गुण-पंथी भी भक्त थे, उनकी भक्ति का आधार प्रेम था और शुक्लजी के ही शब्दो मे वे निम्नवर्गों की जनता के आत्म-सम्मान को जगा चुके थे। जायसी की भूमिका मे शुक्लजी ने निर्गुण पंथियो को कहीं-कहीं लोकविरोधी तक कह डाला है (उदाहरण के लिये पृ० १६४ पर)। यह उचित नहीं है; वह उन्हीं की स्थापनाओ के विरुद्ध बैठता है। शुक्लजी ने कबीर के बारे मे जायसी की यह उक्ति उद्धृत की है :

"ना-नारद तब रोइ पुकारा। एक जोलाहे सो मै हारा।
प्रेम तंत निति ताना तनई। जपतप साधि सैकरा भरई॥"

इससे यही सिद्ध नही होता कि "कबीर को वे बड़ा साधक मानते थे" वरन् यह भी कि जायसी उनकी साधना का आधार प्रेम को ही मानते थे।

जायसी ने निराला पंथ निकालने का हौसला न किया हो, लेकिन उनकी पुस्तक को बहुत लोग धर्म-ग्रन्थ के समान ही मानते थे, यह जानी हुई बात है। मध्यकाल मे जब सामाजिक संघष बहुधा धार्मिक रूप लेते रहे हो, कबीर को निराला पंथ निकालने के लिये निंदित नही ठहराया जा सकता। कबीर के लिये शुक्लजी ने लिखा है—"उन्हे बाहर जगत मे भगवान् की रूप कला नही दिखाई देती"; यह भी सही नही है और उसके विरुद्ध कबीर की पचीसों पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती है।

लेकिन शुक्लजी ने जायसी को एक हद तक कबीर की परम्परा मे रखा है, यह मानना होगा। उन्होने अपनी भूमिका का आरम्भ ही इस

वाक्य से किया है—"सौ वर्ष पहले कबीरदास हिन्दू और मुसलमान दोनो के कट्टरपन को फटकार चुके थे। पंडितो और मुल्लाओ की तो नही कह सकते, पर साधारण जनता 'राम और रहीम' की एकता मान चुकी थी।" शुक्लजी की दृष्टि मे इसी एकता के काम को जायसी आदि प्रेम-मार्गी कवियो ने और आगे बढ़ाया। रांगेय राघव आदि आलोचक शुक्लजी को ब्राह्मणवादी कहते है। इसका एक प्रमाण शुक्लजी द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता का समर्थन भी मानना चाहिये।

श्री कमल कुलश्रेष्ठ "हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य" मे शुक्लजी की उक्त स्थापना का विरोध करते हुए अपना यह मत प्रकट करते है कि जायसी आदि कवियो ने "प्रेमाख्यानो के द्वारा इस्लाम प्रचार की पृष्ठभूमि तैयार की।" उनका तर्क है कि इन कवियो के गुरू इस्लाम के प्रचारक थे और इन कवियो की "दृढ़ आस्था इस्लाम पर थी।" "ये कवि कुरान को भी पुरान कहते थे क्योकि इस तरह वे कुरान केलिये श्रद्धा उत्पन्न करवाना चाहते थे। अगर ये विद्वेष दिखलाते तो इनका भेद शीघ्र खुल जाता; "इस कारण उन्होने संभवतः सामंजस्य एवं सहिष्णुता का जामा पहिन लिया था।" कहने का मतलब यह कि ये प्रेममार्गी कवि पूरे चारसौ बीस थे, अपने धर्म का प्रचार करने के लिये इन्होने तरह-तरह के भेस बना लिये थे। कुलश्रेष्ठजी इस बात से इन्कार नही कर सकते कि इनमे सामंजस्य एवं सहिष्णुता के भाव है। लेकिन आखिर सहिष्णुता के भाव मुसलमानो मे क्यो हो? सामंजस्य की उदार भावना उनमे कैसे आ सकती है? इसलिए लेखक ने अपने ही शब्दो मे "इस मौलिक दृष्टिकोण का उद्घाटन" किया है यद्यपि दुर्भाग्यवश वह "इसके पक्ष मे अति प्रबल प्रमाण देने मे असमर्थ है"!

उसकी असमर्थता का दावा सही है लेकिन दृष्टिकोण की मौलिकता का दावा गलत है। इस दृष्टिकोण को कुलश्रेष्ठजी से पहले श्री चन्द्र-बली पाण्डेय और उनसे पहले श्री मैकडानल्ड पेश कर गये थे। श्री चन्द्रबली पांडेय ने "तसव्वुफ अथवा सूफीमत" मे लिखा है—"श्री मैक-

डानल्ड ने ठीक ही कहा है कि इसलाम के प्रचार के लिये नीतिज्ञ दरवेश प्रांतीय प्रदेशो मे जाते और अपनी उदारता तथा प्रेम के उपदेशो से कतिपय व्यक्तियो को मूंड़ लेते थे।"

इसके विपरीत शुक्लजी की धारणा है कि "खलीफा लोगो के कठोर धर्म शासन के बीच भी सूफियो की प्रेममयी वाणी ने जनता को भाव-मग्न कर दिया।" मंसूर जैसे लोगो ने जो सूली पायी, वह कट्टरता का विरोध करने के ही कारण। जायसी मुसलमान थे, इस्लाम मे उनकी आस्था थी, इसमे कोई संदेह नही जैसे सूर और तुलसी हिन्दू थे और राम और कृष्ण मे उनकी आस्था थी, इसमे कोई सन्देह नहीं। कबीर भी—जिन्होने हिन्दुओ और तुर्कों को खूब खरी-खोटी सुनाई है—इस बात पर गर्व प्रकट करते है कि वह रामानन्द के चेले है और राम की बहुरिया है। कुलश्रेष्ठजी के तर्क के अनुसार कबीर भी रामानन्द के छिपे हुए दलाल थे और धार्मिक कट्टरता को फटकार कर वास्तव मे हिन्दुओ की राम-भक्ति का प्रचार करना चाहते थे। वास्तविकता यह है कि ये सभी कवि हमारी जातीय संस्कृति के निर्माता है क्योकि इनके चिन्तन और भावना का मूल तत्व प्रेम है। कुछ विद्वानो की समझ मे यह बात नहीं आती, इससे हम समझ सकते है कि शुक्लजी अपने समय के कितने प्रगतिशील विचारक थे।

जो लोग शुक्ल जी मे एकाङ्गी समाजशास्त्री दृष्टि कोण देखते है (शिवदानसिह चौहान आदि), उन्हे जायसी की भूमिका मे पद्मावत के कलात्मक पक्ष का विवेचन ध्यान से पढ़ना चाहिये। शुक्ल जी ने पद्मावत की कथावस्तु के गठन की इसलिये प्रशंसा की है कि "घटनाओ को आदर्श परिणाम पर पहुँचाने का लक्ष्य कवि का नहीं है।" उनका तर्क यह है कि कवि का यह लक्ष्य होता तो वह राघव चेतन का बुरा परिणाम भी दिखाता। राघव चेतन का यह परिणाम न दिखाकर "संसार की गति जैसी दिखाई पड़ती है वैसे ही उन्होने रखी है।" इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी कथावस्तु के कलात्मक निर्वाह को भी यथार्थवाद के आधार पर परखते है, उसके सौदर्य के लिये स्वाभाविकता की कसौटी मानते है।

कथावस्तु में वह संबन्ध-निर्वाह की मांग करते है। कथा की घटनाएँ परस्पर संबद्ध होनी चाहिये। रामचंद्रिका जहाँ फुटकर पद्यो का संग्रह लगता है, वहाँ पद्मावत का प्रवाह खंडित नही है। पद्मावत मे जो प्रासंगिक वृत्त है, वे भी मूलकथा के आश्रित है? कथावस्तु के गठन का विवेचन करते हुए शुक्ल जी ने इस बात की सुन्दर मिसाल रखी है कि अरस्तू जैसे पाश्चात्य आलोचको के काव्य-सिद्धान्तो को किस तरह रचनात्मक ढंग से भारतीय काव्य की आलोचना करते हुए लागू किया जा सकता है।

शुक्लजी ने जायसी की सरस भाषा, प्रभावशाली वर्णन-शैली आदि की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। अनेक उदाहरण देकर उन्होंने जायसी की कलात्मक प्रतिभा का मर्म प्रकट किया है। कवि की भोली-भाली और प्यारी भाषा और उसकी स्वाभाविक उक्तियो की वह दाद देते है। केवल वर्णन का सहारा न लेकर जायसी जहाँ सौन्दर्य के प्रभाव का उल्लेख करके चित्र आँकते है, उसकी कई मिसाले देकर ( बेनी छोरि झार जौ बारा आदि ) शुक्ल जी कहते है :

"केशो की दीर्घता, सघनता और श्यामलता के वर्णन के लिये सादृश्य पर जोर न देकर कवि ने उनके प्रभाव की उद्भावना की है। इस छाया और अन्धकार में माधुर्य और शीतलता है, भीषणता नहीं।" शुक्लजी के कलात्मक विवेचन का यह एक अच्छा उदाहरण है।

तुलसी की अपेक्षा जायसी मे चरित्र-चित्रण की विविधता और संजीवता की कमी है, यह स्पष्ट ही है। जहाँ तुलसी की पहुँच "मनुष्य के सर्वतोमुख उत्कर्ष" तक है, वहाँ जायसी के पात्रो मे व्यक्तिगत और वर्गगत विशेषताएं उभर कर नही आई। व्यक्ति और वर्ग की बात उठाकर शुक्लजी ने उसी यथार्थ की माँग की है जिसे अनेक दूसरे आलोचक "इण्डिविजुअल और टाइप की एकता" कहते है। शुक्लजी ने "पद्मावती" के पात्रों के विवेचन मे इसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से काम लिया है। चरित्र-चित्रण स्वाभाविक हुआ है, इतना न कहकर उन्होंने रत्नसेन को एक आदर्श प्रेमी और राजपूत योद्धा के रूप मे देखा है। जायसी द्वारा

उसके चित्रण का विश्लेषण करते हुए उन्होंने उसके जातिगत स्वभाव और प्रेमी के व्यापक रूप-दोनों की छानबीन की है। इसी तरह पद्मावती में उसकी "व्यक्तिगत दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता" तथा उसके "स्त्री सुलभ प्रेमगर्व और सपत्नी के प्रति" ईर्ष्या का उल्लेख किया है। जायसी ने पद्मावती के सती होने का वर्णन किया है और उसमें प्रेम की अनन्य परिणति भी देखी है। कबीर ने भी ईश्वर-प्रेम की तुलना सती से की है। शुक्लजी साधारणतः स्त्री-पुरुष के लिये एक ही नियम मानते हैं, इसलिये सती होने को आदर्शरूप में पेश करना उन पर पुराने संस्कारों का प्रभाव समझना चाहिये। उन्होंने जायसी के अलंकारों का विवेचन करके दिखाया है कि अलंकारों से उसका भाव सौन्दर्य कैसे बढ़ता है। अलंकारों की लम्बी सूची देकर वह उसी दोष के भागी हुए हैं जो उन्होंने जायसी में देखा था।

शुक्लजी ने जायसी की भाषा को उचित ही ठेठ अवधी कहा है। ठेठ पूरबी अवधी के शब्दों का व्यवहार जायसी ने तुलसी से भी ज्यादा किया है। यह मत प्रकट करने के बाद शुक्लजी ने उसके कलात्मक परिणामों पर भी विचार किया है। तुलसी में भाषा-सौन्दर्य की विविधता है, जायसी में "अवधी की खालिस, बेमेल मिठास" है।

यह कहना असंगत न होगा कि भाषा की यह स्थानीयता जायसी की सीमित लोकप्रियता का एक कारण है।

शुक्लजी ने जायसी की वाक्य रचना पर भी विचार किया है; उनकी भाषा को "केशव के अनुयायी" "फुटकलिये कवियों की भाषा से" स्वच्छ और व्यवस्थित बतलाया है। फिर भी न्यूनपदत्व आदि वाक्यदोष भी दिखलाये हैं जिनसे अनेक स्थानों पर जायसी दुरूह हो गये हैं।

इस तरह शुक्लजी ने भाषा, कथावस्तु, गठन, चरित्र चित्रण, अलंकार-योजना आदि पर विस्तार से विचार किया है और उन पर एकाङ्गी समाजशास्त्री आलोचक होने का आरोप झूठा साबित होता है। शुक्ल जी का दृष्टिकोण एकाङ्गी नहीं है, वह कलापक्ष पर भी बल देता है। वास्तव में उन्होंने जायसी आदि कवियों में जो जातीय संस्कृति के तत्व

ढूंढ़े है, उन्हे जिस तरह व्यापक मानवता का कवि कहा है, वह शुक्लजी के आलोचको को पसन्द नही है।

शुक्लजी ने यह भूमिका केवल साहित्य के विद्यार्थियो के लिये नहीं लिखी। उसमे जायसी के भूगोल, ज्योतिष, इतिहास आदि की जानकारी की चर्चा उन सब लोगो के लिये भी शिक्षाप्रद होगी जो भारत के सांस्कृतिक इतिहास से दिलचस्पी रखते हैं।

शुक्लजी ने जायसी की भूमिका लिखकर हिन्दी साहित्य के इतिहास को और शृंखलाबद्ध किया, हमारे सांस्कृतिक इतिहास के ज्ञान को और समृद्ध किया। उन्होने कबीर के समान जायसी को हिन्दू-मुस्लिम एकता और व्यापक मानववाद का कवि माना। जायसी आदि को साम्प्रदायिक भावना से परखने वालो का उन्होंने खंडन किया। उन्होंने इन प्रेम मार्गी कवियो के लिये दावा किया कि वे रीति-कालीन कवियो से श्रेष्ठ है। यथार्थवाद की भूमि से उन्होने जायसी का मूल्याङ्कन करके उर्दू-हिन्दी दोनों की दरबारी कविता की अस्वाभाविकता दिखलाई और जायसी को मानवसुलभ प्रेम का कवि घोषित किया। उन्होने जायसी का यह उद्देश्य बतालाया कि अलौकिक प्रेम का चित्रण करें लेकिन उन्होने अपने विवेचन से जायसी के लौकिक प्रेम के चित्रण पर बल दिया और उसीके लिये उनकी महत्ता स्वीकार की। शुक्लजी निर्गुणपंथ को सगुणपथ के बराबर प्रगतिशील न मानते थे। इसलिये कहीं-कहीं कबीर आदि पर उन्होने ऐसे आक्षेप भी कर दिये है जो सही नहीं माने जा सकते। सूफीमत के प्रभाव को आंकते हुए कहीं-कही उन्होने यहीं की मूल धाराओ का महत्व कम करके आंका है। फिर भी यह सही है कि शुक्लजी ने प्रेम-तत्व और माधुर्य-भाव की भारतीय पृष्ठभूमि का उल्लेख किया है और जायसी के मूलाधार जनसंस्कृति के तत्वो की ओर भी संकेत किया है। इस कारण यह भूमिका न केवल जायसी को समझने के लिये वरन् समूचे मध्यकालीन साहित्य के विकास को समझने के लिये बहुत सहायता देती है। उसमे भाषा-संबन्धी विवेचन, साहित्यक सिद्धान्तो की चर्चा और शुक्लजी के व्यक्तित्व की छाप उसे उनकी श्रेष्ठ आलोचनाकृति बना देते है।

---

# भक्ति का विकास और सूरदास

"भक्ति का विकास" शुक्लजी के श्रेष्ठ दार्शनिक निबंधो मे से है। मध्यकालीन साहित्य की दार्शनिक पृष्ठ भूमि समझने के लिये इसे अनिवार्य पाठ्यसामग्री समझना चाहिये। यहाँ उन्होने भारतीय भक्ति या प्रेम-मार्ग का ऐतिहासिक विकास दिखलाया है और प्राचीन धर्म और दर्शन को समझने के लिये एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी हमे दिया है। यद्यपि यह निबन्ध उनकी सूर-संबन्धी आलोचना के साथ छपा है*, फिर भी तुलसी, कबीर आदि अन्य कवियो का अध्ययन करने के लिये वह समानरूप से आवश्यक है।

धर्म के अध्ययन मे शुक्लजी का क्रान्तिकारी दृष्टिकोण इस बात मे दिखाई देता है कि उन्होने ईश्वर-संबन्धी मनुष्य की कल्पना को विकास-मान स्वीकार किया है। ईश्वर और धर्म को समझने के लिये उन्होने सामाजिक विकास के अध्ययन का रास्ता अपनाया है। उनका दृष्टिकोण एक बुद्धिवादी और समाजशास्त्री का है, न कि रहस्यवादी और कल्पना-वादी दार्शनिक का। मनुष्य की तमाम धारणाओ की तरह उसकी ईश्वर-

---

* सूरदास, लेखक आचार्य रामचद्रशुक्ल, सपादक विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बनारस, तृतीय संस्करण।

संबन्धी धारणा का भी एक इतिहास है। शुक्लजी ने सबसे पहले आदिम असभ्य जातियो को लिया है। इनके उपास्य वनदेवता, ग्रामदेवता, कुल-देवता आदि होते है। ये देवता पूजा पाकर रक्षा और कल्याण करते है और पूजा न मिलने पर रुष्ट हो जाते है और अनिष्ट करते है। आदिम जातियो का मानव इसी जीवन मे जो दुख-सुख पाता था, उसकी व्याख्या के लिये परोक्ष सत्ता की कल्पना करता था। इसलिये वन-देवता, कुल-देवता आदि की पूजा का चलन हुआ। शुक्लजी कहते है: "जो आदिम जातियाँ असभ्य या वन्यदशा मे थीं उनकी परिमित भावना स्थानबद्ध या कुलबद्ध देवी-देवताओ तक ही रहती थी। वे इससे बड़े देवता की व्यापक भावना नहीं रखती थीं।" यहां शुक्लजी ने देव-संबन्धी मानव-कल्पना का आधार उसका सामाजिक जीवन बतलाया है। आदिम जातियो का मानव अलग-अलग कुलबद्ध या स्थानबद्ध देवताओं की कल्पना क्यो करता था, उसकी भावना व्यापक न होकर परिमित क्यो होती थी? शुक्लजी का उत्तर है कि यह असभ्य जातियो की वन्यदशा के कारण है।

शुक्ली का दृष्टिकोण उन क्लासिवादी कवियों से कितना आगे बढ़ा हुआ है जो विज्ञान का विरोध करने के लिये असभ्य जातियो के टोने-टटको, उनके परोक्ष-चिन्तन और तरह-तरह के अन्धविश्वासों को अलौकिक शक्ति का प्रमाण बतलाते है। इस तरह के कवि भारतीय संस्कृति की बहुत दुहाई देते है। शुक्लजी के दृष्टिकोण से उनकी धारणाओं का मिलान करने पर हम इसी नतीजे पर पहुँचते है कि इन लोगों की दुहाई विज्ञान का विरोध करने के लिये है, वास्तव में इन्हे भारतीय संस्कृति से प्रेम नहीं है वरन् आदिम जातियो के जादू-टोनों से सच्चा प्यार है। ये लोग वैज्ञानिक ढंग से प्राचीन संस्कृति का अध्ययन न कर पाने पर उसे भी जादू-टोनो के स्तर पर ले आते है।

शुक्लजी ने प्राचीन कुलदेवताओ आदि से यहूदियो के एकेश्वरवाद का विकास दिखाया है। मूसा ने एक साधारण कुलदेवता यह्वा मे ही "सर्वज्ञता का आरोप" किया और लालसमुद्र के पास बसने वाली जातियों

मे "कुलदेवता की भावना 'एकेश्वरवाद' ( Monotheism ) तक पहुँचाई गई।" एकेश्वरवाद का इलहाम नहीं हुआ, कुलदेवता की भावना ही एकेश्वरवाद तक पहुँचाई गई। यह एकेश्वरवाद के ऐतिहासिक विकास की ओर संकेत है।

इधर भारत की जातियो ने सूर्य, चंद्र, अग्नि, वायु आदि को उपास्य ठहराया था। ये शक्तियां उपकार भी करतीं थी, अनिष्ट भी। "आगे चलकर उन सब देवताओ का तत्वदृष्टि से एक मे समाहार करके 'ब्रह्मवाद' (Monism) की प्रतिष्ठा हुई।" ब्रह्म ने भी किसी को स्वप्न मे दर्शन देकर अपनी सत्ता प्रकट नही की, ब्रह्मवाद की धारणा का भी ऐतिहासिक विकास हुआ। यह धारणा उन प्राकृतिक शक्तियों के "समाहार" से हुई जिनसे मनुष्य को उपकार और अनिष्ट की आशा और आशंका रहती थी। शुक्लजी ने "मोनिज्म" और "मोनोथीज्म" मे भेद क्या है। उनके लिये ब्रह्मवाद और एकेश्वरवाद एक ही वस्तु नहीं हैं। इसका कारण यह है कि शुक्लजी संसार से परे स्वर्ग मे रहने वाले, विश्व के नियामक किसी ईश्वर नाम की सत्ता पर विश्वास नही करते, उनका ब्रह्म इस वास्तविक जगत् से भिन्न नही है, विश्व के विभिन्न रूप एक ही सत्ता और शक्ति के रूप है, वह सत्ता या शक्ति उन रूपो से परे नही है।

शुक्लजी "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" वाले प्रसिद्ध वैदिक मंत्र को उद्धृत करके बतलाते है कि "मंत्रकाल मे ही अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र इत्यादि एक ही ब्रह्म के नानारूप माने जा चुके थे।" शुक्लजी के दृष्टिकोण मे और वेदो को अलौकिक मानने वालो के दृष्टिकोण मे जो अंतर है, वह स्पष्ट दिखाई देता है। अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र आदि ब्रह्म के अलग-अलग नाम नहीं है वरन् उसके अलग-अलग रूप है। इन अलग-अलग रूपो का "समाहार" करके ही ब्रह्म की धारणा का विकास हुआ।

अग्नि, वायु आदि प्रत्यक्ष जगत् की शक्तियाँ थी। मनुष्य अपनी जीवन-रक्षा मे इनकी प्रत्यक्षभूमिका देखता था। उनके प्रत्यक्ष प्रभाव के आधार पर उसने उनके परोक्ष प्रभाव की भी कल्पना की। दैत्यो और दस्युओं का पराभव भी "उन्हीं के परोक्ष प्रभाव" का फल समझा जाता

था और बाढ़, अकाल आदि का कारण भी "उन्हीं का कोप समझा जाता था।" कहना न होगा कि स्वयं शुक्लजी बाढ़ या अकाल को किसी परोक्ष सत्ता के कोप का परिणाम नहीं समझते।

मंत्रकाल के बाद वह उपनिषत् काल को लेते हैं जब "एक ब्रह्म की भावना पूर्णता को पहुँची।" ब्रह्म की "भावना" का उत्तरोत्तर विकास हो रहा था। वह तैत्तिरीयोपनिषद् से यह उद्धरण देते हैं कि ब्रह्म की उपासना "अन्न, प्राण, मन, ज्ञान और आनन्द" इन रूपों में करनी चाहिए। इस तरह की उपासना का अर्थ क्या है? शुक्लजी के शब्दों में "अन्नोपासना ब्रह्म को अपनी अन्तस्सत्ता के बाह्य जगत् में देखने का विधान है। मन ज्ञान आदि के रूप में उपासना अपनी अंतस्सत्ता के भीतर देखने का विधान है। बाहर और भीतर दोनों ओर ब्रह्म को देखने पर ही पूर्णोपासना हो सकती है।" इस तरह शुक्लजी ने अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् की एकता स्थापित की है। उनके लिये ब्रह्मवाद बाह्य जगत को अस्वीकार करना नहीं है, उसे माया, भ्रम, मिथ्या कहना नहीं है वरन् मनुष्य के मन, ज्ञान आदि और बाह्य जगत् की एकता स्वीकार करना है। शुक्लजी ने उपनिषदों के ब्रह्मवाद की जो व्याख्या की है, वह मायावादियों की व्याख्या से भिन्न है। उपनिषदों के इसी ब्रह्मवाद से उन्होंने भारतीय भक्ति-मार्ग का सम्बन्ध जोड़ा है। लिखा है, "भारतीय भक्ति-मार्ग में यही पूर्णोपासना की पद्धति ग्रहीत हुई है। इस मार्ग के भक्त केवल अपने मन के भीतर ही ब्रह्म को नहीं देखते बाहर भी देखते हैं।" इसीलिये भक्ति-मार्ग योगियों और मायावादियों के मार्ग से भिन्न है। शुक्लजी ने एकबार फिर भक्ति और योग का अन्तर दिखलाते हुए कहा है: "केवल स्वान्तःस्थ ब्रह्म की ओर उन्मुख योगमार्गियों की देखादेखी निर्गुणपंथी भक्त अलबत यह कहते पाये जाते हैं कि बाहर वह नहीं मिल सकता, अपने भीतर देखो।" इन योगमार्गियों के विरुद्ध वह तुलसीदास की यह मार्मिक उक्ति रखते हैं:

"अन्तर्जामिहु ते बढ़ि बाहरजामी है राम जो नाम लिये तें।
पैज परे प्रहलादहु पै प्रगटे प्रभु पाहन तें न हिये ते॥"

यदि कोई कहे कि वैज्ञानिक भौतिकवाद अपने को बाह्य जगत् तक सीमित रखता है, इसलिये एकाङ्गी है, तो यह धारणा ठीक न होगी। वैज्ञानिक भौतिकवाद मनुष्य के अन्तर्जगत् को अस्वीकार नहीं करता; वह उसे बाह्य जगत् की ही प्रतिच्छवि मानता है। जैसा कि शुक्लजी ने रस-मीमांसा मे लिखा है : "ज्ञानेन्द्रियो से समन्वित मनुष्यजाति जगत् नामक अपार और अगाध रूप समुद्र मे छोड़ दी गई है। न जाने कबसे वह इसमे बहती चली आ रही है। इसी की रूप-तरंगों से उसकी कल्पना का निर्माण और इसी की रूपगति से उसके भीतर विविध मनोविकारों का विधान हुआ है।" (रस मीमांसा, पृ० २५६)। मनुष्य की कल्पना, भावो, मनोविकारो का विधान बाह्य जगत् द्वारा हुआ है, मनुष्य स्वयं इस वास्तविक जगत् का अङ्ग है, यही अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् की लौकिक एकता है।

भक्तो ने बहुधा ब्रह्म की उपासना विष्णुरूप में की। शुक्लजी अनेक भक्तो की तरह विष्णु को कोई वास्तविक देवता नही मानते वरन् कहते है : "इसी अङ्गोपासना की पद्धति से ब्रह्म की भावना विष्णु रूप मे प्रतिष्ठित हुई।" उपनिषदो की ब्रह्मोपसना का ही विकसित रूप विष्णु की उपासना है। विष्णु के रूप मे भी परिवर्तन होता रहा है। पहले विष्णु सूर्य के प्रतीक थे, फिर "नरसमष्टि का आश्रय" लेकर "नराकार भावना" नारायण के रूप मे हुई। शुक्लजी ने यहाँ यह प्रश्न उठाया है कि ब्रह्म की उपासना लोक-पालक विष्णु के रूप मे क्यो हुई। यहाँ संसार के प्रलय और नयी सृष्टि के सिद्धान्त के बदले शुक्लजी ने विश्व की नित्यता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। संसार मे जन्म-प्रलय का क्रम बराबर चला करता है लेकिन इस क्रम का परिणाम विश्व की नित्य स्थिति है, उसका विनाश नहीं। लिखा है : "विश्व के भीतर असंख्य खंड प्रलय होते रहते है–न जाने कितने लोक नष्ट होते रहते है—पर समष्टि रूप मे विश्व या जगत् बराबर चला चलता है।" विश्व को अनित्य कहने वालो के विपरीत शुक्लजी द्वारा यह उसके नित्यत्व की घोषणा है।

कठ, मुडक आदि उपनिषदो से उद्धरण देकर शुक्लजी ब्रह्म के दो

रूपो, सगुण और निर्गुण की धारणा का इतिहास बतलाते है। उपनिषदो मे ब्रह्म को कहीं सगुण और व्यक्त कहा गया है और कहीं निर्गुण और अव्यक्त। बहुत जगह उसे उभयात्मक भी कहा गया है। भारतीय भक्ति-मार्ग "यह उभयात्मक स्वरूप ग्रहण करके चला।" उसके लिये सगुण और निर्गुण "दोनो रूप नित्य और सत् है।"

लेकिन शुक्लजी इससे आगे बढ़कर कहते है कि सगुण और निर्गुण का यह भेद वास्तविक नही। सगुण-निर्गुण की यह व्याख्या ध्यान देने योग्य है: "जहाँ तक ब्रह्म हमारे मन और इन्द्रियो के अनुभव मे आ सकता है वहाँ तक हम उसे सगुण और व्यक्त कहते है। पर वही तक उसकी इयत्ता नही। उसके आगे भी उसकी अनन्त सत्ता है जिसके लिये हम कोई शब्द न पा कर निर्गुण, अव्यक्त आदि निषेध वाचक शब्दो का आश्रय लेते है।" प्राचीन दर्शन का अध्ययन करने के लिये यह सूत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार अव्यक्त या निर्गुण ब्रह्म इस दृश्य जगत् से भिन्न नही है वरन् उसीका वह क्रम है जिसे मनुष्य का सीमित ज्ञान अपने मे समो नही पाया। जो अनुभव मे आया, वह तो व्यक्त जगत् हुआ, जो अनुभव मे नही आया, वह अव्यक्त ठहरा। इसीलिए नेति नेति कहकर यह संकेत किया गया कि जितना अनुभव मे आया, उतना ही सब कुछ नहीं है। इसीलिए "जिस सगुण और व्यक्त रूप की भक्त उपासना करता है वह असत्, भ्रम या मिथ्या नही है।"

यदि अव्यक्त और निर्गुण वह विश्व है जो हमारे अनुभव मे नही आया, तो उसके लिये ज्ञात विश्व से भिन्न नियमो की घोषणा नहीं की जा सकती। इसलिए शुक्लजी की यह स्थापना सही नही ठहरती, "व्यक्त और सगुण की नित्यता प्रवाह रूप है; अव्यक्त और निर्गुण की स्थिर।" यदि अव्यक्त वह विश्व है जो हमारे अनुभव मे नही आया तो यह कैसे पता लगा कि वह स्थिर है? यदि ज्ञात और अज्ञात की एकता वास्तव मे है तो क्या यह अधिक संभव नही कि ज्ञात विश्व की गतिशीलता का नियम अज्ञात विश्व पर भी लागू हो?

"नेति नेति" की व्याख्या दो तरह से की गई। शुक्लजी के अनुसार

जो विशुद्ध निर्गुणवादी थे, वे इसका यह अर्थ करने लगे कि जो कुछ व्यक्त और गोचर है, वह असत् और मिथ्या है लेकिन भक्ति-मार्गी उसका यह अर्थ लगाते रहे कि ज्ञात विश्व ही सब कुछ नही है, उसके आगे भी है। उपनिषदो मे ब्रह्म के लिये व्यक्ताव्यक्त शब्द का प्रयोग किया गया है। उसका अर्थ भी यह है कि "अव्यक्त की ही अभिव्यक्ति यह व्यक्त दृश्य जगत् है।" यह अभिव्यक्तिवाद भक्ति-मार्ग की विशेषता है। शुक्लजी के अनुसार वह सूफीमत से थोड़ा भिन्न है। सूफियो का प्रतिबिंबवाद संसार को ब्रह्म की छाया कहता है जब कि अभिव्यक्तिवाद उसे ब्रह्म का ही प्रकाश कहता है। "अभिव्यक्तिवाद के अनुसार यह दृश्य जगत् भी ब्रह्म ही है। उसकी छाया नहीं।" इसके समर्थन मे शुक्लजी ने गीता से श्रीकृष्ण की यह उक्ति उद्धृत की है कि जगत् मे जो कुछ ऊर्जित और दिव्य दिखाई दे रहा है, वह मै ही हूँ। इस पर शुक्लजी की टिप्पणी है: "इसका तात्पर्य यही है कि संपूर्ण जगत् ब्रह्म ही है पर हमारा परिमित ज्ञान ऐसा है कि उसके गोचर होने योग्य ब्रह्मत्व हमे सर्वत्र नही दिखाई पड़ता।" संपूर्ण जगत् का ही दूसरा नाम ब्रह्म है। हमारा ज्ञान परिमित है। इसलिए उसके गोचर होने योग्य ब्रह्मत्व हमे सब जगह नही दिखाई पड़ता। गीता की उसी उक्ति पर शुक्लजी ने आगे चलकर एक बार फिर टिप्पणी की है: "इस वचन मे इस बात का संकेत है कि उपास्य को बिलकुल परोक्ष रखकर उपासना करने की आवश्यकता नही। यह जगत् ब्रह्म से भिन्न नही है अतः इसी मे उपासना और भक्ति करने के लिये भगवान् की प्रत्यक्ष कला मिल जायगी।" शुक्लजी ने भागवत मे "इसी तथ्य का स्पष्टीकरण" दिखलाया है, इन्द्र के बदले गोवर्धनादि की पूजा का यही रहस्य है। इसीलिये भक्ति-मार्ग मे परोक्षता का "परिहार" किया गया। सूर आदि कवियो ने ब्रह्म को जो कही-कही त्रिगुणातीत कहा है, उसके बारे मे शुक्लजी का कहना है कि वह भक्तो के हृदय की स्थायी वृत्ति नही। भक्त प्रकृति को ब्रह्म से अलग नहीं करता।

शुक्लजी के सारे विवेचन से यह बहुत ही स्पष्ट हो जाता है कि संसार सत्य है या मिथ्या—इस मूल प्रश्न पर उन्होने बिना झिझके हुए यह मत

प्रकट किया है कि यह संसार सत्य है। इस मत का इतिहास उन्होंने वेद और उपनिषदों का हवाला देकर दिखलाया है और इसी मत से उन्होंने भक्तिमार्ग का सम्बन्ध जोड़ा है। शुक्लजी का यह दृष्टिकोण मूलत सही है, वैज्ञानिक है और वह एकमात्र दृष्टिकोण है जिससे हम भारतीय दर्शन के प्रगतिशील तत्वो का उद्घाटन कर सकते है। शुक्लजी उन तमाम "अध्यात्मवादियो" के साथ नही है जो भारतीय चिन्तन की सबसे बड़ी और उसकी निजी विशेषता यह बतलाते है कि वह संसार को मिथ्या कहता है और परोक्ष को एकमात्र सत्य मानता है। भारतीय संस्कृति के नाम पर इस परोक्षवाद का खूब प्रचार हुआ। शुक्लजी ने दिखलाया है कि एक भारतीय संस्कृति और है जो संसार को मिथ्या नहीं मानती, जो परोक्ष की उपासना नही करती, जिसके लिये ब्रह्म इस सम्पूर्ण जगत् का ही दूसरा नाम है। शुक्लजी के विवेचन से यह भी पता चलता है कि यह धारा भारतीय संस्कृति की कोई दीन-क्षीण, अलग पड़ी हुई शुष्क, और निर्जीव धारा नही है। वह भारतीय संस्कृति की मौलिक प्रशस्त और सरस धारा है जिसके आधार पर भक्ति-आन्दोलन जैसा सशक्त सांस्कृतिक आन्दोलन और सूर और तुलसी का सा लोकप्रिय साहित्य निर्मित हुआ।

बीसवी सदी मे अनेक पच्छिमी विद्वानो ने परोक्षवाद, मायावाद आदि को भारतीय संस्कृति की विशेषता कहकर उसकी खूब दाद दी है। इससे उनका यह हित होता था कि भारतीय जनता जब संसार को ही मिथ्या समझती थी, तब अपनी स्वाधीनता के लिये, नये समाज के लिये और अपनी जातीय संस्कृति के उत्थान के लिये क्यो लड़ेगी। शुक्लजी के युग मे रहस्यवाद का काफी प्रचार हुआ। बड़े-बड़े दार्शनिक कवि और राजनीतिज्ञ, पच्छिम के अनेक महिमा-मण्डित विद्वान् उसका समर्थन कर रहे थे। लेकिन शुक्लजी ने इन सब के संयुक्त मोर्चे से आतंकित न होकर दृढ़ता से अपनी धारणाएं जनता के सामने रखीं, भारतीय साहित्य और देश के सांस्कृतिक विकास को समझने का एक नया दृष्टिकोण दिया।

रहस्यवाद के प्रभाव के ही कारण बहुत से विद्वान् मध्यकालीन साहित्य मे विचारधाराओ के संघर्ष को समझने मे प्रायः असमर्थ रहे है। उन्होने मत-मतान्तरो के पेचदार विवेचन मे इस मूल संघर्ष को भुला दिया है। ये दो विचारधाराएं कौन सी थी? एक विचारधारा संसार को मिथ्या समझने की थी, दूसरी उसे सत्य समझने की थी, ये विचारधाराएं सदा ही बहुत स्पष्ट रही हो, यह बात नही है। लेकिन उनका तत्व यही था, इसमे संदेह नहीं। संसार को मिथ्या समझने वाली विचारधारा के नेता थे शंकराचार्य; संसार को सत्य समझने वाली विचार धारा के नेता थे, रामानुज, मध्व, निम्बार्क और बल्लभ। रामानुज आदि विचारकों मे परस्पर मतभेद भी था लेकिन उन सभी का झुकाव मायावाद का बिरोध करने की ओर था। भक्ति-आन्दोलन पर मुख्यतः इन्हीं विचारकों का प्रभाव था। शुक्लजी उनका उल्लेख करने के बाद कहते है: "इन सब आचार्यों का सामान्य प्रयत्न शंकराचार्य के मायावाद अर्थात् जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिषेध था।"

जगत् का मिथ्यात्व एक तरफ उसका प्रतिषेध दूसरी तरफ, इन दो विचारधाराओ के संघर्ष को समझे बिना मध्यकालीन संस्कृति के विकास को समझना असंभव है। यह बात आकस्मिक नही है कि भक्त-कवियो ने मानव-जीवन, मानव-संबन्धो और मानव-स्वभाव के वे चित्र हमे दिये जो पहले के "ज्ञानी" अपनी कृतियो मे न दे सके थे। इसका कारण यह था कि ये "ज्ञानी" परोक्ष के ज्ञानी थे, प्रत्यक्ष के अज्ञानी। सरस साहित्य की रचना मानव-जीवन और मानव-संबन्धो को भुलाकर नही हो सकती; किसी न किसी रूप मे इन्हे सत्य मानकर ही वैसा साहित्य रचा जा सकता है। शुक्लजी ने लगातार योग और मायावाद का विरोध करते हुए प्रत्यक्ष जगत् की सत्ता का प्रतिपादन करते हुए उपर्युक्त तथ्य को बहुत ही साफ सुथरे ढंग से हमारे सामने रखा है।

श्री वल्लभाचार्य पर अपने निबन्ध में शुक्लजी ने उसी स्थापना को दोहराया है: "यह सूचित किया जा चुका है कि रामानुज से लेकर बल्लभाचार्य तक जितने भक्त दार्शनिक या आचार्य हुए हैं सब का लक्ष्य

शंकराचार्य के मायावाद या विवर्तवाद को हटाने का था जिसके भीतर उपासना या भक्ति अविद्या या भ्रान्ति ही ठहरती थी।"

इसी कारण सूर की गोपियो ने ज्ञानी ऊधो और उनकी निर्गुणब्रह्म की उपासना, योग आदि पर व्यंग्य किया है। मध्यकालीन कवियो के लिये "ज्ञानी" शब्द बहुत कुछ "मायावादी" का पर्याय हो गया था। इनका ज्ञान एक ओर दार्शनिक शब्दजाल मे उलझा होता था, दूसरी ओर वह लोक-जीवन मे अव्यवहार्य भी था। शुक्लजी "याकी सीख सुनै ब्रज को रे" आदि सूर की पंक्तियां उद्धृत करते हुए कहते है: "ज्ञानमार्गी वेदान्तियो और दार्शनिको के सिद्धान्तो की लोक मे अव्यवहार्य्यता तथा उनके बेडौल और भड़कीले शब्दो के अर्थों की अस्पष्टता और दुर्बोधता आदि की ओर गोपियो की यह झुँझलाहट कैसा संकेत कर रही है।"

सूर और तुलसी पर मायावाद का बिल्कुल असर न हुआ हो, यह बात नही है। उन पर उसका भी असर है लेकिन उससे उनकी मूल प्रवृत्ति कुंठित नहीं होनी और वह मूल प्रवृत्ति मायावाद का प्रतिषेध है। शुक्लजी ने कबीर को इस धारा से प्रायः बाहर रखा है लेकिन कबीर ने भी शुद्ध निर्गुणवाद का बहुत जगह विरोध किया है। इसलिये उन्हे इस धारा के बाहर रखना ठीक नहीं। कबीर और सूर दोनो ही जब ज्ञानियो पर व्यंग्य करते है तो उनके सामने ज्ञानियो के रूप मे अक्सर योगी और मायावादी ही रहते हैं। सूर और कबीर की यह सामान्य दार्शनिक भूमि है।

कबीर कहते है: "पांड़े न करसी वाद-बिवादं।
या देही बिन सबद न स्वादं ॥"

"तन छूटे जिव मिलन कहत है, सो सब झूठी आसा।
अबहुँ मिला तो तबहुँ मिलेगा, नहिं तो जमपुर बासा ॥"
"भीतर कहूँ तो जगमय लाजै, बाहर कहूँ तो झूठा लो।
बाहर-भीतर सकल निरंतर, चिह्न-अचित दोउ पीठा लो ॥"
"घर मे जोग भोग घर ही में, घर तज वन नहि जावै।"

इत्यादि।

इन उक्तियो का आधार वही ब्रह्मवाद है जिसका शुक्लजी ने विवेचन किया है। इनसे मिलती जुलती सूर की बहुत सी पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती है।

शुक्लजी ने उपनिषदो, गीता, भागवत आदि मे ब्रह्मवाद का विवेचन करने के साथ-साथ "ज्ञान" प्राप्त करने के अबौद्धिक मार्गो का भी खण्डन किया है। उन्होने योरप के रहस्यवादियो का विरोध किया है जो ज्ञान के लिये "बुद्धि-व्यवसाय से एक स्वतंत्र साधन 'स्वानुभूति' ( Intuition ) का प्रचार" करते रहे है। उन्होने एडवर्ड कार्पेंटर का हवाला दिया है जिसने "वर्तमान समय की उस वैज्ञानिक प्रवृत्ति का विरोध किया है जिसमे बुद्धि क्रिया ही सब कुछ मानी गई है। उन्होने फ्रान्सीसी दार्शनिक बर्गसो का उल्लेख किया है जिसने बुद्धि क्रिया को भ्रान्तिजनक बताकर स्वानुभूति ( Intuition ) की हिमायत की थी। उन्होने उर्दू कवि अकबर की यह पंक्ति भी उद्धृत की है : मैं मरीजे होश था, मस्ती ने अच्छा कर दिया।

शुक्लजी ने इस तरह के अबुद्धिवाद का विरोध किया है। "बुद्धि-रोग से छुटकारा" पाने वालो के मुकाबले मे उन्होने यहाँ के भक्ति-मार्गियों को रखा है जिनकी ओर से "ज्ञान क्षेत्र की ऐसी अवहेलना नहीं हुई।" भक्ति ज्ञान-प्रसार के बाहर नही होती, जो ब्रह्म को जितना जानता है, उतनी ही उसकी भक्ति करता है।" रहस्यवाद नयाज्ञान पाने का मार्ग नही है। शुक्लजी पूछते है · "किसी रहस्यदर्शी भक्त ने आज तक कहीं तत्व-ज्ञान की कोई नई बात बताई है ?" रहस्यवाद जहाँ ज्ञान-प्राप्ति का साधन बनता है, वहाँ वह "एक झूठे खेल के सिवा और कुछ नही रह जाता।' ब्लेक आदि अंग्रेजी कवियो ने जो कल्पना की उड़ान भरी है, उसे शुक्ल जी ने उचित ही ज्ञानोपलब्धि स्वीकार नही किया। रहस्यवादियो ने ईश्वर-समागम की दशा का जो वर्णन किया है, उसे शुक्लजी ने "चित्तविक्षेप" कहा है, उसकी तुलना उन अंधविश्वासियो से की है जिनके सिर पर कोई भूत या देवता आ जाता है। यह पुराना संस्कार कैसे अब तक चला आता है और रहस्यवादियों की "अनुभूति" मे भी वह विद्यमान है, इस

पर शुक्लजी कहते है : "इस दशा पर आस्था किसी प्राचीन दशा का संस्कार है जो किसी न किसी रूप मे अब तक चला चलता है। उसी के कारण जैसा भूत-प्रेत, कुल देवता आदि का सिर पर आना, वैसा ही यह ईश्वर का सिर पर आना भी समझा जाता है।" कुछ लोगो को शुक्लजी का यह व्यंग्य अच्छा न लगेगा, महाज्ञानियो के प्रति ऐसे लोग शुक्लजी मे आवश्यक श्रद्धा का अभाव देखेंगे। वे कहेगे, शुक्लजी की आलोचना एकाङ्गी है, महाज्ञानियो का मखौल उड़ाती है, तर्क के बदले व्यंग्य और विद्रूप का सहारा लेती है। इस तरह की नुक्ताचीनी यही साबित करती है कि अवैज्ञानिक विचारधारा और तरह-तरह के अंधविश्वासो के दिन बीत रहे है। रहस्यवाद को फिर से जीवित नहीं किया जा सकता।

शुक्लजी भक्ति-मार्गियो के लिए कहते है : "आज तक किसी भक्त महात्मा के सिर पर राम कृष्ण नही आये। हाँ! हनुमान जी अलबत कभी कभी भक्त मण्डली से उछल कर किसी किसी के सिर आजाया करते है।"

शुक्लजी भक्त की अनुभूति को अलौकिक नही मानते। जब ब्रह्म ही अलौकिक नही, तब उसकी अनुभूति अलौकिक कैसे होगी? उनके अनुसार भक्त की भावानुभूति की दशा वही है जिसे काव्य मे रसदशा कहा गया है। अनेक रसशास्त्री जहाँ रसानुभूति को अलौकिक अनुभूति कहने लगते है, वहाँ शुक्लजी भक्तो की भावानुभूति को भी रस की स्वाभाविक अनुभूति के स्तर तक ले आते हैं। शुक्लजी कहते है : "हमारे यहाँ भक्ति मार्ग मे भक्त के आनन्द को स्पष्ट शब्दों मे 'भक्ति रस' कहा है। रस की अनुभूति एक प्राकृतिक और स्वाभाविक अनुभूति है जो किसी प्रकार के उत्कृष्ट काव्य द्वारा भी हो सकती है। उसी प्रकार की अनुभूति भक्ति की भी मानी गई है।" इस तरह शुक्लजी ने भक्तों की अनुभूति को अलौकिक बन जाने से बचाया है, उसे रहस्यवादियों की अलौकिकता से भिन्न कोटि की कहा है। रसानुभूति को अनिर्वचनीय कहा गया है और भक्ति

रस भी अनिर्वचनीय है लेकिन अनिर्वचनीयता का यह अर्थ नहीं है कि किसी अलौकिक तथ्य का ज्ञान प्राप्त हुआ और वह बताते नहीं बन पड़ा। शुक्लजी के अनुसार अनिर्वचनीयता का यह अर्थ है कि "जहाँ तक ब्रह्म-ज्ञेय और व्यक्त है वहीं तक वह नहीं है, उसके परे भी जो कुछ है सब ब्रह्म ही है।"

रहस्यवाद मूलतः विज्ञान-विरोधी है इसके विपरीत शुक्ल जी "विज्ञान के प्रसार से जो सूक्ष्म से सूक्ष्म बृहत् से बृहत् क्षेत्र मनुष्य के लिये खुलते जाते है" उन सब का काव्य मे उपयोग समझते है। उनकी शर्त यह है कि ये वैज्ञानिक तथ्य केवल अंग आभूषण आदि की उपमा के लिये काम मे न लाये जायँ।

शुक्लजी के अनुसार भक्ति न तो रहस्यवाद का मार्ग है, न धर्मशास्त्रो का। पाप करने पर नरक जाना पड़ेगा, ईश्वर एक शासक है जो कर्मों का दंड देता है आदि धारणाओ को शुक्ल जी नहीं मानते। जो लोग यमराज के डंडे के डर से इच्छा रहने पर भी बहुत से दुष्कर्म नही करते उन्हे शुक्ल जी नीची श्रेणी के धार्मिक कहते है। भक्त धर्म का यह पक्ष नहीं मानते। भक्त धर्म के शासनपक्ष और शास्त्रपक्ष का अवलंबन न करके उसके हृदय-पक्ष का अवलंबन करता है। वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के लिये कहते है : "अत. इस पुष्टिमार्ग मेआने के लिये सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि लोक और वेद दोनो के प्रलोभनो से दूर हो जाय—उन फलो की आकांक्षा छोड़ दे जो लोक का अनुसरण करने से प्राप्त होते हैं तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कर्मों के संपादन द्वारा कही गई है।" जो लोग भक्त कवियो की रचनाओ मे वेद शब्द देखते ही घबरा उठते है, उनकी रचनाओं को धर्मशास्त्र मान बैठते है, उन्हे इस वाक्य पर ध्यान देना चाहिए। ध्यान देने की बात यह भी है कि जब पुष्टिमार्ग मे आने के लिये मनुष्य को लोक और वेद दोनो के प्रलोभन से दूर होना पड़ता है, तब कबीर ने ही धार्मिक कर्मकाण्डो की अवहेलना करके कौनसा अपराध किया था ? वास्तव मे धार्मिक कर्मकांड के बदले प्रेममार्ग की स्थापना—यह सभी भक्तो के लिये थोड़े बहुत अन्तर के साथ सत्य है।

शुक्लजी पुष्टिमार्ग की चर्चा करते हुए कहते हैं: "पुष्टिमार्ग स्त्री-पुरुष, द्विज-शूद्र सब के लिये खुला है। मनुष्यमात्र इसके अधिकारी है।...... भगवान् के प्रति जितना ही अधिक प्रेम होगा उतना ही लोक और वेद के प्रति आसक्ति कम होगी।" आजकल प्रगतिशील आलोचना भक्ति-आन्दोलन का जनवादी रूप स्पष्ट करती है, वह आन्दोलन किस तरह ऊंच-नीच का भेद मिटाकर मनुष्य मात्र को एक करने वाला है, यह शुक्लजी के विवेचन से भी स्पष्ट है। उसी लेख में शुक्लजी कहते हैं: "भक्ति मे नीच-ऊंच, छोटे-बड़े बालक-वृद्ध इत्यादि का कोई भेद नही।" और यह स्थिति किसी एक संप्रदाय की नहीं है वरन् "भक्ति के व्यवहार क्षेत्र मे तो यही स्थिति सगुण-निर्गुण, रामोपासक-कृष्णोपासक सब संप्रदायो की है।" यह स्थिति संतो की पुस्तको तक सीमित नहीं है, वह "व्यवहार-क्षेत्र" की स्थिति है। यह स्थिति सगुण-निर्गुण, राम-कृष्ण, सभी के भक्तो की है। इसका अर्थ यह हुआ कि सभी भक्त मूलतः मनुष्यमात्र की समानता के समर्थक थे, न केवल कबीर, वरन् सूर-तुलसी आदि कवि भी ऊंचनीच की भावना से परे मानववादी साम्य-भावना के प्रचारक थे। संत-साहित्य का अध्ययन इस तथ्य को पूरी तरह पुष्ट करता है।

शुक्लजी ने एक प्रश्न और उठाया है। व्यवहारक्षेत्र के बाहर इस साम्यभावना का क्या होता है? भक्ति के व्यवहारक्षेत्र के बाहर का अर्थ यही हो सकता है कि समाज के साधारण व्यवहार मे—भक्ति की परिधि के बाहर—कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग का अस्तित्व स्वीकार किया जाय या नहीं। उन्होंने एक मिसाल दी है: "यदि हम पर कोई प्रहार या गालियो की बौछार करे तो क्षमा द्वारा शील की एकान्त साधना समीचीन होगी, पर यदि हमारे सामने कोई अत्यन्त क्रूर और निष्ठुर अत्याचारी किसी दीन या असहाय को पीड़ित कर रहा है तो बलपूर्वक उस अत्याचारी को रोकना और यदि आवश्यक हो तो उसे आघात द्वारा असमर्थ करना लोकधर्म होगा।" शुक्लजी सत्याग्रह-वादी नहीं हैं। वह अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध करने में विश्वास करते हैं। जैसा कि हम पहले अध्याय मे देख

चुके है, वह बहुत से कुतर्की पंडितो की तरह शाश्वत अहिसा-धर्म का प्रश्न नही उठाते। उनके लिये क्या हिसा है, क्या अहिसा, यह परिस्थितियो पर निर्भर है। वह बलपूर्वक अत्याचारी को रोकने और आवश्यकता पड़ने पर उसे आघात द्वारा असमर्थ कर देने को अनुचित नही समझते। इस लोक-धर्म से वह भक्ति का सामंजस्य चाहते है। उनके विचार से भारतीय भक्तो मे लोक-धर्म के साथ यह सामंजस्य है और यह "उन्हे विदेशी पद्धति के निर्गुण भक्तो से अलग" करता है।

भक्त-कवियो पर निष्क्रियता और भाग्यवाद की भी छाप है। सभी भक्त सभी समय सक्रिय प्रतिरोध की बात नही करते। मध्यकालीन असंगठित सामाजिक जीवन मे ऐसा करना उनके लिये संभव नही था। मनुष्य के बिखरे हुए त्रस्त और पीड़ित जीवन से निराशा और वैराग्य के भाव भी पैदा होते थे। इसलिये अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध—इस लोक-धर्म के साथ जहाँ भक्ति का सामंजस्य न बैठे उसे हम विदेशियों के सिर नही मढ़ सकते। स्वयं शुक्लजी ने अपने इतिहास मे लिखा है—"अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?" सूरदास की आलोचना मे तत्कालीन समाज के बारे मे शुक्लजी कहते है: "जनता पर गहरी उदासी छा गई थी।" अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध का अभाव —या लोक-धर्म से विमुखता—का कारण यह उदासी और निराशा भी थी। भक्ति का यह भी एक स्रोत था। आज उदासी और निराशा का कोई वस्तुगत कारण नहीं है; जो कारण थे, वे जनता के संगठन और संघर्षों से मिट रहे है। इसीलिये आज का कवि भक्त बनकर समाज की सेवा नहीं कर सकता; उसके लिये आवश्यक है कि वह उस लोक-धर्म से सामंजस्य स्थापित करे जिसका उल्लेख शुक्लजी ने किया है।

शुक्लजी का विचार था कि यह निराशा और उदासी मुस्लिम शासन के कारण थी। देश मे विदेशी जातियो का आक्रमण और उनका शासन भी एक कारण था। लेकिन वास्तविकता यह है कि सत्ता में सहायक और भाग लेने वाले देशी सामन्त भी थे, उन सामन्तो के देशी सहायक

पंडे और पुरोहित भी थे। स्वयं शुक्लजी ने दरबारी कवियो को जो चुन चुन कर सुनायी है, उससे स्पष्ट है कि उनकी सहानुभूति देशरक्षा के इन ठेकेदारो के साथ न थी। फिर भी उनके विवेचन मे देशी सामंतो की भूमिका हर जगह स्पष्ट नहीं है, इसलिये उन्होने निराशा का कारण मुस्लिम शासन बताया है और लोक-धर्म से विमुख कवियो को विदेशी मतों से प्रभावित कहा है।

शुक्लजी राम और कृष्ण की उपासना का महत्व यह समझते थे कि ये चरित्र अत्याचार का दमन करने वाले थे, इसलिये जनता मे भी वीर भावो का संचार करने वाले थे। उन्हे महाभारत के कृष्ण भागवत के कृष्ण से अधिक प्रिय है। महाभारत के कृष्ण लोक-मंगल का साधन करने वाले थे, उनमे शक्ति, शील और सौन्दर्य तीनो का समन्वय था। लेकिन उनकी शिकायत यह है कि आगे चलकर कृष्ण के भक्तिमार्ग से कर्म पक्ष हटता गया। वह मुख्यतः प्रेम के आलंबन होकर रह गये। कृष्णभक्त ब्रजलीला तक अपने को सीमित रखने लगे। उनकी रचनाओं में, शुक्लजी के अनुसार, "जीवन के अनेक गम्भीर पक्षों के मार्मिक रूप" स्फुरित न हुए, न उनमे "अनेकरूपता" आई। शुक्लजी को यही शिकायत जायसी से भी थे। जायसी कृष्णभक्त न थे लेकिन सूर की तरह वह भी प्रेम के कवि थे। इसलिए न तो सूर के प्रेम-गीतो का कारण यह हो सकता है कि लोग कृष्ण का वीर रूप भूल गये थे और न उन गीतों का यह परिणाम हो सकता था कि मुर्झाया हुआ हिन्दू जीवन फिर लहलहा उठा। यदि मुर्झाये हुए जीवन के लिए सूर के गीतो की आवश्यकता पड़ी तो यही कारण जायसी के काव्य का भी हो सकता था।

वास्तविकता यह है कि हिन्दू और मुसलमान जनसाधारण सामन्ती व्वयस्था से पीड़ित थे। दोनो धर्मों मे प्रेम के गीत गाने वाले पैदा हुए क्योंकि उन प्रेम गीतों की उपज इसी सामाजिक भूमि से हो रही थी। जायसी की रचनाओ के पाठक मुसलमान भी थे, अधिकतर मुसलमान ही रहे हों तो भी अचरज नहीं; उनकी प्रसिद्ध कृति "पद्मावत" का बंगला मे अनुवाद हुआ और वह बंगाल के मुसलमानों को प्रिय रही। इससे

यह परिणाम निकलता है कि जो लोग इस्लाम और हिन्दू धर्म की टक्कर मे मध्यकालीन समाज की आशा-निराशा का स्रोत ढूंढते है, वे उस समय के साहित्यिक आन्दोलनो के सामाजिक आधार का सही-सही पता नही लगा सकते। जायसी और सूर एक ही समाज या एक से ही समाज के प्राणी थे। यह समाज ऐसा था जिसमे नये व्यापारी वर्ग की बढ़ती के साथ-साथ कारीगरो, जुलाहो और किसानो मे मे मुक्ति की आकांक्षा बढ़ रही थी। हर सामन्ती समाज मे पुरोहितो ने जनता को परलोक के लिये जीना, इस लोक के जीवन के दुखो का कारण अपने पापो मे ढूंढ़ना सिखाया है। जीवन की अस्वीकृति के विरोध मे, सामन्ती शिकंजा जरा ढीला होने पर, जब जनता को सांस लेने का अवकाश मिला, तब उसने जीवन मे अपनी आस्था प्रकट करना शुरू किया। उसने तरह-तरह के प्रतीको द्वारा अपने हृदय के मानवसुलभ भावो को व्यक्त करना आरम्भ कर दिया। सूर और जायसी इस जीवन की स्वीकृत की वाणी है। इस वाणी को सामन्तो ने दबा रखा था, उस दबाव को तोड़कर ब्रज और अवध की धरती से यह प्रेम की सरस धारा फूट पड़ी। यह उसका सामन्त-विरोधी पक्ष है जिसे भुलाना सही न होगा।

शुक्लजी ने ठीक लिखा है : "मनुष्यता के सौन्दर्यपूर्ण और माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर इन कृष्णोपासक वैष्णव कवियो ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया, या कम से कम जीने की चाह बनी रहने दी।"

शुक्लजी ने सूर की कृष्णभक्ति का संबन्ध उचित ही जयदेव और विद्यापति से जोड़ा है। इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि उन्होने सूर की कविता का संबन्ध ब्रज की लोक-संस्कृति विशेषकर, वहाँ के लोक गीतो की परम्परा से जोड़ा है। जायसी के सम्बन्ध मे हम देख चुके है कि मध्यकालीन कवियो के अध्ययन मे शुक्लजी ने लोक-संस्कृति के प्रभाव का उल्लेख किया था। आलोचना मे वह जिस यथार्थवादी और जनवादी दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा कर रहे थे, उसके अनुसार लोक-संस्कृति की ओर उनका ध्यान जाना ही चाहिये था। शुक्लजी ने सूर के गीतो पर लिखते हुए लोक-गीतों को किसी भी देश की मूल काव्य धारा

समझने के लिए प्रमुख साधन माना है। उनके ये वाक्य हिन्दी आलोचना के भावी विकास की दिशा बतलाते हैं: "किसी देश की काव्य धारा के मूल प्राकृतिक स्वरूप का परिचय हमे चिरकाल के चले आते हुए इन्हीं गीतो से मिल सकता है। घर घर प्रचलित स्त्रियो के घरेलू गीतों में शृङ्गार और करुण दोनो का बहुत स्वाभाविक विकास हम पाएंगे। इसी प्रकार आल्हा, कड़खा आदि पुरुषो के गीतो मे वीरता की व्यंजना की सरल स्वाभाविक पद्धति मिलेगी। देश की अन्तर्वर्त्तिनी मूल भावधारा के स्वरूप के ठीक-ठीक परिचय के लिये ऐसे गीतो का पूर्ण संग्रह बहुत आवश्यक है।"

सूर की प्रतिभा से चकित होकर शुक्लजी ने लिखा है: "सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।"

सूर ही नही, उस समय के जितने महाकवि हुए हैं—तुलसी भी—उनका लोक-गीतो की परम्परा से गहरा सम्बन्ध रहा है। उनकी रचनाएं लोक-गीतो के इतने निकट है कि वे उनकी परम्परा का सहज विकास मालूम होती है। इतना ही नहीं, वे उस लोक-गीतों की परम्परा का अङ्ग भी बन गई है। इसका कारण यह था कि भक्त कवियों ने जनसंस्कृति को अपना आधार बनाया था, इसी आधार के कारण वे अपनी काव्यकला को ऐसा लोकप्रिय रूप दे सके लेकिन इससे उनकी प्रतिभा का महत्व कम नही होता। उनकी श्रेष्ठ रचनाओ का कलात्मक सौन्दर्य आमतौर से सुन्दर लोक-गीतो से बहुत ऊंचा है। उन्होने लोक-गीतों को अपनाया लेकिन उस परम्परा का स्तर और ऊंचा किया; उसमें संस्कृत-साहित्य के अध्ययन से लाभ उठाकर नया उत्कर्ष पैदा किया। सूर की रचनाएं ब्रज की संस्कृति, यहाँ के प्रचलित ग्रामगीतो, रीतिरवाजों, जनता की विनोदप्रियता और वाक्चातुरी पर अवलंबित हैं। इन्ही का निखरा हुआ सौंदर्य उनमे मिलता है। शुक्लजी ने इस सिलसिले मे लोकगीतो का हवाला दिया, यह उनकी सूझबूझ का प्रमाण है।

शुक्लजी के अनुसार तुलसी के मुकाबले मे सूर का काव्यक्षेत्र सीमित

है लेकिन उनमे ऊंचे दर्जे की तन्मयता है। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में वह सूर को अद्वितीय कवि मानते है। तुलसी ने गीतावली मे जो बाल-लीला का वर्णन किया है, वह "इनकी देखादेखी"; लेकिन बालसुलभ भावों की वह प्रचुरता तुलसी भी न ला सके। सूर तुलसी से भी ज्यादा एक ही रस मे नये प्रसंगो की उद्भावना करते है। इससे इतना तो मानना ही होगा कि शुक्लजी तुलसी के अंध भक्त नहीं है।

सूर के प्रेम का विश्लेषण करते हुए वह उसमे रूपलिप्सा और साहचर्य दोनो का योग दिखलाते है। जो बचपन के साथी हैं, वे आगे चलकर "यौवनक्रीड़ा के सखासखी" हो जाते हैं। इस क्रमशः विकास के कारण गोपियो का प्रेम "स्वाभाविक" लगता है। सूर की गोपियाँ सजीव है, प्रेम ने उन्हें इतना ज़िन्दादिल कर दिया है कि "कृष्ण क्या, कृष्ण की मुरली तक से छेड़छाड़" करती है। शुक्लजी ने सूर की सहृदयता और भावुकता के साथ उनकी "चतुरता और वाग्विदग्धता (wit)" की भी तारीफ की है। काव्य की यह बौद्धिक प्रक्रिया बहुत से आलोचकों की आँखो से ओझल हो जाती है। सूर एक ही बात को तरह-तरह के "टेढे सीधे ढंग" से कह सकते है। गोपियो के वचन वक्रता से भरे है।

"निरखत अंक श्यामसुन्दर के बारबार लावति छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई श्याम श्याम की पाती।"

शुक्लजी ने इन पंक्तियो की व्याख्या करते हुए 'अंक' और 'श्याम' शब्दो के श्लेष की तारीफ की है, सूर के "लाघव" और "मजमून की चुस्ती" की दाद दी है और यह बताना नहीं भूले कि केशवदास के ढंग पर सूर यही सब लिखते तो वह कितना बेतुका हो जाता। जगह-जगह दरबारी कवियों से सूर की विभिन्नता दिखाकर शुक्लजी ने मध्यकालीन साहित्य की दो धाराओं का अलगाव और विरोध प्रकट किया है। ये दो धाराएं कभी कभी एक दूसरे को प्रभावित भी करती है; इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे दो अलग धाराएं नहीं है।

श्री नंददुलारे वाजपेयी ने "महाकवि सूरदास" में यह दिलचस्प सवाल उठाया है कि नायिकाभेदी शृंगारी कवियो और सूर जैसे भक्तों

को दो अलग वर्गों में रखना क्या उचित है। उन्होंने लिखा है : "अब तक तो भक्त कवियो और शृंगारी कवियो को अलग-अलग कालों मे डाल कर एक दूसरे से संपर्कविहीन रखने की व्यवस्था थी परंतु अब ये प्रश्न भी निस्संकोच पूछे जाने लगे है कि सूर आदि भक्त थे, इससे क्या प्रयोजन ? क्या वे शृङ्गारी नही थे ? और जिन्हे आप शृंगारी कवि कहते हैं, उन्होंने भी तो राधा-कृष्ण का शृंगार-वर्णन किया है। फिर इनमे और उनमे अंतर क्या है और क्यों न वे एक ही श्रेणी मे रखे जायं ? सूरसागर की हस्तलिखित प्राचीन प्रतियो में नायिकाभेद के शीर्षक रखकर पद लिखे मिलते है, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूरदास हिन्दी मे नायिकाभेद के प्राथमिक कवियो मे है। इस विषय मे अभी अनुसंधान की आवश्यकता है परंतु जो तथ्य प्रकट हो रहे है और जिस स्वच्छंद पथ पर हिंदी का काव्य-विवेचन चल पड़ा है, उसे देखते हुए यह दृढ़ अनुमान है कि केवल भक्त संज्ञा देकर ही सूर आदि की कोटि अन्य कवियों की कोटि से अलग नही की जा सकेगी। सूरदास भक्त थे या नहीं, यह तो इतिहास के विद्यार्थी के अनुशीलन का विषय है। बिहारी भक्त नही थे, यह भी हम मे से कोई नहीं कह सकता। राजदरबार मे रहने के कारण ही कोई शृंगारी अभक्त मान लिया जाय, यह कोई तुक की बात नही है।"

वाजपेयी जी ने "अब तक तो" भक्तों और शृंगारी कवियो को विभाजित रखने की जो बात कही है, उसमे अवश्य ही शुक्लजी का हाथ भी रहा होगा। वास्तव में शुक्लजी ने शृंगारी और अशृंगारी का भेद नहीं किया। वह सूर को भक्तकवि मानते है, इसमें संदेह ही क्या। लेकिन वह सूर को वात्सल्य और शृङ्गार का सबसे बड़ा कवि मानते हैं, यह भी हम ऊपर देख चुके हैं। इसलिये सूर बिहारी से इस कारण भिन्न नही है कि वह अशृंगारी कवि थे। मूल अंतर दरबारी संस्कृति और जन-संस्कृति का है, दो तरह के सामाजिक आधार का है। दोनो के शृंगार-वर्णन में अन्तर यह है कि भक्त कवियों ने मानवसुलभ सौन्दर्य और प्रेम की भावना का चित्रण किया है, उनके भावचित्रण की भूमि स्वाभाविकता की

है, दरबारी कवियो ने चमत्कारवाद का सहारा लिया, उनकी पहुँच स्वाभाविक भावभूमि तक न हुई वरन् वे सामन्तो के कामोद्दीपन का सामान जुटाते रहे। वाजपेयी जी ने सूर को "वास्तविक भक्त" कहा है और परवर्ती कवियो की रचनाओ को "अनुकरणप्रिय प्रणालीबद्ध" कहा है। इससे भी दोनो का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इसलिये शुक्लजी ने जो केशव आदि कवियो को एक वर्ग मे और सूर-तुलसी आदि को दूसरे वर्ग मे रखा है, उनका परस्पर भेद दिखाया है, दरबारी कवियो की तुलना मे भक्त कवियो की श्रेष्ठता का बखान किया है, वह कार्य बिल्कुल उचित है।

शुक्लजी ने सूर की भाषा को चलती ब्रजभाषा कहा है लेकिन यह भी जता दिया है कि वह "बिल्कुल बोलचाल की ब्रजभाषा नहीं है।" सूर की भाषा मे पुराने रूपो, अपभ्रंश के शब्दो आदि का हवाला देकर शुक्ल जी यह निष्कर्ष निकालते है कि उस समय "एक व्यापक काव्यभाषा" रही होगी। व्यापक काव्यभाषा रही हो, चाहे न रही हो, सूर की भाषा व्यापक अवश्य है। जायसी की सी अति-स्थानीयता उनमे नही है। जायसी की तुलना मे उनकी अधिक लोकप्रियता का यह भी एक कारण है।

शुक्लजी को सूर-साहित्य पर कुछ आपत्तियां भी है। कहीं-कहीं सूर ने उपमानो को लेकर खेल किया है—अद्भुत एक अनूपम बाग आदि मे। उन्होने यह भी दिखाया है कि सूर-साहित्य समानरूप से सुंदर नही है और सूर का प्रतिदिन गीत रचना इसका एक कारण बताया है। लेकिन उनकी मुख्य आपत्ति लोकसंग्रह के अभाव को लेकर है। उनका विचार है। कि सूर 'अपने रंग मे मस्त रहने वाले जीव थे", उनमे तुलसी के समान "लोकसंग्रह का भाव" न था और "समाज किधर जा रहा है, इस बात की ये परवा नही रखते थे।" उन्होने कृष्ण का प्रेममयरूप ही लिया; चाहते तो वह "हृदय की अन्य वृत्तियो (उत्साह आदि) के रंजनकारी रूप भी" कृष्ण मे पा सकते थे। कृष्ण का यह रूप एकदेशीय था। उन्होने जिस प्रेम का वर्णन किया है, वह भी घटना पूर्ण

नहीं है। शुक्लजी को यह बात अस्वाभाविक लगती है कि कृष्ण के इतना निकट होते हुए भी गोपियां विरह मे तड़पा करती है और चार कदम चल कर उनसे मिल नही आती। उन्हे इस पर भी आपत्ति है कि विरह से परेशान सिर्फ गोपिया है, कृष्ण नही। सूर मे जीवन की अनेकरूपता का अभाव है, वह जीवन की गंभीर समस्याओ से तटस्थ है, "लोक-संघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापारो की योजना सूर का उद्देश्य नही।" गोपियो के वियोग मे सीता के वियोग की सी गंभीरता नहीं है। कृष्ण के चरित मे जो थोड़ा बहुत लोकसंग्रह दिखाई देता है, उसमे "सूर की वृत्ति लीन नही हुई।" दैत्यो का संहार करनेवाला रूप सूर को प्रिय नही है। इस सिलसिले मे सूर और तुलसी की तुलना करते हुए शुक्लजी लिखते है: "जिस ओज और उत्साह से तुलसीदासजी ने मारीच, ताड़का खरदूषण आदि के निपात का वर्णन किया है उस ओज और उत्साह से सूरदासजी ने बकासुर, अघासुर, कंस आदि के वध और इन्द्र के गर्व-मोचन का वर्णन नही किया है।"

शुक्लजी ने जीवन की अनेकरूपता चित्रित करने के लिये तुलसी को सूर से श्रेष्ठ कवि कहा है, वह ठीक है। यह भी सही है कि तुलसी ने राम के चरित मे अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध का जो सजीव चित्र खीचा है, वह सूर में नही है। लेकिन सूर अपने समय की समस्याओ के प्रति तटस्थ थे और उनमे लोक-संग्रह का अभाव था, यह धारणा मान्य नही है।

सूर के कृष्ण दुर्योधन के यहां न जाकर विदुर के यहां शाक खाना पसंद करते है। "टूटी छानि, मेघ जल बरसै, टूटौ पलंग बिछइयै।" कृष्ण को कनक-कलसवाले दुर्योधन के महल पसंद नहीं है, उन्हें अपना भक्त दासी-सुत कहलाया जाकर अपमानित होने वाला विदुर पसंद है। सूर के कृष्ण दुर्योधन की सभा मे द्रौपदी की लाज बचाने वाले है।

"परै बज्र या नृपति सभा पै कहति प्रजा अकुलानी।"

लेकिन दुखी प्रजा कुछ कर नहीं सकती। कृष्ण ने ही आकर उसकी रक्षा की। यह उनका लोकरक्षक रूप ही था। यह बात नहीं है कि इस

तरह के कथावर्णन मे सूर का मन नहीं रमा। द्रौपदी कहती है:

"जितनी लाज गुपालहि मेरी।
तितनी नाहि वधू हौं जिनकी, अंबर हरत सबनि तनहेरी।"

इस मार्मिक उक्ति का जवाव नहीं। सूर के कृष्ण अर्जुन के सहायक हैं और दीन-दुखी मात्र के लिये कहते हैं:

"भक्तनि काज लाज जियधरि कै, पांइ पियादे धाऊं।
जहं जहं भीर परै भक्तन पै, तहं तहं जाइ छुड़ाऊं।"

भक्त के लिये ही कृष्ण ने अपना प्रण छोड़ कर सुदर्शन चक्र धारण किया था। उन्होने "मेटि बेद की कानि" भीष्म का प्रण रख लिया और "सोई सूर सहाइ हमारे", सूर के भी सहायक हैं। रथ से उतर कर धरती पर चक्र लिये दौड़ते हुए कृष्ण के उड़ते हुए पीतपट और ऊंची भुजा का सूर ने कलात्मक वर्णन किया है। उसी भुजा से गोवर्धन उठाकर कृष्ण इन्द्र के कोप से व्रज के लोगों की रक्षा करते है। रावण के शत्रु राम से सूर अपरिचित नहीं है: "आजु अति कोपे है रन राम।" तुलसी के राम की तरह सूर के राम भी अपनी जन्मभूमि के गीत गाते है, अयोध्या पर सुरपुर को भी निछावर करते हैं। कृष्ण को भी व्रज वैसे ही प्रिय है। कृष्ण की प्रेमलीला देखकर देवता दूर स्वर्ग मे बैठे तरसते रहते है। गोपियो का प्रेम लोकधर्म और कुलकानि के लिये चुनौती है। उनका कृष्ण से संयोग और वियोग दोनो मानवप्रेम का जयगीत हैं जो सामंतो समाज के जाति, वर्ण और संपत्ति के बन्धन तोड़ कर प्रवाहित हुआ था। सूर शृंगार और वात्सल्य के ही कवि नहीं है, वह संसार मे प्रेम के श्रेष्ठ गायको मे से है। इस प्रेम को कुलकानि, लोकधर्म, पापपुण्य की मर्यादा कुचलती है; उसका जयघोष सामन्ती व्यवस्था को ही एक चुनौती है। इस सामन्त-विरोधी मानवमूल्य को हम लोक-संग्रह से बाहर कैसे रख सकते हैं?

शुक्लजी ने मारीच, ताड़का और खरदूषण के निपात-वर्ण की प्रशंसा की है। लेकिन तुलसी के ये अपेक्षाकृत कमजोर अंश है, इसे कौन नहीं जानता? स्वयं शुक्ल जी को ये अंश वहुत प्रिय न थे, तर्क-युद्ध में

विजयी होने के लिये दलील देना और बात है। पथिकवेश मे वन मे जाते हुए राम, लक्ष्मण और सीता का वर्णन शुक्लजी को कितना प्रिय था, यह इससे मालूम हो जाता है कि तुलसी की भावुकता का विवेचन करते हुए उन्होने बार-बार उस प्रसंग के उद्धरण दिये है और यह जान कर कि एक ही जगह से बहुत उद्धरण दे रहे है, उन्होंने यह सरस वाक्य लिख भी दिया है : "क्षमा कीजिएगा, यह दृश्य हमे बहुत मनोहर लगता है, इसी से बार-बार सामने आया करता है।"

शुक्लजी पाठको से नही अपने तर्क से ही क्षमा मांग रहे है। यदि लोकसंग्रह का भाव बन जाते हुए राम-लक्ष्मण और सीता मे है, तो वैसा ही भाव कृष्ण की बाललीला, रासलीला और उद्धव-गोपी संवाद मे भी है।

शुक्लजी ने केवल भ्रमर-गीतसार की भूमिका लिखी थी। सूर का और भी विस्तृत अध्ययन और विवेचन वह करना चाहते थे, यह उन्होने भूमिका के अन्त मे लिख दिया है। संभव है, भ्रमर-गीतसार मे ध्यान सीमित रहने के कारण उन्हे सूर का काव्य-क्षेत्र आवश्यकता से अधिक सीमित दिखाई दिया हो, फिर भी वह शृङ्गार और वात्सल्य मे सूर का लोहा मानते थे, इसमे सन्देह नही। भक्ति का विकास दिखाकर, लोकगीतों की परम्परा के संदर्भ मे रीतिकालीन कवियो से भिन्न सूर के अध्ययन का जो मार्ग उन्होने दिखाया है, वह हिन्दी आलोचना के अगले विकास का भी मार्ग है, इसमे सन्देह नहीं।

---

# गोस्वामी तुलसीदास

शुक्लजी के कोई आदर्श हिन्दी कवि थे तो वह तुलसीदास थे। शुक्लजी की जिन रचना मे सबसे ज्यादा असंगतियाँ और अंतर्विरोध है, वह तुलसीदास पर उनकी पुस्तक है। साथ ही तुलसी और उनके युग को समझने के लिये जितनी मौलिक स्थापनाएं यहाँ है, उतनी हिन्दी की किसी भी दूसरी आलोचना-पुस्तक मे नही है।

सबसे पहले शुक्लजी कबीर, सूर, जायसी और तुलसी की एकता प्रतिपादित करते है। इस एकता का यह अर्थ है कि ये सब कवि एक ही सांस्कृतिक आन्दोलन के अङ्ग है जो केशव-बिहारी की दरबारी साहित्यिक धारा से भिन्न है। कबीर, सूर, जायसी और सूर की सामान्य विशेषताओ को समझे बिना मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की सामान्य प्रगतिशील विशेषताओ को समझना असंभव है। इसीलिये शुक्लजी की यह स्थापना महत्वपूर्ण है: "रामानन्द और वल्लभाचार्य ने जिस भक्तिरस का प्रभूत संचय किया, कबीर और सूर आदि की वाग्धारा ने उसका संचार जनता के बीच किया। साथ ही कुतुबन, जायसी आदि मुसलमान कवियो ने अपनी प्रबन्ध-रचना द्वारा प्रेमपथ की मनोहरता दिखाकर लोगो को लुभाया। इस भक्ति और प्रेम के रंग मे देश ने अपना दुःख भुलाया, उसका मन बहला।"

अपने अन्य निवन्धो की तरह शुक्ल जी ने यहाँ भी भक्ति और योग मे मौलिक अन्तर दिखलाया है। लेकिन योग पर उनका आक्रमण और निवन्धो से यहाँ ज्यादा सख्त है। भक्ति मार्ग जहाँ हृदय की स्वाभाविक अनुभूतियो को लेकर चलता है, वहाँ "योगमार्ग चित्त की वृत्तियो को अनेक प्रकार के अभ्यासो द्वारा अस्वाभाविक ( एबनार्मल ) बनाकर अनेक प्रकार की अलौकिक सिद्धियो के बीच होता हुआ अन्तःस्थ ईश्वर तक पहुँचना चाहता है।" भक्ति-मार्ग स्वाभाविकता की भूमिका पर निर्मित हुआ है तो योग मार्ग अस्वाभाविकता की भूमि पर। और इस अस्वाभाविक भूमि पर चलकर वह ईश्वर तक "पहुँचना चाहता है"; शुक्लजी यह नही कहते कि वह पहुँच जाता है। भक्ति मार्ग मूलतः योगवाद और मायावाद से हटकर और उसके विरोध मे चला है; वह लौकिक जीवन से पराङ्मुख नही, वरन् उसकी ओर उन्मुख है। कबीर जायसी-सूर-तुलसी समाज की अनेक समस्याओ पर लिख सके और मानव-हृदय के विभिन्न भावो का चित्रण कर सके, इसका मूल कारण यही है कि वे चित्त-वृत्तियो के कवि है, चित्त-वृत्तियो के निरोधक नही। वे रसवादी है, योगवादी नही।

भक्तो के लिये ब्रह्म ज्ञात और अज्ञात दोनो है। जितना अज्ञात है, उसे तो वे भक्त दार्शनिको के लिये छोड़ देते है और "जितना ज्ञात है उसी को लेकर" वे प्रेम मे लीन रहते है। यह उक्ति अक्षरशः सही नहीं है। ज्ञात की ही उपासना होती तो दर्शन और मुक्ति की आकांक्षा भक्त-कवियो मे न होती। लेकिन जगत् के प्रति भक्तकवियो का आकर्षण जरूर प्रकट होता है, शुक्ल जी इस आकर्षण की हिमायत करते है, यह भी स्पष्ट है। वह आगे कहते है: "इस व्यवहार क्षेत्र से परे, नामरूप से परे जो ईश्वरत्व या ब्रह्मत्व है वह प्रेम या भक्ति का विषय नही, वह चिन्तन का विषय है।" नामरूप की सीमाएं मानने वाला जगत् अगोचर नही होता। इसलिये भक्तिमार्ग इन्द्रिय-बोध को हेय ठहरा कर अतीन्द्रिय ज्ञान का दावा नहीं कर सकता। संसार मे रहकर इन्द्रिय-बोध को अस्वीकार करना संभव नही, इसलिये भक्तकवियो का झुकाव

मायावाद, अतीन्द्रियतावाद, 'आइडियलिज्म' से भिन्न वस्तुवाद, गोचर सत्ता मे विश्वास की ओर होना ही चाहिये। शुक्लजी कहते है : "संसार मे रहकर इन्द्रियार्थो का निषेध असम्भव है, अतः मनुष्य को वह मार्ग ढूंढ़ना चाहिये जिसमे इन्द्रियार्थ अनर्थकारी न हो। यह भक्तिमार्ग है, जिसमे इन्द्रियार्थ भी मंगलप्रद हो जाते है।" गोचर जगत् की ओर यह झुकाव भक्ति-आन्दोलन की वह दार्शनिक विशेषता है जो उसे शासक-वर्गों के मायावादी चिंतन से अलग करती है।

भक्त कवि भारतीय मायावादियो से भी भिन्न है। वे यूरोप के उन कलावादियो से भी भिन्न है जो ज्ञात जगत को सीमित मान कर कल्पना का नया असीम संसार रचते हैं। ये लोग कल्पना को एक स्वतन्त्र शक्ति मानते है लेकिन उनका कल्पित संसार न तो नया होता है, न मौलिक ; वह वास्तविक का "विकृत रूपमात्र" होता है। भक्तो का साहित्य लोक-हित के लिये है ; उनकी कला संसार से स्वतन्त्र न होकर जनता के मनोरंजन और शिक्षण के लिये है। इसलिये शुक्लजी तुलसीदास के लिये यह दावा करते हैं कि उनकी दृष्टि "वास्तविक जीवन-दशाओ के मार्मिक पक्षो के उद्घाटन की ओर थी, काल्पनिक वैचित्र्य विधान की ओर नहीं।" वास्तविक जीवन दशाओ का उद्घाटन—श्रेष्ठ भारतीय साहित्य का सदा से यह लक्ष्य रहा है। भारतीय साहित्य की सबसे शक्तिशाली और मौलिक धारा यथार्थवाद की ओर उन्मुख रही। यह साहस शुक्लजी ही मे था जो उन्होंने भारतीय काव्य के लिये यह दावा किया : "भारतीय कवियो की मूल प्रवृत्ति वास्तविकता की ओर ही रही है।" यह एक ऐसा सूत्र है जिस पर बहुत कम लोगो ने विचार किया है, जिसके सहारे बहुत कम आलोचको ने अपने प्राचीन साहित्य का मूल्लाङ्कन किया है। पच्छिम के विचारको ने यहाँ वालो को अक्सर यह पुचाड़ा दिया है कि तुम्हारी विशेषता तो परोक्ष चिन्तन में है, भारतीय ज्ञान इस झूठे संसार को ठुकराता है, उसने जिसे अध्यात्मवाद की सृष्टि की है, वहे विरद-दर्शन को भारत की अपूर्व देन है, इत्यादि। शुक्लजी ने इस धारणा का बारबार खंडन किया है। इसका खंडन करना आवश्यक

है क्योंकि यह स्थापना भारतीय संस्कृति के प्रगतिशील तत्वों पर पर्दा डालती है, भारत को जगद्गुरू कहकर जनता को बहलाती है और उसे वर्तमान अन्याय और अत्याचार के सामने उदासीन और तटस्थ रहना सिखाती है।

यदि लोक सत्य है, यह मानव जीवन सत्य है, तो कवि-हृदय में लोकहित और मानवहित का भी स्थान होना चाहिये। उसकी श्रेष्ठता इस बात में नहीं है कि वह परलोक की बाते करता है, लोकजीवन को उपेक्षा की निगाह से देखता है, न व्यक्तिवाद के तङ्ग दायरे में चक्कर लगाने से वह महाकवि बनता है। शुक्लजी उसकी विशेषता यह बतलाते है : "अपनी व्यक्तिगत सत्ता की अलग भावना से हटाकर निज के योग-क्षेम के सम्बन्ध से मुक्त करके, जगत् के वास्तविक दृश्यो और जीवन की वास्तविक दशाओं में जो हृदय समय-समय पर रमता रहता है, वही सच्चा कवि हृदय है। सच्चे कवि वस्तु-व्यापार का चित्रण बहुत बढ़ा-चढ़ाकर और चटकीला कर सकते है, भावो की व्यंजना अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँचा सकते है पर वास्तविकता का आधार नही छोड़ते।" जगत् के वास्तविक दृश्य जीवन की वास्तविक दशाएं, भावो की व्यंजना में वास्तविकता का आधार—आलोचना मे शुक्लजी के ये मूल सूत्र है। संसार के प्रति उनका दृष्टिकोण मूलतः वस्तुवादी है, ये सूत्र उसी का स्वाभाविक परिणाम है। इसीलिये शुक्लजी को हिन्दी आलोचना मे यथार्थवाद का संस्थापक मानना उचित होगा। उनके अनुसार सच्चे कवियो द्वारा अङ्कित "वस्तु-व्यापार-योजना इसी जगत् की होती है, उनके द्वारा भाव उसी रूप मे व्यंजित होते है जिस रूप मे उनकी अनुभूति जीवन मे होती है या हो सकती है।" कवि जो चित्र खीचता है, वे इसी जगत के होते है, वह जिन भावो की व्यंजना करता है, उनकी अनुभूति इसी जीवन की होती है या हो सकती है। लोक और साहित्य, सामाजिक जीवन और रस, भौतिकजगत् और भावजगत् की यही एकता है।

तुलसी के दार्शनिक विचारों की छानबीन करते हुए शुक्लजी काफी

उलझन में पड़ गये हैं। उन्होंने माना है कि गोस्वामी जी ने कहीं-कहीं मायावाद स्वीकार किया है, कहीं-कहीं विशिष्टाद्वैत का आभास भी उन्होंने दिया है। जीव ईश्वर का अंश है, यह विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना हुई। शुक्लजी अद्वैत और विशिष्टाद्वैत मतो की स्थापनाओ मे इस तरह सामंजस्य कायम करते है: "परमार्थ सिद्धि से—शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से—तो अद्वैत मत गोस्वामी जी को मान्य है, पर भक्ति के व्यवहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते है।" इससे स्वयं शुक्लजी को संतोष नहीं हुआ, इसलिये अन्त मे उन्होंने यह भी लिख दिया है कि वह भक्तिमार्गी थे, इसीलिये उनकी रचनाओ मे भक्ति के रहस्य ढूंढ़ना तो ठीक होगा, "ज्ञानमार्ग के सिद्धान्तो का ढूंढ़ना नहीं।" इससे शुक्लजी की उलझन का पता चलता है। यदि भक्तकवि ज्ञात की ही उपासना करता है, तब यह प्रश्न नगण्य नहीं है कि वह क्या जानता है, किसकी उपासना करता है। इसलिये सवाल ज्ञानमार्ग के सिद्धान्त ढूंढ़ने का नहीं है वरन् तुलसी के ज्ञात उपास्य को पहचानने का है जिसके बिना उनकी भक्ति का रहस्य भी समझ मे नही आसकता।

यह संसार सत्य है—यह स्थापना तुलसी मे मिलती है, यह संसार मिथ्या है, यह स्थापना भी।

उत्तरकाण्ड में वेद, रामचन्द्र की स्तुति करते हुए ब्रह्म को अव्यक्त-मूल कहते हुए संसार-विटप की वंदना करते है: "संसार-विटप नमामहे।" यह दृश्य संसार ब्रह्म का ही रूप है। वह नित्य है, फलता-फूलता और पल्लवित होता है।

बालकाण्ड के आरम्भ मे तुलसीदास ब्रह्म और गोचर जगत् की एकता घोषित करते हैं:

"जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।"

"सीय राममय सब जग जानी।"

उत्तरकाण्ड में शिव कहते हैं:

"निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध।"

"कवितावली" मे संसार को झूठा कहने वाले संतों को उन्होंने गंवार कहा है, यह हम ऊपर देख चुके है।

संसार सत्य है, संसार ब्रह्ममय या राममय है, दृश्य संसार मे तुलसी को राम दिखाई देते है—ये निष्कर्ष ऊपर के उद्धरणों से निकलते है।

यह संसार मिथ्या है, इस धारणा के समर्थन मे भी अनेक उक्तियाँ उद्धृत की जा सकती है।

बालकाण्ड मे शिव कहते है :

"झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने।
जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई।"

यह संसार स्वप्न के समान है। ब्रह्मज्ञान न होने से झूठा संसार भी सत्य मालूम होता है; ज्ञान प्राप्त होने पर स्वप्न के भ्रम की तरह वह खो जाता है। माया के कारण जीव कष्ट पाता है—"फिरत सदा माया कर प्रेरा" इत्यादि—ज्ञान होने पर या ईश्वर की कृपा होने पर वह मुक्त हो जाता है। मनुष्य के अज्ञान का नाम माया है। माया ब्रह्म की रचना-शक्ति का नाम भी है—"मम माया संभव संसारा।"

संसार सत्य है या मिथ्या—इस प्रश्न का उत्तर एक दूसरी समस्या से जुड़ा हुआ है और वह यह कि ब्रह्म सगुण है कि निर्गुण या दोनो। शुक्लजी ने भक्ति के विकास का विवेचन करते हुए दिखाया था कि भक्तो के लिये ब्रह्म सगुण-निर्गुण व्यक्त-अव्यक्त दोनो है। तुलसी अनेक स्थलो पर उसे सगुण-निर्गुण दोनो मानते हैं।

राम-नाम की महिमा वर्णन करते हुए वह कहते हैं :

"अगुन अनूपम गुन निधान सो।"

और भी—

"अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।"

यह स्थापना पहले से चली आ रही थी; तुलसी ने उसे दोहराया है लेकिन दोहराकर संतोष नहीं कर लिया। वह अगुन-सगुन की एकता नाम के आधार पर कराते हैं। इसे वह अपना मत कहते हैं।

"मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते। किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें।"

इसी तरह "अगुन-सगुन बिच नाम सुसाखी" मानते है। योगी भी "अकथ अनासय नाम न रूपा' ब्रह्म का साक्षात्कार नाम जपकर ही करते है—"नाम जीह जपि जागहि जोगी।' तुलसी के पास नाम एक ऐसा अस्त्र है जिससे वह अरूप-अनामवादियो को परास्त कर देते है। ब्रह्म का चाहे व्यक्त रूप लो चाहे अव्यक्त, नाम के बाहर दोनो नहीं है। तुलसी की "प्रतीति प्रीति रुचि मन की" यह है कि ब्रह्म कुछ लोगो को तो प्रकट अग्नि के समान प्रत्यक्ष दिखाई देता है और कुछ को दारुगत अप्रत्यक्ष जान पड़ता है। ये दोनो ही नाम से सुगम हो जाते है, इसीलिये नाम ब्रह्म और राम से बढ़कर है। उत्तरकाण्ड मे वेद राम की वंदना करते हुए "जय सगुन निर्गुन रूप" कहते है। फिर वे कहते है कि जो ब्रह्म को अज, अद्वैत, अनुभवगम्य कहकर उसका ध्यान करते हों, वे किया करे लेकिन "हम तव सगुन जस नित गावही।"

इस विवेचन से दो बाते स्पष्ट है कि तुलसी शुद्ध निर्गुणवादी नही हैं, अधिक से अधिक वह ब्रह्म के सगुण-निर्गुण दोनो रूप मानते है। दोनो को नाम के अधीन समझते है। इसके साथ ही वह सदा ब्रह्म को दयालु कहते है। बालकाण्ड मे जिसे वह "अनीह अरूप अनामा" कहते है, उसे "व्यापक बिस्वरूप भगवाना" भी मानते है और उसे "परम-कृपालु प्रनत अनुरागी", ममता, छोह और करुणा से युक्त कहते हैं। उत्तरकाण्ड मे राम कहते है :

"अखिल विस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया।"

दयावान ब्रह्म की कल्पना तुलसी को मूलतः सगुणवादी बनाती है। यह दयावान ईश्वर अपने रचे हुए विश्व को प्यार करते हैं, उसमे रहने वाले प्राणियों पर दया करता है।

"सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सबते अधिक मनुज मोहिं भाए।"

यदि संसार माया है तो उस संसार मे रहने वालो को प्रिय कहने वाला भी माया के वश मे है।

तुलसीदास शैवो और वैष्णवो को राम के भक्तों को और कृष्ण के भक्तों को, सगुणवादियों और निर्गुणवादियो को एक करना चाहते थे।

लेकिन वह शैव नहीं थे वैष्णव थे, उनके इष्टदेव कृष्ण नहीं थे, राम थे, वह ब्रह्म को मूलतः विश्वरूप और सगुण मानते थे, न कि अगोचर, निर्गुण और निराकार। शुक्लजी ने मध्यकालीन भक्तो के लिये यह दावा किया था कि वह जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिषेध करते है, यह बात तुलसी के लिये भी सही है।

तुलसी के लिये संसार सत्य था या असत्य, इसका पता इसी से नहीं लगता कि ब्रह्म, जीव और जगत् के बारे मे उन्होने क्या कहा है; इसका पता इससे भी लगता है कि उन्होने मानव-जीवन, मानव-समाज और मानव-चरित्र का चित्रण किस तरह किया है। जहां योगी और वैरागी मानव-समाज से विमुख होकर अपने एकान्त जप और ध्यान मे लगे रहते थे, वहाँ तुलसी की हरिकथा मानवजीवन की कथा का रूप ले लेती है। जायसी की भूमिका मे शुक्लजी ने रासो आदि को वीरगाथा, पद्मावत आदि को प्रेमगाथा और "रामचरितमानस को जीवनगाथा के अंतर्गत" रखा है। तुलसी का महान् काव्य रामचरितमानस जीवनगाथा ही है; तुलसी उन्हीं सच्चे कवियो मे है जिनका हृदय, शुक्लजी के अनुसार, जीवन की वास्तविक दशाओं मे रमता है, जो भावो की व्यंजना अत्यंत उत्कर्ष पर पहुँचा सकते है लेकिन जो वास्तविकता का आधार नहीं छोड़ते। शुक्लजी तुलसी को महाकवि इसलिये मानते हैं कि उन्होंने "मनुष्य-जीवन की बहुत अधिक परिस्थितियो का" सन्निवेश किया है। इसमें उन्होने "हृदय की विशालता, भावप्रसार की शक्ति, मर्मस्पर्शी स्वरूपो की उद्भावना और शब्द शक्ति" का परिचय दिया है। गुण और आदर, पाप और घृणा, अत्यचार और क्रोध, शोक और करुणा, महत्व और दीनता—मानव-प्रकृति के बहुसंख्यक रूपो का चित्रण गोस्वामीजी ने किया है।

"शृंगार, वीर आदि कुछ गिने गिनाए रसों के वर्णन मे निपुण" कवियो से तुलसी को भिन्न कोटि मे रखते हुए शुक्लजी ने उन्हें ऐसा महाकवि कहा है जिसका "अधिकार मनुष्य की संपूर्ण भावनात्मक सत्ता पर है।" यहां पर शुक्लजी ने लक्षण-ग्रन्थो की रस-निरूपण परंपरा की

सीमाएं भी बतला दी है। मनुष्य की संपूर्ण भावनात्मक सत्ता शृंगार, वीर आदि कुछ गिने-गिनाये रसो से कहीं अधिक व्यापक है। यह संपूर्ण भावनात्मक सत्ता ही महान् कवियो का भावक्षेत्र होती है; उसी प्रकार साहित्य की आलोचना भी उस व्यापकता का ध्यान रखते हुए होनी चाहिये। यदि आलोचक साहित्य का मूल्याङ्कन करते हुए कुछ रस और अलङ्कार गिनाने बैठे जायं तो उनकी आलोचना-परिधि बहुत ही सीमित रहेगी। तुलसी जैसे लोकहृदय के मर्मी कवियों की तुलना में दरबारी कवि कितने क्षुद्र है, यह बताने के लिये शुक्लजी कहते है : "केशव, बिहारी आदि के साथ ऐसे कवियो को मिलान के लिये रखना उनका अपमान करना है।" शुक्लजी ने लक्षणग्रन्थो की परंपरा से बाहर निकल कर, उसका तीव्र विरोध करके तुलसी का मूल्याङ्कन किया है। यह इस बात का प्रमाण है कि वह हिन्दी आलोचना को सामन्ती विचारधारा की पराधीनता से मुक्त कर रहे थे। तुलसी का मूल्याङ्कन करते हुए उन्होंने आलोचना के नये मानदण्ड भी स्थापित किये है।

तुलसी के मुकाबले मे शुक्लजी ने सूर, जायसी और कबीर को भी नीचा स्थान दिया है, यह ठीक है। तुलसी का भावक्षेत्र अधिक व्यापक है। कबीर, सूर आदि से अधिक वह मानव-करुणा के कवि हैं। वह मानव के दुख से व्यथित ही नहीं हैं, वह अपने पात्रो मे सक्रिय प्रतिरोध के गुण भी चित्रित करते हैं। प्रचलित पूँजीवादी विचारधारा के प्रतिकूल शुक्लजी परिस्थितियो के अनुसार क्रोध और ध्वंस को भी काव्य मे आवश्यक समझते है। तुलसी ने क्षमा, उदारता आदि ही में लोकधर्म नहीं देखा "वल्कि क्रोध, घृणा, शोक, विनाश और ध्वंस आदि मे भी उसे देखा।" अहिंसावाद के एकाङ्गी प्रचारको को उत्तर देते हुए वह लिखते हैं : "अत्याचारियो पर जो क्रोध प्रकट किया जाता है, असाध्य दुर्जनों के प्रति जो घृणा प्रकट की जाती है, दीन दुखियो को सतानेवालों का जो संहार किया जाता है, कठिन कर्तव्यो के पालन मे जो वीरता प्रकट की जाती है, उसमे भी धर्म अपना मनोहर रूप दिखाता है।"

सर्प को दूध पिलाकर उसका स्वभाव बदलने वालो को शुक्लजी

व्यक्तिगत साधना करने वाला कहते हैं, यह लोक-धर्म नहीं है। लोक-धर्म वह है जिस पर आम जनता चल सके। व्यक्तिगत साधना और लोक-धर्म का यह भेद उन अहिंसावादियो के लिये बहुत अच्छा उत्तर है जो जनता के लिये दंड और कारागार का विधान करते हैं और निहित स्वार्थों का हृदय-परिवर्तन करने का ऐलान किया करते है। शुक्लजी उन लोगो को भी उत्तर देते है जो कहते हैं कि शान्तिपूर्ण लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये शान्तिपूर्ण उपाय ही काम से लाने चाहिए। भारत में साम-दाम-दण्ड-भेद का विधान बहुत पुराना है। शुक्लजी कहते हैं: "यदि किसी अत्याचारी का दमन सीधे न्यायसंगत उपायों से नहीं हो सकता तो कुटिल नीति का अवलंबन लोकधर्म की दृष्टि से उचित है।" भारतीय इतिहास पर नज़र डालते हुए वह इस नतीजे पर पहुँचते हैं: "भारतीय जन-समाज मे लोकधर्म का यह आदर्श यदि पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित रहने पाता तो विदेशियों के आक्रमण को व्यर्थ करने में देश अधिक समर्थ होता।"

शुक्लजी ने भक्ति आन्दोलन और जनता के प्रतिरोध का सम्बन्ध जोड़ा है। "दक्षिण भारत में रामदास स्वामी ने इसी लोक-धर्माश्रित भक्ति का संचार करके महाराष्ट्र शक्ति का अभ्युदय किया। पीछे से सिखो ने भी लोक-धर्म का आश्रय लिया और सिख-शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ।" भक्ति आन्दोलन जातीय आन्दोलन था; वह किसी विशेष वर्ण या सम्प्रदाय का आंदोलन न था। उसमें हिंदू, सिख, मुसलमान, जुलाहे, कारीगर, किसान, व्यापारी सभी शामिल थे। उसे राज्याश्रय प्राप्त न था, यह भी बिल्कुल स्पष्ट है। कारण यह है कि वह एक ओर यदि तुर्कों और मुगलो के शासन का विरोधी था तो दूसरी ओर—और उससे भी अधिक—वह समाज मे सामंती और पुरोहिती उत्पीड़न का विरोधी था। इस सामन्त-विरोधी कार्य में सूर, तुलसी, कबीर, जायसी सभी ने न्यूनाधिक योग दिया था। शुक्लजी के सामने भक्ति-आन्दोलन का यह पहलू बहुत स्पष्ट न था। इसलिये सूर-साहित्य मे उन्हें लोक-संग्रह की भावना नहीं दिखी या कम दिखी है, कबीर आदि सन्तों में उन्होने लोक-विरोध

भी देखा और तुलसी को उनसे विरोधी दिशा का कवि माना। जायसी आदि पर उन्होंने विदेशी प्रभाव देखा।

शुक्लजी के अनुसार तुलसी के समय मे नए-नए पंथ निकल रहे थे, ज्ञानविज्ञान की निन्दा होती थी, विद्वानो का उपहास होता था, वेदान्त के दो चार शब्दो का अनधिकार प्रयोग होता था, लोक को व्यवस्थित करने वाली मर्यादा का अभाव था। तुलसी ने वर्ण-धर्म, वेदविहित कर्म के साथ भक्ति का सामंजस्य स्थापित करके "आर्य धर्म को छिन्न भिन्न होने से बचाया।" शुक्लजी के अनुसार तुलसी के समय मे दो तरह के भक्त थे। एक तो वे थे जो "वेद शास्त्रज्ञ तत्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित संप्रदायो के अनुयायी थे", दूसरे वे थे जो "समाज-व्यवस्था की निन्दा और पूज्य तथा सम्मनित व्यक्तियो के उपहास द्वारा लोगो को आकर्षित करते" थे। समाज मे शासको, विद्वानो, शूरवीरो आदि को जो अधिकार और सम्मान प्राप्त रहता है, उससे कुछ लोगो को अकारण ईर्ष्या और द्वेष हो जाता है। इसलिये "उक्त शिष्ट वर्गों मे कोई दोष न रहने पर भी" चलते पुर्जे लोग अगुआ बनकर साधारण लोगो को भड़का देते है। शुक्लजी ने योरप की "सामाजिक अशान्ति" के लिये ऐसे लोगो को जिम्मेदार ठहराया है। "क्रान्तिकारक, प्रवर्तक आदि कहलाने का उन्माद योरप मे बहुत अधिक है।" रूसी क्रान्ति के बारे मे साम्राज्यवादियो ने धुंआधार प्रचार किया था, उसी को दोहराते हुए शुक्लजी ने लिख डाला है: "ऊंची श्रेणियो के कर्तव्य की पुष्ट व्यवस्था न होने से ही योरप मे नीची श्रेणियो मे इर्ष्या, द्वेष और अहंकार का प्राबल्य हुआ जिससे लाभ उठा कर लेनिन अपने समय का महात्मा बना रहा।" यह महात्मापन देने वाली जनता ही है, इसलिये शुक्लजी चेतावनी देते हैं: "मूर्ख जनता के इस माहात्म्य प्रदान न पर भूलना चाहिए। जनता के अनुकूल काम करने वाले उसके सम्मान के पात्र बन जाते है।" रूस में "मूर्ख जनता" के अनुकूल कार्य करने वाले रह गए है और "भारी भारी विद्वानों और गुणियो का भागना" अमंगल की सूचना दे रहा है। "अल्प शक्तिवालों की अहंकार-वृत्ति को तुष्ट करने वाला 'साम्य' शब्द

ही उत्कर्ष का विरोधी है।"

शुक्लजी के विवेचन का यह सबसे कमजोर पहलू है। उन्होंने शुरूआत की थी कबीर आदि का लोक-विरोधी रूप दिखाने से, पहुँच गए रूसी क्रान्ति और लेनिन तक और अन्त मे जनता को ही मूर्ख और जड़ कहने लगे। इससे यह परिणाम निकालना कि शुक्लजी क्रान्ति-विरोधी थे, जनता मे उन्हे विश्वास न था, वह वर्णव्यवस्था और सामंती समाज के हिमायती थे, गलत होगा। शुक्लजी ने ये शब्द आवेश मे लिखे है; उनकी मूल विचारधारा से इनका मेल नही है। इस आवेश के कारण, तुलसी के महत्व का ग़लत प्रतिपादन करने के जोश मे, वह अनेक असंगतियो मे फंस गये है।

जिस जनता को उन्होने जड़ और मूर्ख कहा है, तुलसी उसी के कंठ-हार है, शुक्ल जी से यह छिपा न था। वह तुलसी की इसलिये प्रशंसा नही करते कि विद्वानो ने तुलसी को अपनाया है, शासको और अधिकार प्राप्त वर्गों ने उन्हे अपनाया है वरन् इसलिये कि जनता ने उन्हें अपनाया है। इस बात को वह एकबार नही कहते, बारबार कहते हैं। कहते अघाते नहीं है। कुछ उदाहरण देखिये।

(१) "कथाएं तो और भी कही जाती है, पर जहाँ सबसे अधिक श्रोता देखिये और उन्हे रोते और हंसते पाइये, वहाँ समझिए कि तुलसी-कृत रामायण हो रही है। साधारण जनता के मानस पर तुलसी के मानस का अधिकार इतने ही से समझा जा सकता है।"

(२) हिन्दी के कवियो मे इस प्रकार की सर्वांगपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामी जी मे ही है जिनके प्रभाव से रामचरित मानस उत्तरीय भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है।"

(३) "यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखने वाला हिन्दी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारती-कंठ भक्त-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास"।

यदि जनता मूर्ख है और विद्वत्ता का ठेका थोड़े से वेदशास्त्रज्ञों ने

ले रखा है तो उसके हृदय पर अधिकार जमाने वाले कवि भारती-कंठ नहीं हो सकते, वे भक्त-चूड़ामणि और भारत-हृदय नही कहला सकते। यदि रामचरित मानस उत्तरी भारत की "सारी जनता के गले का हार" है तो उसे हिन्दुओ का धर्म ग्रंथ मानना और तुलसी को हिन्दू धर्म का उद्धारक मानना सही नही हो सकता। सचाई क्या है? सचाई यह है कि तुलसी जन साधारण के कवि है। जन साधारण मे बहुत से अन्धविश्वास हैं तो ऐसी गहरी सहृदयता भी है जो तुलसी के काव्य पर झूम उठती है।

तुलसी यदि घोर व्यवस्थावादी थे तो वह प्रेम को सारे नियमो के, समूची व्यवस्था के, ऊपर क्यो मानते है? क्षत्रियो के लिये औरतो का जूठा खाना, वह भी बेर, किस शास्त्र मे लिखा है? निषाद को गले लगाना किस स्मृति की व्यवस्था है? भाई को मूर्छित देखकर जब राम कहते हैं:

"जो जनतेउँ बनबंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहीं ओहू।"

यह पिता की आज्ञा का उल्लङ्घन करने की इच्छा किस मर्यादावाद के अंतर्गत आती है? इस पंक्ति की चर्चा करते हुए स्वय शुक्लजी लिखते हैं: "यह कोमलता, यह सहृदयता सब प्रकार के नियमो से परे है।" व्यवस्था और मर्यादा के बारे मे तमाम शोरगुल का नतीजा यह निकला—यह सहृदयता सब प्रकार के नियमो से परे है। और क्या तुलसी की भक्ति का यही सच्चा रूप नही है? क्या तुलसी ने उन्हे ढाढ़स नही बंधाया जो इन नियमो के ही कारण समाज में पिस रहे थे और जो ऊपर उठना चाहते थे, ईर्ष्या और द्वेष के कारण नही, वरन् थोड़ा सिर उठा सकने के लिये, एक जून मुठी भर अन्न पाने के लिये, तुलसी के राम कहते हैं?

"भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहिं प्रान प्रिय असि मम बानी।"

यह नीचों का भक्त बनना किस वेद मे लिखा है? यही नही—

"भए सब साधु किरात किरातिनि, रामदरस मिटि गइ कलुषाई।"

जब किरात और किरातिनें भी साधु होने लगीं तब कलियुग आगया या नहीं? क्या इससे स्पष्ट नही कि तुलसी की भक्ति मानवमात्र की

साम्यभावना लेकर चली है ? इस साम्यभावना का आधार क्या है ? क्या यह कि हर पुरुष और स्त्री बल और बुद्धि मे बराबर हो गया है ? नहीं, इस साम्यभावना का आधार यही है कि भक्ति करने का अधिकार सब को है, चाहे वह किरात हो, चाहे निषाद्।

जब-जब साधारणजन अधिकार-प्राप्त शासकवर्गों से पीड़ित हुए हैं, वे इस तरह की साम्यभावना की ओर तेज़ी से खिचते रहे हैं। साम्य-वाद् का यह अर्थ कभी नहीं होता कि सभी मनुष्य विद्या-बुद्धि और बल मे एक से हो जायँगे। उसका अर्थ यह होता है कि उन्नति के लिये सभी को अवसर मिले ; अवसर मिलने की बात कागज पर न रहे वरन् उसकी वास्तविक व्यवस्था हो। साधारण जनता को उन्नति का यह अवसर तब तक नही मिलता जब तक संपत्ति और उन्नति के साधनो पर मुट्ठी भर आदमियो का कब्जा रहता है और जनता का विशाल भाग संपत्ति और उन्नति के साधनो से वंचित रहता है। बीसवी सदी मे पच्छिम के मुट्ठी भर संपत्तिशाली लोगो ने केवल अपने देशो की जनता को गुलाम न बनाया था वरन् भारत जैसे विराट् देशो को भी अपने पैरों तले कुचल रखा था। इन्ही के कारण एशिया की करोड़ो जनता गुलामी और भुखमरी का शिकार बनी हुई थी। इन्हीं लोगो ने जनतंत्र और राष्ट्रीय स्वाधीनता के नाम पर—लेकिन वास्तव मे दुनिया के बाज़ारो का फिर से बटवारा करने के लिये—प्रथम विश्व-युद्ध का आयोजन किया था। युद्ध और शोषण की इस जघन्य साम्राज्य-व्यवस्था से बाहर निकलने का रास्ता लेनिन ने दिखाया था ; जनता का संगठन करके, उसका नेतृत्व करते हुए, संसार मे वह पहली समाज-व्यवस्था कायम की जो पूंजी-पतियों, साहूकारों, सामन्तों और खूनी युद्धपतियो के आतंक और शोषण से मुक्त थी। इसीलिये साधारण जनता को लेनिन इतना प्रिय थे। जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर रूस गये थे, तब यह देखकर कि पुस्तको की दूकानो के सामने कारखानों से निकले हुए मजदूर कतार बांधकर खड़े हुए हैं, उन्होने यही कहा था—भारत मे भी क्या कभी मजदूरी करने वाले लोग किताबो की दूकानो के सामने ऐसे ही कतार बांधकर खड़े

होंगे ? यदि शुक्लजी को अवसर मिलता और वे भी वह सब देख पाते जो रवीन्द्रनाथ ने देखा था, तो अवश्य ही उनकी प्रतिक्रिया भी वैसी ही होती। यदि रूसी भाषा मे रामचरितमानस का सुन्दर संस्करण देखने को वह जीवित रहते तो अनुभव करते कि लेनिन ने जिस व्यवस्था की नीव डाली थी, उसमे पला हुआ मनुष्य अपने पुश्किन का ही आदर नही करता, वह हमारे महान् कवि भारती-कंठ तुलसीदास को भी अपनाता है।

तुलसी के समय मे सामन्ती व्यवस्था जर्जर हो रही थी। शंकर का वेदान्त, गोरखपंथियो का योग, राजदरबारो की शूरता देश की रक्षा करने मे असमर्थ साबित हो चुकी थी। जर्जर व्यवस्था के समर्थक कवि जनता के हृदय पर अधिकार जमाने वाले कवि नही हुआ करते। भक्त-कवियो का मूलमंत्र प्रेम इसीलिये है कि वह मनुष्य मात्र के लिये सुलभ है। प्रेम ही वह लोकधर्म है—न कि विप्रपदपूजा या स्त्रियो के लिये पातिव्रत की शिक्षा और पुरुषो के लिये नायिका भेद—जिसके आधार पर उस समय साधारण जनता अपनी एकता का अनुभव कर सकती थी और सामन्ती उत्पीड़न के विरुद्ध अपने आत्म-सम्मान का दावा कर सकती थी। कबीर, सूर और जायसी प्रेम के कवि है, इस प्रेम के ही आधार पर कबीर साधारण जनता मे आत्मसम्मान का भाव जगा सके। और तुलसी भी सबसे अधिक इसी प्रेम के कवि है। शुक्लजी ने तुलसी के लिये बिल्कुल ठीक लिखा है : "जो प्रेमभाव अत्यन्त उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ उन्होने प्रकट किया है, वह अलौकिक है, अविचल है और अनन्य है।" शुक्लजी ने तुलसी के इस प्रेम को पहचाना, उसे सराहा, उसे केशव-बिहारी के "प्रेम" से एकदम भिन्न माना, यही उन्हे हिन्दी का महान् आलोचक बनाता है, तुलसी मे वेदशास्त्रों की व्यवस्था ढूंढ़ना नही। शुक्लजी की महत्ता इस बात मे है कि उन्होने इस प्रेम का लोकवादी रूप पहचाना, कर्मक्षेत्र से उसका सम्बन्ध बतलाया, उसे व्यक्तिवादी प्रेम, अहम् के संकुचित वृत्त मे चक्कर काटने वाले प्रेम से भिन्न कहा। उनका यह दावा बिल्कुल सही है : "यह प्रेम मार्ग निराला नही है जीवन यात्रा के मार्ग से अलग होकर जाने वाला नही है। यह प्रेम कर्मक्षेत्र से अलग

नहीं करता, उसमे बिखरे हुए काटो पर फूल बिछाता है।"

जो प्रेम कांटो पर फूल बिछाता है, वह स्त्रियों और शूद्रो के लिये दण्डविधान नहीं कर सकता। रामायण मे शूद्रो के बारे मे जो उक्तियां मिलती है, उन्हे सही बताने मे शुक्लजी को काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा है। उन्होने यह तर्क दिया है: "शूद्र शब्द से जाति की नीचता मात्र से अभिप्राय नहीं है, विद्या, बुद्धि, शील, शिष्टता, सभ्यता सबकी हीनता से है।" आगे भी लिखा है: "शूद्र शब्द को नीची श्रेणी के मनुष्य का—कुल, शील, विद्या, बुद्धि, शक्ति आदि सब मे अत्यन्त न्यून का—बोधक मानना चाहिए। इसकी न्यूनताओ को अलग अलग न लिखकर वर्ण विभाग के आधार पर उन सब के लिये एक शब्द का व्यवहार कर दिया गया है।" लेकिन रामायण मे यह भी लिखा है:

"पूजिय बिप्र सीलगुन हीना। सूद्र न गुनगन ग्यान प्रवीना।"

शुक्लजी इस पंक्ति के सामने पड़ने पर यही कह पाते है · "जातीय पक्षपात से उस विरक्त महात्मा को क्या मतलब जो कहता है—

लोग कहै पोचु सो न सोचु न सँकोचु मोरे
ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौ।"

शुक्लजी का तर्क कमजोर पड़ता है लेकिन उसकी कमजोरी ही उनकी शहज़ोरी है। यह तर्क साबित करता है कि स्वयं शुक्लजी को इस तरह की उक्तियो से जरा भी सहानुभूति न थी। वे या तो शूद्र शब्द का लोक-प्रचलित अर्थ छोड़कर दूसरा अर्थ करते थे या तुलसी की दूसरी उक्तियाँ उद्धृत करते थे जिनमे उन्होने जाति-पांति की अवज्ञा दिखलाई है। यह इस बात का भी प्रमाण है कि शुक्लजी पर ब्राह्मणवादी होने का आरोप निराधार है।

स्त्रियो के बारे मे रामचरितमानस मे जो असुन्दर वाक्य मिलते हैं, उनके बारे मे तर्कशास्त्री शुक्लजी कहते है: "सब रूपों मे स्त्रियो की निन्दा उन्होंने नहीं की है। केवल प्रमदा या कामिनी के रूप मे, दांपत्य रति के आलंबन के रूप में, की है: माता, पुत्री, भगिनी आदि के रूप मे नही। इससे सिद्ध है कि स्त्री जाति के प्रति उन्हे कोई दोष न था। अतः

उक्त रूप मे स्त्रियो की जो निन्दा उन्होने की है, यह अधिकतर तो अपने ऐसे और विरक्तो के वैराग्य को दृढ़ करने के लिये, और कुछ लोक की अत्यन्त आसक्ति को कम करने के लिये।" ऐसा लगता है कि गोस्वामी जी को नारी के माता, भगिनी और पुत्री रूप से कोई परहेज न था; दाम्पत्य रति के आलंबन रूप बनने से ही उन्हे वैराग्य मे विघ्न पड़ता दिखाई देता था। इससे भी सुन्दर तर्क यह है: "स्त्रियो को जो स्थान-स्थान पर बुरा कहा है, उसका ठीक तात्पर्य यह नहीं कि वे सचमुच वैसी ही होती हैं; बल्कि यह मतलब है कि उनमे आसक्त होने से बचने के लिए उन्हे वैसा मान लेना चाहिये।" शुक्लजी ने मानो तै कर लिया है कि रामचरितमानस मे जो भी उक्तियाँ मिलेगी, उनका समर्थन करेगे ही। समर्थन करना आसान न था, यदि शुक्लजी अपनी सहृदयता को दर-किनार कर देते। लेकिन स्त्रियो के प्रति उन्हे गहरी सहानुभूति थी। दरबारी कवियो पर उनके कोप का यह भी एक कारण था कि वे नारी के व्यक्तित्व का सम्मान न करते थे। उन्होने रामचरितमानस मे नारी के प्रति निन्दासूचक वाक्यो को किसी तरह सही ठहराने के लिये कही तुलसी के वैराग्य का सहारा लिया है, कही उन्हे सिद्धान्त-वाक्य न मानकर अर्थवाद मात्र समझने पर ज़ोर दिया है! फिर भी काफ़ी संकोच के साथ—जैसे तुलसी ने राम के बालिवध पर शङ्का प्रकट की थी—उन्होने लिख ही डाला: "पर उद्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिये इस युक्ति का आलंबन करना गोस्वामी जी ऐसे उदार और सरल प्रकृति के महात्मा के लिये सर्वथा उचित था, यह नही कहा जा सकता; क्योकि स्त्रियाँ भी मनुष्य है—निंदा से उनका जी दुख सकता है।"

शुक्लजी के जनवादी अंतःकरण का वह एक और प्रमाण है। धर्म-संकट में पड़ने पर वह तुलसी का पक्ष छोड़कर स्त्रियो का पक्ष लेना ही ज्यादा उचित समझते हैं। अपने वैराग्य की रक्षा के लिये गोस्वामी जी स्त्रियों का जी दुखायें, यह आचार्य शुक्ल को सहन नही है। स्त्रियो के लिये समान अधिकारों की घोषणा करते हुए शुक्लजी देवियों को यह भी सलाह देते हैं कि संन्यासिनी बनो तो तुम भी अपनी बहनो को

वैराग्य का उपदेश देते हुए "पुरुषों को इसी प्रकार 'अपावन' और 'सब अवगुणों की खान' कह सकती" हो! इस तर्क का आनन्द लेते हुए शुक्लजी और आगे बढ़कर कहते है : "पुरुष-पतंगों के लिये गोस्वामीजी ने स्त्रियों को जिस प्रकार दीपशिखा कहा है, उसी प्रकार स्त्री-पतंगियों के लिये वह पुरुषो को भाड़ कहेगी।"

लेकिन क्यो पुरुष भाड़ बने और क्यो स्त्रियां पतंगों के लिये दीपशिखा बनें? गोस्वामीजी नारी को दाम्पत्य-रति का आलंबन बनाने के विरुद्ध कब है? दाम्पत्य-रति तो धर्म विहित है; गोस्वामीजी तो विवाह के पूर्व ही नायक-नायिका का प्रेम दिखाकर कथा को "रोमैंटिक टर्न" देते हैं। शुक्लजी ने वाल्मीकि और तुलसी के प्रेम-चित्रण की तुलना करते हुए बताया है कि वाल्मीकि में तो सीता-राम के प्रेम का परिचय विवाह के बाद मिलता है लेकिन गोस्वामीजी ने एक दूसरी काव्य परंपरा का अनुसरण करते हुए कथा को "प्रेमाख्यानी रंग (रोमैंटिक टर्न) देने के लिये.... धनुषयज्ञ के प्रसंग मे 'फुलवारी' के दृश्य का सन्निवेश किया।" उसके बाद "बहुरि बदन विधु अंचल ढांकी" का दाम्पत्य-रति वाला चित्र भी प्रस्तुत किया। कथा को यो रोमैंटिक टर्न देने वाले कवि के समर्थन में वैराग्य-रक्षा की दलील कितनी कमजोर है, यह देखा जा सकता है। यदि कोई कहे कि शृंगार की यह व्यंजना सीताजी को लेकर है जो जगज्जननी हैं, तो उत्तर यह होगा कि "सहज अपावन नारि" का उपदेश भी उन्हीं को दिया गया है। यदि वह अपावनता की बात सीताजी के लिये नहीं, उनके बहाने और सब देवियों के लिये है, तो वह शृंगार-व्यंजना भी सीताजी के लिये नही, उनके बहाने और सब देवियों के लिये हैं जो वैराग्य के लिये और भी भयंकर है।

"कोटि मनोज लजावन हारे" आदि पंक्तियां उद्धृत करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है : "पवित्र दांपत्यरति की कैसी मनोहर व्यंजना उन्होंने सीता द्वारा उस समय कराई है" इत्यादि। यदि दाम्पत्यरति पवित्र हो सकती है तो फिर स्त्रियों के दांपत्य रति का आलंबन बनने से परहेज क्यों? वैराग्य की रक्षा के लिये उन्हे कोसा क्यों जाय?

"ढोल गँवार शूद्र पशु नारी" की पंक्ति के बारे में शुक्लजी "ताड़न" की व्याख्या यों करते हैं : वह "ढोल शब्द के योग में आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न करने के लिये लाया गया है।" लेकिन यह व्याख्या संतोषजनक न लगने पर शुक्लजी ने यह भी जोड़ दिया है : "स्त्री का समावेश भी सुरुचिविरुद्ध लगता है, पर बैरागी समझकर उनकी बात का बुरा न मानना चाहिए।" यदि बैरागी कह कर तुलसी को माफी देनी है तो उन्हें लोकधर्म का संस्थापक, समाज-व्यवस्था का रक्षक क्यों कहा ?

तुलसी को बैरागी समझकर बख्शने की जरूरत नहीं है। महाकवि तुलसी जीवन के प्रति उदासीन नहीं है; वह राम में अनुरक्त हैं, राम के मानवीय गुणों में अनुरक्त हैं, राम से बढ़कर उनके मानवभक्तों में अनुरक्त हैं। तुलसी के समाज में स्त्रियों को वही दर्जा दिया गया था जो वर्ण-व्यवस्था में शूद्रों का था और शूद्रों का दर्जा पशुओं का था। तुलसी का महत्व इस विषम समाज-व्यवस्था को ढहने से बचाने में नहीं है, न उन्होंने उसे बचाया, तुलसी का महत्व इसमें है कि उन्होंने अपने को समाज के इन्हीं पतितों का एक अंग समझा, उनके अपमान को अपना अपमान समझा, उनके सम्मान के लिये, मानव-मात्र के लिये, सुलभ भक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया। तुलसी की यह विशेषता है कि जो जितना ही समाज-व्यवस्था में गिरा हुआ है, उतना ही वह राम को प्रिय है, जितनी जल्दी राम उस पर कृपा करने के लिये तैयार रहते हैं, उतनी जल्दी उच्चवर्णों के लोगों पर नहीं। इसीलिये देवता अपने स्वर्ग में बैठे इन इतरजनों के भाग्य पर ईर्ष्या ही प्रकट कर सकते हैं। यहां कोल-किरात-निषाद-भीलनी-केवट आदि राम के दर्शन-मिलन का सुख पाते हैं। राम का स्वागत करने के लिये सबसे आगे स्त्रियां रहती हैं। क्या जनकपुर, क्या वन में, क्या लंका से लौटने पर, हर जगह पुरुषों से अधिक स्त्रियों को ही राम का सान्निध्य प्राप्त है।

राका ससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरखान।
बढ्यो कोलाहल करत जनु नारि तरंग समान॥

शुक्लजी ने लिखा है कि भाई और पत्नी के साथ राम का वन में

घूमना एक मर्मस्पर्शी दृश्य है, इसलिये गोस्वामीजी ने रामचरितमानस, कवितावली और गीतावली तीनो मे उसका अत्यंत सहृदयता से वर्णन किया है। इसके बाद लिखते है : "ऐसा दृश्य स्त्रियो के हृदय को सबसे अधिक स्पर्श करने वाला, उनकी प्रीति, दया और आत्मत्याग को सबसे अधिक उभारने वाला होता है, यह बात समझकर मार्ग मे उन्होंने ग्राम-वधुओ का सन्निवेश किया है।" शुक्लजी के अनुसार गोस्वामीजी का ध्यान इस बात को ओर भी था कि स्त्रियां भी रामचरितमानस पढ़ेंगी या सुनेंगी और इसलिये विशेष रूप से उनके हृदय को स्पर्श करने के लिये उन्होंने ग्रामवधुओ का चित्रण किया है। गोस्वामीजी ने यह सब समझकर किया हो चाहे वैसे ही रस-प्रवाह मे लिख गये हो, यह निश्चित है कि नारी-समुदाय से उन्हे गहरी सहानुभूति थी।

स्त्रियो, शूद्रो आदि के प्रति तुलसी की भावना क्या थी, इसका प्रभाव इधर-उधर की दो चार उक्तियां नहीं है वरन् कथावस्तु का निर्वाह और चरित्र-चित्रण है। तुलसी की कथा और उनके पात्र निन्दासूचक उक्तियों से ठीक उल्टी बात कहते है। और मूलवस्तु कथा और उसके चरित्र है, न कि इधर उधर की उक्तियां। तुलसी के अन्य ग्रंथो से रामचरितमानस का मिलान करने से और उसकी कथावस्तु और चरित्र-चित्रण के संदेश पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्त्रियों, शूद्रो आदि के लिये जो ताड़ना आदि की बातें कही गई हैं, वे तुलसी की लिखी हुई नही हैं, प्रक्षिप्त है, उन्हे प्रमाण नही माना जा सकता। तुलसी की भक्ति सबसे पहले इन्ही "पतितो" के लिये है; जिन्हे कोई नहीं जाँचता, उन्हीं के लिये तुलसी के पतित-उधारन राम है। यदि तुलसी वेद-विहित कर्मों के प्रतिष्ठाता होते तो वे यह व्यंग्य-वचन न लिखते :

"कौन धौं सोमयागी अजामिल अधम कौन गजराज धौ बाजपेयी।"

यदि वह स्त्रियों को ताड़ना का अधिकारी समझते, तो उनकी पराधीनता पर द्रवित होकर यह न लिखते :

"कत विधि सृजीं नारि जग माही। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।"

८

यदि वह सामन्ती व्यवस्था को दृढ़ करने वाले होते तो वे राम को ईश्वर का अवतार न कहते, वरन् वह किसी सामंत को ईश्वर का अवतार कहकर उसकी वंदना करते होते, वह इन सामन्तों के प्रशंसक कवियों के लिये क्रोध से यह न लिखते :

"कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।"

भक्ति आन्दोलन एक सामन्त-विरोधी आन्दोलन था; उसके सर्वश्रेष्ठ सामन्त-विरोधी कवि तुलसी का ऐसा लिखना उचित ही था।

तुलसी की दीनता कल्पित नहीं है; राम को रिझाने के लिये उन्होंने दीनता का नाटक नहीं किया। वह अपनी क्षुद्रता दिखाने के लिये जब अपने को पतित आदि कहते है, वह भी राम के आगे वास्तविक है, जन-साधारण के आगे विनम्रता की व्यंजना। मुख्य बात यह कि तुलसी ने जो कष्ट सहे थे, वे वास्तविक थे, उन कष्टों से वही नहीं, उन जैसे लाखो लोग भी पीड़ित थे। भुक्त भोगी ही लिख सकता था—"आगि बड़वागि ते बड़ी है आगि पेट की।" जनसमाज की गरीबी और भुखमरी से व्यथित कवि ही लिख सकता था :

"दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबंधु
दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी।"

मध्यकालीन समाजव्यवस्था में जनता की गरीबी, भुखमरी, महामारी आदि का वास्तविक चित्रण करने वाले तुलसी उस युग के सबसे बड़े यथार्थवादी कवि हैं, इसमें संदेह नहीं।

शुक्लजी ने काव्य-रचना में प्रबन्धों को बहुत महत्व दिया है। कविता में हृदय के उच्छ्वास ही नहीं प्रकट किये जाते, जीवन का चित्रण भी किया जाता है। संसार के सबसे बड़े कवि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसी-दास, सूरदास, शेक्सपियर, दांते, मिल्टन, होमर, पुश्किन आदि प्रबंध और नाटकीय रचनाएं लिखने वाले रहे हैं। सूर के पद भी भाव-चित्रण के लिये कथावस्तु और नाटकीय परिस्थितियों का सहारा लेते हैं। शुक्लजी ने रामचरितमानस की कथावस्तु का विवेचन करते हुए यह दिखलाया है कि गोस्वामीजी ने किस तरह विभिन्न घटनाओं का चतुराई से उपयोग

करके रसात्मकता बढ़ाई है। उन्होने परशुराम-संवाद विवाह के बाद नही, पहले ही रखा है जिससे "सीता पर उसका अनुरागवर्धक प्रभाव पड़ा ही था।" तुलसी ने कथा के सबसे मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचाना है, उनका उचित उपयोग किया है: राम का वन गमन, चित्रकूट में राम-भरत मिलन, लक्ष्मण के शक्ति लगना आदि। तुलसी ने अलंकारो का प्रयोग भी खूब किया है लेकिन "प्रबंध-प्रवाह के भीतर ही अलंकारो का विधान भी करते चलते है।" कला की उत्कृष्टता इस बात मे है कि हर चीज़ कथा-प्रवाह की सहायता के लिये है। रामचंद्रिका को शुक्लजी ने "फुटकर पद्यो का संग्रह" कहा है। रामचरित पर लिखने से ही कोई महाकवि नहीं हो जाता। कला के संबन्ध मे शुक्लजी का यह दृष्टिकोण बिल्कुल सही है। यह इस बात का एक और प्रमाण है कि शुक्लजी का दृष्टिकोण एकाङ्गी समाज-शास्त्री नहीं था।

शुक्लजी ने तुलसी-साहित्य मे दोष दिखाये है, वे भी ऐसे है जो कलात्मक सौन्दर्य मे बाधक है। कवि पर धर्मोपदेष्टा और नीतिकार का हावी होना शुक्लजी को पसन्द नही है। "शुद्ध काव्य की दृष्टि से देखने पर उसके बहुत से प्रसंग और वर्णन खटकते है; जैसे पातिव्रत और मित्र-धर्म के उपदेश, उत्तरकाण्ड में गरुड़पुराण के ढंग का कर्मों का ऐसा फलाफल कथन...ऐसे स्थलों पर गोस्वामीजी का कवि का रूप नही, उपदेशक का ही रूप है।"

जहां-तहां शुक्लजी ने तुलसी के प्रकृति-चित्रण की तारीफ़ की है लेकिन उस चित्रण से उन्हे संतोष नहीं हुआ। वह सोचते रह जाते हैं: 'ऋष्यमूक पर्वत नियराई'—इस प्रसंग मे प्रकृति-चित्रण का कितना अवकाश था। गोस्वामीजी यह कलात्मक अवसर चूक गये। 'आगे चले बहुरि रघुराई' वाली पंक्ति शुक्लजी को विशेष नीरस लगती थी और समूचे प्रबन्ध की सरसता के ही कारण उन्होंने ऐसी नीरसता को क्षम्य समझा है।

चरित्रचित्रण की विशेषताएं दिखाते हुए उन्होने राम और दशरथ की परस्पर विभिन्नता की बात उठाई है! दशरथ राम के पिता थे, इस-

लिये शुक्लजी उनके भी भक्त नहीं हो गये। दशरथ ने कैकेयी के वश होकर राम के साथ अन्याय किया, शुक्लजी यह भुला नहीं सकते। वर-दान वाली बात उनके गले से नीचे नहीं उतरती। इस तरह का काम "स्त्रैण होने का ही परिचय देना है।" इसके विपरीत धीर-वीर राम का चरित्र है जो पिता की तुलना मे और भी उज्वल हो उठता है।

नायक प्रतिद्वंदी मे भी कुछ गुण होने चाहिए, कवि-कौशल का यह सूत्र शुक्लजी को मालूम है। उन्होंने रावण की कष्ट-सहिष्णुणता, धीरता, राक्षसकुल के पालन आदि का विवेचन किया है। रावण पाप का अव-तार नहीं है; इसीलिए कथा की रोचकता नष्ट नहीं होने पाती।

शुक्लजी ने भाषा पर महाकवि के असाधारण अधिकार के अनेक उदाहरण दिये है। उनकी भाषा के गठन मे जो अनेक बोलियो के तत्व मिले है, उनका अध्ययन करने के लिये मूल्यवान सुझाव दिये है। शुक्ल जी उन कवियों से सख्त नाराज है जो भाषा के साथ मनमाना व्यवहार करते है, वाक्य-रचना आदि के नियमो का ध्यान नही रखते। इन्हे कोसते हुए उन्होंने लिखा है : "हिन्दी का भी व्याकरण है, 'भाषा' मे भी वाक्य रचना के नियम है, अधिकतर लोगों ने इस बात को भूलकर कवित्त सवैयो के चार पैर खड़े किये है।" वह गोस्वामी जी से इस कारण विशेष प्रसन्न हैं कि उन्होंने वाक्यो की सफाई और वाक्य-रचना की निर्दोषता का ध्यान रखा है, वाक्यों मे शैथिल्य नहीं आने दिया, मुहावरो का प्रयोग किया है, इत्यादि।

शुक्लजी तुलसी द्वारा अलंकारो के प्रयोग की विशेषता यह मानते हैं कि जो अलंकार नहीं पहचानते वे भी "अर्थ ग्रहण करके पूरा आनन्द उठाते हैं।" अलंकारों की चर्चा करते हुए उन्हें बिहारी याद न आते, यह कैसे हो सकता था? इसलिये "एक बिहारी हैं कि पहले 'नायिका का पता लगाइये, फिर अलङ्कार निश्चित कीजिए और तब दोनो की सहायता से प्रसंग की ऊहा कीजिए, तब जाकर कहीं अर्थ से भेंट हो।"

काशी मे रहने के कारण अलङ्कार-शास्त्रियों के संपर्क मे आना शुक्ल जी के लिये अनिवार्य था। पुरानी परिपाटी की काव्य-चर्चा में अलङ्कार

गिनाना विशेष विद्वत्ता का चिन्ह माना जाता था। शुक्लजी ने मानों इन अलङ्कार-शास्त्रियो पर धाक जमाने के लिये अलङ्कारों की खूब छान-बीन की है, सीताजी की "बहुरि बदन-बिधु अंचल ढाँकी" आदि चेष्टाएं 'अनुभाव' होंगी या विभावांतर्गत 'हाव' होगी, इसका सूक्ष्म किंतु अमार्मिक विवेचन किया है। कहीं-कहीं गोस्वामी जी ने ऐसी अलङ्कार योजना भी की है जो प्रभावोत्पादक नहीं है। इसके लिये शुक्लजी की दलील है कि रामचरित मानस की ओर सभी प्रकार के लोगों को आकर्षित करना था; इसलिये उन्होने "अलङ्कार की भद्दी रुचि रखने वालों को भी निराश नहीं किया।" !!!

शुक्लजी की यह स्थापना कि प्रबन्ध पटुता के कारण गोस्वामीजी ने अलङ्कारों का उपयोग भावोत्कर्ष के लिये किया है, बिल्कुल सही है। लेकिन प्रबंध-पटुता की प्रशंसा करते हुए उन्होंने मुक्तको और गीतिकाव्य का महत्व कुछ कम करके आंका है, या उसे भुला ही दिया है। तुलसी की रचनाओ में जो "लिरिक' रचनाओं का सौंदर्य है, तुलसी की आत्मीयता, तन्मयता, व्यक्तित्व की झलक, आत्मनिवेदन, स्वतःस्फूर्त गेयता—इन सबका मूल्य या तो उन्होने नही पहचाना या उसके बारे मे वह-क्षमा प्रार्थना सी करते दिखाई देते हैं। यह कहने के बाद कि काव्य का अतिरंजित या प्रगीत स्वरूप मुक्तकों मे ज्यादा पाया जाता है, वह तुलसी के लिये यह दावा करते हैं: "गोस्वामीजी की रुचि काव्य के अतिरंजित या प्रगीत स्वरूप की ओर नही थी।" इतना लिखने के बाद उन्हें गीतावली का ध्यान आता है, इसलिये क्षमा-प्रार्थना कहते हैं, "गीतावली गीतकाव्य है पर उसमे भी भावो की व्यंजना उसी रूप मे हुई है जिस रूप मे मनुष्यो को उनकी अनुभूति हुआ करती है या हो सकती है।" इसका अर्थ यह हुआ कि गीत-काव्य स्वाभाविक हो तो ठीक, अतिरंजित हो तो ग़लत; फिर क्षमा-प्रार्थना की जरूरत क्यो ? वास्तव मे शुक्लजी गीत-काव्य को हेच मानते थे, तुलसी के महाकवि होने का दावा सबसे अधिक उनकी प्रबन्ध-पटुता के कारण किया था, इसीलिये गीत-काव्य के लिये क्षमाप्रार्थी है।

विनयपत्रिका की चर्चा करते हुए इसी ढंग से उन्होंने लिखा है: "विनयपत्रिका मे अलबत तुलसीदास जी अपनी दशा का निवेदन करने बैठे है।" पक्ष की दलील यह है: "पर इस बात को ध्यान मे रखना चाहिए कि तुलसी की अनुभूति ऐसी नहीं जो एक दम सबसे न्यारी हो।" यह बात सूर आदि और गीतकारो के लिये भी कही जा सकती है।

इस सिलसिले मे शुक्लजी ने कलियुग-वर्णन से तात्कालिक देश-दशा का जो सम्बन्ध जोड़ा है, वह ध्यान देने योग्य है। "'विनय' मे कलि की करालता से उत्पन्न जिस व्याकुलता या कातरता का उन्होंने वर्णन किया है वह केवल उन्ही की नही है समस्त लोक की है।" शुक्लजी ने इस स्थापना का विस्तृत विवेचन किया होता तो वे तुलसी की करुणा की और मार्मिक व्याख्या कर पाते। इस करुणा की ओर कम दृष्टि जाने के कारण वह कवितावली और विनयपत्रिका का उपयुक्त मूल्याङ्कन नहीं कर पाये और मानस के विवेचन मे भी पात्रो के अनेक नैतिक गुणों का उद्घाटन नही कर पाये।

उनके कला-विवेचन मे तुलसी के छन्द-कौशल पर प्रकाश नहीं डाला गया; यह कमी खटकती है। इन कमियो के बावजूद "गोस्वामी तुलसी-दास" इस विषय की श्रेष्ठ और मौलिक रचना है। उसकी मौलिकता इस बात मे है कि शुक्लजी ने कला का आधार वास्तविक जीवन को माना है, भक्ति का आधार जीवन की स्वीकृति मानी है, रामचरितमानस को "जीवनगाथा" के रूप मे देखा है, उसमे जीवन की वास्तविक दशाओं, उसकी अनेकरूपता और स्वाभाविकता का विवेचन किया है, दरबारी कवियों से भिन्न और उनकी परंपरा के विरुद्ध तुलसी के लोक-साहित्य की पद्धति प्रमाणित की है, अलङ्कारों को प्रबन्ध और कथावस्तु का उत्कर्ष बढ़ाने वाला समझ कर उनकी व्याख्या की है, तुलसी की भावुकता से परास्त होकर उन्हें प्रेम का उत्कर्ष दिखाने वाला महाकवि माना है, महाकवि की सहृदयता के आगे नियम और व्यवस्था एक ओर रखे रह जाते हैं, यह स्वीकार किया है। तुलसी मे यह सब देखने और लिखने

वाले आलोचक शुक्लजी ही थे। जैसे-जैसे हिन्दी आलोचना के ऊपर से लक्षण-ग्रंथो का प्रभाव उठेगा और 'कला कला के लिए' आदि वादों से वह मुक्त होगी, वैसे ही शुक्लजी की स्थापनाओं का मूल्य हमारी निगाह में और भी बढ़ेगा और उन्हीं स्थापनाओ को विकसित करते हुए तुलसी का और भी विस्तृत अध्ययन संभव होगा।

---

# दरबारी काव्य-परम्परा

रीतिकालीन कवियो के सीमित भाव-क्षेत्र, शृङ्गारप्रियता और साहित्यिक सुरुचि के अभाव की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने इतिहास में लिखा है: "इसका कारण जनता की रुचि नहीं; आश्रयदाता राजा महाराजाओ की रुचि थी जिनके लिये कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।" शुक्लजी ने यहाँ रीतिकालीन कविता का वर्ग-आधार बहुत स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त कर दिया है। जिसे रीतिकालीन कविता कहा जाता है, वह वास्तव मे दरबारी कविता है और उसकी परंपरा संस्कृत से चली आ रही थी—लक्षण-ग्रन्थ, नायिका भेद, अलङ्कार, चमत्कारवाद, सूक्ति-प्रियता, अश्लीलता, हिन्दी रीतिकालीन कविता को ये सभी गुण विरासत मे संस्कृत से मिले थे। इसलिए यह समझना कि देश मे मुसलमानो का राज हो जाने से जनता की रुचि पतित हो गयी थी, सामन्तों की कुरुचि के लिये जनता को दोषी ठहराना है।

"देव और उनकी कविता" मे डा० नगेन्द्र लिखते हैं: "घोर सामाजिक और राजनीतिक पतन के इस युग में जीवन बाह्य अभिव्यक्तियों से निराश होकर घर की चहार-दीवारी में ही अपने को अभिव्यक्त कर सकता था—घर में इस समय न धर्म-चिन्तन था, न शास्त्र चिंतन, अत-

एव अभिव्यक्ति का एक ही माध्यम था—काम। बाह्य जीवन की असफ-ताओ से आहत मन नारी के अङ्गो मे मुंह छिपा कर विमुध-विभोर तो हो जाता था।" यहाँ सामन्तो की कुरुचि को जनता की कुरुचि कह दिया गया है! यदि इस विशेष युग मे निराशा के कारण लोग "नारी के अङ्गों मे मुंह" छिपाते, तो उस युग मे, जब इस तरह की निराशा का कोई कारण न था, ऐसी विलास-प्रियता और नायिका भेदी रुचि क्यों मिलती है? रीतिकालीन कवि शृङ्गार की शराब में ग़म ग़लत करने वाले कवि न थे, न उनका कामक्षेत्र घर की चहार-दीवारी तक सीमित था। डा० नगेन्द्र ने कामवासना को जीवन की मूल प्रवृत्ति मानकर, इस विषय मे ऋग्वेद और फ्रायड को एक करके और समूचे युग को निराशा और पतन का युग कहकर दरबारी कविता के सामन्ती वर्ग-आधार को छिपा दिया है, उन राजाओ-महाराजाओ को "गुड कौन्डक्ट" का सार्टिफिकट दे दिया है जिनके लिये कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।

केशवदास आदि कवियो ने हिन्दी के कुछ मामूली पढ़े लिखे पाठकों और अध्यापकों पर आचार्यत्व का रोब जमा रखा था। शुक्लजी ने इन दरबारी कवियो के कन्धो पर से आचार्यत्व की रामनामी उतार ली। उन्होने दिखाया कि इन आचार्यों ने या तो भामह और उद्भट की नकल की थी या आनन्दवर्द्धनाचार्य, मम्मट और विश्वनाथ की। बहुत से लोगो ने चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के अनुसार अलङ्कार-ग्रन्थ रचे थे। इनके अनुवाद—विशेषतः केशवदास के—भोड़े हुए हैं। किसी विषय की सम्यक् मीमांसा तो वे विस्तार से पद्य में कर ही नहीं पाये। मौलि-कता का उनमे नितान्त अभाव है। पहले लक्षण फिर उनके उदाहरण लिखने की भद्दी परिपाटी उन्होंने जरूर चलाई।

रीतकालीन कवियो ने हिन्दी काव्य-क्षेत्र संकुचित किया, जीवन की अनेकरूपता का उनमे अभाव है। शुक्लजी के शब्दों मे "वाग्धारा बँधी हुई नालियो में ही प्रवाहित होने लगी।" शुक्लजी साहित्य मे व्यक्ति-गत दायरे से निकल कर लोक जीवन को साहित्य का भावक्षेत्र बनाने के पक्ष में रहे हैं। लेकिन रीतिकालीन कवियों का व्यक्तित्व ऐसा निर्जीव था

कि उन्हे लिखना पड़ा है : "कवियो की व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत ही कम रह गया।" यदि इन कवियो मे कुछ व्यक्तिगत विशेषताएँ दिखाई देती, तो भी पता चलता कि इनमे स्वाधीन-चेतना अभी बाकी है।

रीतिकालीन कवियो ने अपनी काव्यसामग्री राजदरबारों और वहां के वातावरण से ली थी। वह साधारण जनता के जीवन से बाहर की थी। भक्त कवियो ने रानियो का भी वर्णन किया है तो साधारण स्त्रियों के रूप में; दरबारी कवियो ने साधारण स्त्रियों का वर्णन भी किया है तो उन्हें रनिवास की नायिका बना दिया है। शुक्लजी के अनुसार जायसी के पद्मावत मे नागमती "विरहदशा मे अपना रानीपन बिल्कुल भूल जाती है और अपने को केवल साधारण स्त्री के रूप में देखती है।" रीतिकालीन कवि अपनी नायिकाओ के लिये जनसाधारण के जीवन से दूर किस तरह की सामग्री जुटाते थे, इस पर शुक्लजी कहते हैं : "यदि कनक-पर्यङ्क, मखमली सेज, रत्नजटित अलंकार-संगमर्मर के महल, खसखाने इत्यादि की बाते होती तो वे जनता के एक बड़े भाग के अनुभव से कुछ दूर की होतीं।" सूफियो, सन्तों आदि का प्रेम दरबारी कवियों के प्रेम से किस तरह भिन्न है, यह बतलाते हुए शुक्लजी जायसी की भूमिका मे कहते है : "ऐसा प्रेम प्रिय को छोड़ किसी अन्य वस्तु का आश्रित नहीं होता। न उसे सुराही चाहिए, न प्याला, न गुल गुली गिलमें, न गलीचा।"

दरबारी कवियों की शृङ्गारी कविता मे शुक्लजी को सबसे बड़ा दोष उसकी कृत्रिमता दिखाई देता है। उन्होंने नायिकाओं के सूखकर काँटा होने, मूर्छा, उन्माद आदि के अतिरंजित चित्रों की तीव्र आलोचना की है। इसके सिवा शृङ्गार के चित्रण में ये कवि मर्यादा का बिल्कुल ध्यान न रखते थे। तुलसी के प्रेम-चित्रण से इनके शृङ्गार वर्णन की भिन्नता दिखाते हुए उन्होंने "नायिकाभेद वाले कवियों" द्वारा "लोक-मर्यादा का उलंघन" होता बतलाया है। उन्हें "रासलीला के रसिकों" से भी कोई शिकायत है तो यही कि वे भी मर्यादा का ध्यान नहीं रखते।

शुक्लजी की गम्भीर आलोचना मे पाठकों का मनोरंजन करने के लिये जहाँ तहाँ हास्य का पुट भी है। इस हास्यरस के प्रधान आलंबन हैं आचार्य केशवदास। तुलसी के पंचवटी वर्णन की चर्चा करते हुए उन्हे केशव का इसी सिलसिले मे अलंकार-प्रदर्शन याद आजाता है। केशव के वर्णन से तुलसी के विस्तृत और भावुक चित्रण की भिन्नता दिखाते हुए उन्होंने "गोस्वामी तुलसीदास" मे लिखा है : "केशवदास के समान नहीं किया है कि पंचवटी का प्रसंग आया तो बस 'सब जाति फटी दुख की दुपटी' करके अपना यह श्लेष चमत्कार दिखाकर चलते बने।" चलते बने !!! इन दो शब्दों मे ही शुक्लजी ने केशव को चलता कर दिया है।

"बेर भयानक सी अति लगै। अर्क समूह जहाँ जगमगै।"

इस पंक्ति मे उन्हे हास्यरस की विशेष सामग्री मिली है। पूछते हैं : "क्या बेर को देखकर भयानक प्रलयकाल की ओर ध्यान जाता है और आक को देखकर प्रलयकाल के अनेक सूर्यों की ओर ?"

जायसी की भूमिका मे पनघट-वर्णन की चर्चा करते हुए शुक्लजी को वह कथा याद आ जाती है जब पनघट पर बैठे केशवदास को स्त्रियों ने बाबा कहा था और केशव ने "केसन अस करी" वाला दोहा कहा था। लिखा है : "बूढ़े केशवदास ने पनघट ही पर बैठे-बैठे अपने सफेद बालों को कोसा था।"

केशव से उन्हे कई तरह की शिकायते है। बुढ़ापे में भी उनका नायिका-भेदी दृष्टिकोण दूर न हुआ, यह एक है। भोड़े अलङ्कारों से चमत्कार पैदा करने की कोशिश की, यह दूसरी है। इस चमत्कारवाद को शुक्ल जी काव्य का बहुत बड़ा दोष मानते हैं। इससे स्वाभाविक भावोत्कर्ष की गुञ्जाइश नहीं रहती। "सूरदास" मे "निरखत अङ्क श्यामसुन्दर के बारबार लावति छाती" में अङ्क और श्याम के श्लेष की दाद देते हुए शुक्लजी कल्पना करते हैं कि केशव "ह्वै गई श्याम श्याम की पाती" के विषय पर किस चमत्कारवाद का नमूना पेश करते। गद्य में केशव की पैरोडी करते हुए शुक्लजी लिखते हैं : "यदि केशवदास के ढंग पर सूर भी यहाँ उक्त शब्द साम्य को लेकर 'कृष्ण' और 'पत्री' की तुलना पर जोर

देने लगते—कहते कि पत्री मानों कृष्ण ही है, क्योकि वह भी श्याम है और उसके भी अङ्क ( वक्षस्थल ) है—तो काव्य की रमणीयता कुछ भी न आती।'' केवल शब्दात्मक साम्य को लेकर यदि हम किसी पहाड़ को कहे कि वह बैल है क्योंकि इसे भी 'श्रृङ्ग' है, तो यह काव्य-कला हो न होगी, और कोई कला हो तो हो। 'क्या जरूरत है कि शब्दो की जितनी कलाबाजियाँ हो, सब काव्य ही कहलावें ?''

शुक्लजी काव्य-कला के पक्ष मे हैं, कलाबाजी के नहीं। चमत्कार-वादी कवियो के शब्दो के खिलवाड़ को वह काव्य कला नही मानते; उसे उन्होंने कलाबाजी की संज्ञा दी है। इसतरह अपने व्यंग्यसे उन्होने वर्तमान काल के उन कवियों का भी विरोध किया है जो पुरानी कविता के प्रभाव से अब भी इस तरह का खिलवाड़ करते रहते हैं। अनुप्रासो की बहार दिखाने के लिये, शुक्लजी के अनुसार, केशव ने मगध के पुराने जंगल के वर्णन मे ऐसे पेड़ो के नाम गिना दिये हैं जो वहाँ नहीं होते। केशव से उन्हे सबसे बड़ी शिकायत यह है कि उनमे "हृदय का तो कही पता ही नही" है ("गोस्वामी तुलसीदास")। "वीरसिहदेव-चरित" मे केशव ने अपनी "हृदय हीनता" ही नहीं, प्रबन्ध रचना मे भी पूरी असफलता दिखा दी है। रामचन्द्रिका के लिये शुक्लजी ने कई जगह लिखा है कि वह "फुटकर पद्यो का संग्रह" मात्र है।

अपने इतिहास मे उन्होने केशव की भाषा की आलोचना की है। उसमे पद-न्यूनता, वाक्य-न्यूनता, फालतू शब्दो के प्रयोग आदि के दोष दिखलाये हैं। शुक्लजी ने केशव की जो बार-बार और कठोर आलोचना की है, उसका कारण उनके समय मे और उनसे कुछ पहले भी केशव का मूल्य बहुत बढ़ा-चढ़ा कर आंकने की परम्परा थी। केशव को भाषा, छंदों और अलंकारो का आचार्य कहा जाता था। उनका काव्य समझना या बिना समझे ही सराहना विद्वत्ता की खास निशानी समझी जाती थी। केशवदास को सूर और तुलसी के बाद जगह दी जाती थी जिसका परि-णाम यह था कि हिन्दी के अन्य कवियो के साथ न्याय न होता था। शुक्लजी ने केशव की वास्तविकता प्रकट करके आलोचना के पुराने

सामन्ती मान दण्डो को बदलने मे बहुत बड़ी सहायता की। शुक्लजी द्वारा केशव की आलोचना ने लाला भगवानदीन और रावराजा श्याम बिहारी मिश्र आदि का युग समाप्त किया और हिन्दी आलोचना मे नये युग का सूत्रपात किया।

शुक्लजी ने सिद्ध किया है, कि केशव की दुरूहता का कारण "मौलिक भावनाओं की गंभीरता या जटिलता नहीं" है; उनकी दुरूहता का मुख्य कारण उनकी भाषा का ऊबड़-खावड़पन है, उसमे वाक्य रचना आदि व्याकरण के साधारण नियमों का उल्लंघन है। उस युग मे, जब केशव के पाण्डित्य की धाक थी, शुक्लजी ने दृढ़ता से घोषित किया था कि "रामचन्द्रिका मे प्रसन्न राघव, हनुमन्नाटक, अनर्घराघव, कादंबरी और नैषध की बहुतसी उक्तियो का अनुवाद करके रख दिया गया है।" कहीं-कही अनुवाद भी अच्छा नहीं हुआ और उक्तियाँ विकृत हो गई है। इस तरह शुक्लजी ने हिन्दी के साधारण पाठको के मन पर से केशव का आतंक हटाया और उन्हे तुलसी-सूर-जायसी-कबीर आदि का सही मूल्याङ्कन करने का मार्ग सुझाया।

शुक्लजी ने इतिहास मे केशव के प्रकृति-चित्रण का विवेचन करते हुए "दृश्यों की स्थानगत विशेषता (Local colour)" का प्रश्न उठाया है। हिन्दी काव्य के लिये तो नहीं, हिन्दी आलोचना के लिये यह नयी बात थी। यथार्थवाद के पक्षपाती शुक्लजी के लिये यह स्वाभाविक था कि वह उक्ति के अनूठेपन से संतुष्ट न हों, प्रकृति-चित्रण मे अलंकारों की सजावट पर मुग्ध न हों वरन् दृश्यो के वर्णन मे स्थानगत विशेषता की माँग करे। लेकिन केशव के लिये "प्राकृतिक दृश्यो मे कोई आकर्षण नहीं था।" रमणीय स्थलो के वर्णन मे उन्होने शब्द साम्य के आधार पर श्लेष के "भद्दे खेलवाड़" किये थे। प्रवन्ध-काव्य लिखने की योग्यता का उनमे अभाव था। उनके वर्णनो मे रस नहीं है वरन् वे "वर्णन वर्णन के लिए करते थे।" "कला कला के लिये" का यह रीतिकालीन रूप था। उनकी दृष्टि "जीवन के गम्भीर और मार्मिक पक्ष पर न थी।" इसका कारण उनका दरबारी वातावरण था। "उनका मन राजसी ठाटबाट,

तैयारी, नगरो की सजावट, चहल-पहल आदि के वर्णन मे ही विशेष लगता है।" प्रबंध काव्य मे जो सरस स्थल हो सकते थे, जहाँ भावोत्कर्ष की सुविधा थी, वहाँ केशव असफल हुए है, अपने चमत्कारवाद के फेर मे रस-निर्वाह नही कर पाये। राम के वियोग-वर्णन मे "बासर की संपति उलूक ज्यो न चितवत" आदि लिखते हुए "हीन और बेमेल" उपमान इकट्ठे कर गये है। राम के वन जाते समय मार्ग मे लोगो से केशव ने जो कुछ कहलाया है, वह भावोत्कर्ष नहीं कहा जा सकता। वन जाते हुए राम के प्रसंग मे भी केशव की काव्य-कला क्यों अपना उत्कर्ष नहीं दिखाती, इसका उत्तर देते हुए शुकलजी ने दरबारी वातावरण को ही दोषी ठहराया है। राम के सौन्दर्य और उनकी सौम्य आकृति देखकर "सहानुभूतिपूर्ण शुद्ध सात्विक भावो का उदय" भी हो सकता है, "इसका अनुभव शायद एक दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखने वाले नीतिकुशल दरबारियो के बीच रह कर केशव के लिए कठिन था।"

शुक्लजी की यह उक्ति सिद्ध करती है कि उन्होने बार-बार रीतिकालीन कविता के संकुचित वर्ग-आधार को स्पष्ट किया है, उससे सहानुभूति नहीं प्रकट की वरन् उसकी तीव्र आलोचना की है। जो सज्जन यह कहते नहीं थकते कि शुक्लजी का दृष्टिकोण सामन्तवाद का हिमायती है, वह एक दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखने वाले दरबारियो के बारे मे शुक्लजी की मान्यता पर ध्यान दे।

शुक्लजी को केशव से कोई व्यक्तिगत चिढ़ न थी। उनकी समर्थ आलोचना पर यहाँ एकाङ्गी होने का दोष हम नहीं लगा सकते। तुलसी और जायसी की प्रशंसा करते हुए उन्होंने उनकी काव्यवस्तु और कलात्मक सौन्दर्य दोनों का विवेचन किया है; उसी तरह केशवदास की खामियाँ बतलाते हुए उन्होंने केशव की काव्यवस्तु और कला दोनों ही के मौलिक दोषों का उद्घाटन किया है। आलोचना चाहे विरोध में हो चाहे समर्थन में, शुक्लजी विषयवस्तु और रूप, काव्य के भावों और विचारो तथा कला दोनों का ध्यान रखते है। केशव के मूल दोषो की चर्चा करते हुए उन दोषों का सामाजिक अधार बतलाते हुए शुक्लजी जिस बात को

प्रशंसा के योग्य समझते हैं, उसकी प्रशंसा भी करते हैं। उन्होंने केशव की रसिकप्रिया मे "वाग्वैदग्ध्य" और "सरसता" की सराहना की। रामचंद्रिका में भी संवाद लिखने मे केशव को विशेष सफलता मिली है, यह स्वीकार किया है। शुक्लजी की केशव-सवन्धी आलोचना हठधर्मी और पूर्वग्रहो से बिल्कुल मुक्त है, इसका प्रमाण यह एक वाक्य है: "उनका रावण-अंगद संवाद तुलसी के संवाद से कहीं अधिक उपयुक्त और सुन्दर है।" अपने आदर्श कवि तुलसी से रीतिकालीन कृत्रिमता के प्रतिनिधि कवि केशव को यहाँ बड़ा वताकर शुक्लजी ने चाहे तुलसी के साथ अन्याय किया हो लेकिन अपनी उदारता और हृदय की विशालता का परिचय अवश्य दिया है।

केशव के बाद अत्युक्ति और कृत्रिमता के लिये शुक्लजी ने बिहारी की आलोचना की है। जायसी से बिहारी की तुलना करते हुए उन्होने लिखा है कि ऊहा द्वारा मात्रा के आधिक्य का निरूपण "काव्य के लिये सर्वत्र उपयुक्त नहीं।" ऊहा के विस्तार की मिसाल यह है। वह कुल का दीपक है, इस बात को लेकर कोई कहे, इससे उसके घर में तेल की वचत हो जाती है। जिन कवियो ने इस तरह ऊहा का विस्तार किया है, उनकी उक्तियो को शुक्लजी ने "अस्वाभाविक, नीरस और भद्दा" कहा है। बिहारी के "पत्रा ही तिथि पाइए" को उन्होंने ऐसा ही दोहा बतलाया है। ऊहा की आधारभूत वस्तु असत्य हो तो कृत्रिमता और बढ़ जाती है। जायसी की भूमिका मे इसकी मिसालें उन्होने बिहारी के विरहताप से दी हैं "जैसे पड़ोसियों को जाड़े की रात मे बेचैन करने वाला, या बोतल मे भरे गुलाबजल को सुखा डालने वाला ताप।" जायसी के नखशिखवर्णन को सरस बतलाते हुए बिहारी मे भूषणों के दोहरे तेहरे, चौहरे जान पड़ने को अस्वाभाविक और कृत्रिम कहा है।

बिहारी की रचनाओ का आधार मानव जीवन की सहज अनुभूतियाँ उतना नहीं है जितना रीति-ग्रन्थ। इन काव्य-शास्त्रों के अनुसार कविता करने से कवियों की प्रतिभा किस तरह कुंठित हुई और उन्हें आधार न मानने से, मानव जीवन को ही अपना आधार बनाने से, तुलसी की

काव्य-प्रतिभा कैसे उत्कर्ष पर पहुँची, यह तथ्य गोस्वामी तुलसीदास" मे शुक्लजी ने इस वाक्य द्वारा प्रकट किया है: "बिहारी रीति ग्रन्थो के सहारे जबरदस्ती जगह निकाल कर दोहो के भीतर शृङ्गाररस के विभाव-अनुभाव और संचारी ही भरते रहे।' शुक्लजी के समय मे पुरानी परिपाटी के कवि और आलोचक नयी कविता और नए कवियो पर यही आक्षेप किया करते थे कि इन्हें रीति-ग्रंथो का पता नही है, उनकी अवहेलना की गई है, इत्यादि। रीति-ग्रन्थो का प्रभाव कविता पर कैसा पड़ा था, यह दिखाकर शुक्लजी ने इस तरह के कवियो और आलोचको को उत्तर दिया था।

जैसे ये कवि थे, वैसे ही रीतिग्रंथो का हवाला देकर इनकी दाद देने वाले आलोचक भी थे। जायसी की भूमिका मे शुक्लजी ने "अहाहा" और "वाह वाह" वाली आलोचना को जल्दी ही बंद करने का सुझाव रखा है। "कहत सबै बेंदी दिए, आँक दसगुनो होत" मे पुरानी चाल के आलोचको ने गणित का चमत्कार देखा। "यह जग कांचो कांच सो, मै समुझ्यो निरधार" मे वेदान्त का पाण्डित्य देखा था। ऐसे आलोचको को शुक्लजी सलाह देते है कि उन्हे "विचार से काम लेने और वाणी का संयम रखने का अभ्यास करना चाहिए।" रीतिकालीन कविता की सीमाएं बतलाने के साथ-साथ शुक्लजी ने रीतिकालीन परंपरा की आलोचना की सीमाएं भी जता दी। इस तरह की आलोचना हिन्दी पाठको की साहित्यिक रुचि के संस्कार मे बाधक थी। हिंदी-साहित्य के पठन-पाठन मे शुक्लजी से पहले उसी परिपाटी का बोलबाला था। विद्यालयो मे पुरानी चाल की आलोचना नयी पीढ़ी के शिक्षितवर्ग को गुमराह कर रही थी। शुक्लजी ने आलोचना-क्षेत्र मे लोगो की रुचि बदलने, एक पूरी पीढ़ी को सामन्ती काव्यालोचन के प्रभाव से मुक्त करने, उसे स्वाधीन चिन्तन के नये मार्ग पर आगे बढ़ाने में सबसे अधिक काम किया। यह उनका युगान्तरकारी कार्य है, इसमे सन्देह नही। उस युग मे जब हिन्दी के आचार्य बिहारी के दोहों की टीका करना अपने पण्डित्य का श्रेष्ठ प्रदर्शन मानते थे, जब देव बड़े हैं कि बिहारी, इस विवाद को लेकर पत्रिकाओ

मे वितंडावाद चलाता था और पुस्तके तक लिख डाली गई थीं, शुक्लजी ने इन तमाम आचार्यों की जरा भी परवाह न करते हुए इनके सकुचित और कृत्रिम भाव-क्षेत्र की अस्लियत जाहिर कर दी। "सूरदास" मे बिहारी की पसीने मे भीगती हुई नायिका के बारे मे लिखते है : "उनकी नायिका को नायक के भेजे हुए पंखे की हवा लगने से उलटा और पसीना होता है। यह एक तमाशे की बात जरूर हो गई है।'

इतिहास मे शुक्लजी ने बिहारी के "अनुभावो हावो" की योजना को सुन्दर कहा है। उनकी सरसता की प्रशंसा की है। लेकिन यह सब उन्होंने रीतिकालीन कवियो को देखते हुए कहा है। और रीतिकालीन कवियो मे भी "देव और पद्माकर के कवित्त-सवैयो का सा गूंजने वाला प्रभाव बिहारी के दोहो का नहीं जान पड़ता", यह लिखना वह नहीं भूले। बिहारी मे गागर मे सागर भरने की कला की जो तारीफ की जाती है उसके लिये शुक्लजी कहते है कि यह "बहुत कुछ रूढ़ि की स्थापना" से संभव हुआ। रूढ़ि से तात्पर्य नायिका भेद की परंपरा से है। लिखा है : "यदि नायिका भेद की प्रथा इतने जोर शोर से न चल गई होती तो बिहारी को इस प्रकार की पहेली बुझाने का साहस न होता।" इसका अर्थ यह हुआ कि बिहारी की कला का आधार नायिकाभेद की परंपरा थी और उसमे दक्ष विद्वान् ही उनकी गागरो पर लोट पोट हो जाते थे। बिहारी की कला मे महीन पच्चीकारी है लेकिन भव्यता, ओज और गांभीर्य नही है। बिहारी के प्रशंसको की तुलना शुक्लजी ने उन लोगो से की है जो "किसी हाथी-दांत के टुकड़े पर महीन बेल-बूटे देख घंटो वाहवाह किया करते है।" अंतर इतना है कि बिहारी की भाषा मे हाथी दांत के बेल-बूटो की नफ़ासत नही है, उनके नायक नायिकाएं भी हाथी दांत के काम की तरह निष्काम नही है।

शुक्लजी सभी रीतिकालीन कवियो के विरोधी नही थे, इसका प्रमाण उनकी मतिराम-संबन्धी आलोचना है। उनका विचार है कि मतिराम को सच्चा कवि-हृदय मिला था लेकिन अपने समय की विचारधारा का प्रभाव उन पर भी पड़ा। यदि वह दरबारो से अलग रहे होते और उनकी

प्रतिभा को स्वतंत्र विकास का मौका मिला होता तो वह और बड़े कवि हुए होते। शुक्लजी इस संबन्ध मे अपने इतिहास मे लिखते है : "इनका सच्चा कवि-हृदय था। ये यदि समय की प्रथा के अनुसार रीति की बँधी लीको पर चलने के लिये विवश न होते, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार चलने पाते, तो और भी स्वाभाविक और सच्ची भाव-विभूति दिखाते इसमे कोई सन्देह नही।" इससे दो निष्कर्ष निकलते है, एक तो यह कि रीतिकालीन कविता का मूल्याङ्कन करते हुए हमे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि दरबारी वातावरण और नायिकाभेदी परंपरा के बावजूद कौन से कवि जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियो का चित्रण कर सके है, दूसरे यह कि रीति की बँधी लीको पर चलने से अच्छे कवियो की भी प्रतिभा कुंठित हुई है, साधारण कवियों की तो बात ही क्या।

शुक्लजी के अनुसार मतिराम की कविता सरस है और उसकी सरसता कृत्रिम नहीं, स्वाभाविक है। उनकी शैली का विशेष गुण—जो उन्हें केशव से अलग करता है और जिसके कारण शुक्लजी की उन पर विशेष कृपा है—यह है कि उसमे शब्दाडम्बर नही है, फालतू शब्दो की भर्ती नही है। बिहारी के समान उनमे अतिशयोक्तियां नही है। शुक्लजी के शब्दो मे "नायिका के विरहताप को लेकर बिहारी के समान मज़ाक इन्होने नही किया है।" उनकी भाव-व्यंजना भी सीधी है, "बिहारी के समान चक्करदार नही।" शुक्लजी के लिये केशव और बिहारी रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि है, प्राचीन रूढ़िवाद के सब अवगुणो की खान हैं। इसलिये किसी कवि की श्रेष्ठता दिखाने के लिये शुक्लजी सहज ही केशव और बिहारी से उसकी भिन्नता दिखाने लगते है।

मतिराम ने दोहे भी लिखे है लेकिन शुक्लजी ने बिहारी के दोहो से मतिराम के दोहों की तुलना नही की। शायद दोहा जैसा छोटा छन्द शुक्लजी को पसंद नही था। मतिराम के सिलसिले मे उन्होंने बिहारी के लिये लिखा है : "उन्होने केवल दोहे कहे हैं, इससे उनमे वह नाद-सौंदर्य नहीं आ सका है जो कवित्त सवैये की लय के द्वारा संघटित होता है।" केवल नाद-सौन्दर्य की दृष्टि से मतिराम के दोहे बिहारी के दोहों से बढ़

कर है और तुलसी ने चातक संबन्धी दोहो मे और रामचरितमानस के पचीसो दोहो मे जो भिन्न-भिन्न कोटि का नाद-सौन्दर्य पैदा किया है, वह कवित्त-सवैयो से किसी तरह घट कर नही है ।

शुक्लजी मतिराम की तरह देव को सहज प्रतिभा का कवि नहीं मानते । पहले उन्होने देव के आचार्यत्व को लिया है । उनकी सम्मति है कि रीतिकाल मे कोई भी कवि आचार्य कहलाने लायक नहीं हुआ; देव भी उस स्थान के योग्य नही है । जिन लोगो ने देव को मौलिक चिन्तन का श्रेय दिया है, शुक्लजी के अनुसार उन्होंने ऐसा "भक्तिवश" किया है । शुक्लजी ने देव की मौलिकता के मूल को खोज निकाला है; इसीलिये उनके आचर्यत्व से प्रभावित होने से वह इन्कार करते है । पहले उन्होंने तात्पर्यवृत्ति को लिया है और बताया है कि नैयायिकों की तात्पर्यवृत्ति बहुत समय से प्रसिद्ध थी । तात्पर्यवृत्ति वाक्य के भिन्न पदो के "वाच्यार्थ को एक मे समन्वित करने वाली वृत्ति" है । इसके बाद उन्होने "छल संचारी" को लिया है और इसका उद्गम संस्कृत की रस-तरंगिणी बतलाया है । "छल-संचारी" की उद्भावना को मौलिक कहकर देव की तारीफ करने वालो पर शुक्लजी दो कारणो से नाराज है, एक तो यह कि देव की सूझ मौलिक नहीं है, दूसरे यह कि गिनाये हुए सांचारियो से भावो की संख्या बहुत बड़ी है । जायसी की भूमिका मे वह लिखते है: "आश्चर्य ऐसे लोगो पर होता है जो 'देव' कवि के छल नामक एक और संचारी ढूँढ निकालने पर वाह वाह का पुल बांधते है और देव को एक आश्चर्य समझते है ।" रीतिवादी आचार्यों को मानो उन्हीके घर मे शास्त्रार्थ के लिये चुनौती देते हुए शुक्लजी कहते है: "गोस्वामी जी की आलोचना मे मैं कई ऐसे भाव दिखा चुका हूँ जिनके नाम संचारियो की गिनती मे नही है ।" गिनाये हुए संचारियो को उन्होने उपलक्षणमात्र माना है । उनका दावा है कि संचारी और भी कितने हो सकते है और जो नये संचारी नही देख सकता, वह आचार्य कैसा ?

देव के अनुसार अभिधा उत्तम काव्य है, लक्षणा मध्यम है और व्यंजना अधम है । शुक्लजी का कहना है कि शब्द-शक्ति के निरूपण मे

हिन्दी के रीतिग्रंथ आमतौर से कोरे है, इसलिये देव की स्थापना पर ज्यादा कहने का "अवकाश नहीं है। देव को "बेनीफिट ऑफ डाउट' देते हुए उन्होने अनुमान किया है कि व्यंजना से देव का मतलब "पहेली-बुझौवलवाली वस्तुव्यंजना" से रहा होगा। शुक्लजी स्वयं अभिधा को उत्तम, लक्षणा को मध्यम और व्यंजना को अधम मानने के लिये तैयार नहीं थे। रीतिग्रंथो मे इस विषय का समुचित निरूपण नहीं हुआ, इसका दिलचस्प कारण यह है : "इस विषय का सम्यक् ग्रहण और परिपाक जरा है भी कठिन।"

देव मे कवित्वशक्ति थी, मौलिकता भी थी ( आचार्य की नहीं, कवि की मौलिकता ), लेकिन उनकी प्रतिभा के विकास मे "उनकी रुचि-विशेष प्रायः बाधक हुई है।" यह रुचि-विशेष क्या है ? यह रुचि वही दरबारी रुचि है जिसने मतिराम की प्रतिभा को भी एक हद तक कुंठित किया था। देव अनुप्रासो के प्रेमी थे, इसलिये पेचीदा मजमून बांधते हुए "अनुप्रास के आडम्बर की रुचि बीच ही मे उसका अङ्गभङ्ग करके सारे पद्य को कीचड़ मे फँसा छकड़ा बना देती थी।" देव मे लफ्फाजी बहुत है, थोड़े से अर्थ के लिये बहुत से शब्दो का खर्च है। उन्होंने शब्दो को काफी तोड़ामरोड़ा भी है। यह कृत्रिमता भाषा तक सीमित नही है; उनका प्रेम-वर्णन भी काफी कृत्रिम है। "सूरदास" मे शुक्लजी ने लिखा है : "पीछे देव कवि ने एक 'अष्टयाम' रचकर प्रेम-चर्य्या दिखाने का प्रयत्न किया, पर वह अधिकतर एक घर के भीतर के भोग-विलास की कृत्रिम दिनचर्या के रूप मे है। उसमे न तो वह अनेकरूपता है, न प्राकृतिक जीवन की वह उमङ्ग।" इस पर भी इतिहास मे उन्होंने स्वीकार किया है कि देव जहाँ भाव का निर्वाह कर पाये है, वहाँ रचना बहुत ही सरस हुई है। शुक्लजी काव्य की विषयवस्तु और उसके रूपों को अलग करके नहीं देखते ; दोनों मे विषयवस्तु को नियामक मानते है। इसीलिये देव की सरसता को भाव-निर्वाह पर निर्भर कहा। इसके विपरीत डा० नगेन्द्र यह मानते हुए कि "देव की भाषा में उचित व्यवस्था नही मिलती," कहते हैं : "उन्होंने ब्रजभाषा के माधुर्य और संगीत को अपूर्व श्रीवृद्धि की है;

उसको औज्ज्वल्य एवं कान्ति आदि गुणों से अलंकृत किया है तथा उसकी शक्तियो का संवर्धन किया है—और इस प्रकार ब्रजभाषा की पूर्ण समृद्धि का श्रेय निस्संदेह ही उनको दिया जा सकता है।" माधुर्य है, औज्ज्वल्य है, कान्ति है, समृद्धि है, भाषा फिर भी अव्यवस्थित है! डा० नगेन्द्र ने शुक्लजी की दृष्टि को "वस्तुपरक" कहा है जो "भाषा के स्वरूप की व्यवस्था तथा स्वच्छता पर पड़ती है।" शुक्लजी के लिये भाषा की समृद्धि भावों की समृद्धि से अलग नहीं है। वह रूप को विषयवस्तु से, शब्द को अर्थ से अलग करके नहीं देखते। इसीलिये देव की सरसता वहाँ देखते है जहाँ भाव का निर्वाह देखते है। डा० नगेन्द्र के विवेचन मे भाषा का मूल्याङ्कन भाव-निर्वाह का विचार करते हुए नहीं किया गया।

मतिराम की तरह पद्माकर मे भी शुक्लजी को सहज कवि-प्रतिभा के लक्षण मिले है। उनकी कल्पना "स्वाभाविक" है, मूर्त्तिविधान सजीव है भाषा स्निग्ध और मधुर है और "एक सजीव भावभरी प्रेममूर्ति खड़ी करती है।" पद्माकर को अनुप्रासो से बड़ा प्रेम था लेकिन "यह प्रवृत्ति इनमे अरुचिकर सीमा तक कुछ विशेष प्रकार के पद्यों ही मे मिलेगी।" अन्य रीतिकालीन कवियो से पद्माकर किस बात मे भिन्न हैं? इस बात मे कि वह अतिरंजित चित्रों द्वारा पाठक को प्रभावित न करना चाहते थे: "ये ऊहा के बल पर कारीगरी के मजमून बाँधने के प्रयासी कवि न थे, हृदय की सच्ची स्वाभाविक प्रेरणा इनमें थी।" पद्माकर की भाषा मे जहाँ-जहाँ लाक्षणिकता मिलती है, उसे शुक्लजी ने उनकी "एक बड़ी भारी विशेषता" कहा है जिससे मालूम होता है कि शब्दो के लाक्षणिक प्रयोग को शुक्लजी एक गुण मानते थे।

शुक्लजी ने रीतिकालीन कवियो पर विस्तार से नहा लिखा जैसे उन्होने जायसी या तुलसी पर लिखा है। यदि वह लिखते तो किस रीतिकालीन कवि ने संस्कृत से कितनी और कैसी नकल की थी, यह रहस्य वह अवश्य प्रकट कर जाते। फिर भी चलते-चलते जहाँ-तहाँ इस विषय मे उन्होने जो कुछ लिख दिया है, उससे केशव आदि के आचार्यत्व का आतङ्क काफी दूर हो जाता है। शुक्लजी को आपत्ति केवल हिन्दी के रीति-

ग्रन्थों पर नहीं है; उन्हे संस्कृत के रीतिग्रन्थो पर, जीवन और साहित्य के प्रति उनके दृष्टिकोण पर भी आपत्ति है। जायसी की भूमिका मे रत्नसेन के क्रोध की चर्चा करतेहुए शुक्लजी ने लिखा है: "रस की रस्म के विचार से तो उपर्युक्त वर्णन पूरा ठहर जाता है"; साहित्य के आचार्यों ने अपने मुह आप बड़ाई करने को रौद्ररस का अनुभव कहा है, वह भी मौजूद है लेकिन यह सामग्री होते हुए भी यह कहना पड़ता है कि "रौद्ररस का परिपाक जायसी मे नही है।" इसका कारण यह है कि रीतिग्रन्थो के सारे नियमो का पालन करने पर भी रस परिपाक नही होता क्योंकि "जायसी का कोमल भावपूर्ण हृदय उग्रवृत्तियो के वर्णन के उपयुक्त नही था।" यह रीतिग्रन्थो के नियमवाद की सीमा हुई।

शुक्लजी संचारियो की गिनती गिनाने वाले आचार्यों और उनकी नकल करने वाले कवियो का विरोध हिन्दी ही मे नही, संस्कृत काव्यक्षेत्र मे भी करते है। वह तुलसी मे छोटे-छोटे संचारी भावो की मार्मिक व्यंजना को सराहते हुए अन्य कवियो से भावो की दीनता का कारण बतलाते हुए लिखते है: "उन्होने ऐसे-ऐसे भावो का चित्रण किया है जिनकी ओर किसी कवि का ध्यान तक नहो गया है। संचारियो के भीतर वे गिनाए तो गए नही हैं; फिर ध्यान जाता कैसे?" यह रीतिग्रन्थो मात्र की सीमा है, केवल हिन्दी रीतिग्रन्थों की नहीं। शुक्लजी का आदेश है, रीतिग्रन्थों मे गिनाए हुए संचारियो से संतोष न करके मानव-जीवन की ओर देखो। रीतिकाल की पराधीनता से साहित्य को मुक्त कराने का यह महत्वपूर्ण प्रयास था। तुलसी सभी रीतिकालीन कवियों से महान् हैं क्योकि "गोस्वामीजी सब भावो को अपने अन्तःकरण मे देखने वाले थे केवल लक्षणग्रन्थो में देखकर उनका सन्निवेश करने वाले नही।"

संस्कृत नाटको में हास्यरस का आलंबन आमतौर से विदूषक होता था। इस तरह हास्य के लिये भी एक निश्चित आलंबन का विधान कर दिया गया था, उसकी स्वाभाविकता और अनेकरूपता सीमित कर दी गई थी। तुलसी के हास्य की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने लिखा है: "इसके आलंबन का स्वरूप भी विदूषको का सा कृत्रिम नहीं है।" आलंबनों को

सीमित करने और उनका स्वरूप कृत्रिम बनाने का काम हिन्दी कवियों ने कम संस्कृत कवियो और आचार्यों ने ज्यादा किया था। शुक्लजी संस्कृत साहित्य मे जहाँ-जहाँ सामन्ती रूढ़ियाँ है, उनकी सीमाएं भी बतलाते गये है।

शुक्लजी ने काव्य को सुन्दर सूक्तियो तक सीमित रखने का जो विरोध किया है, वह विरोध हिन्दी-उर्दू तक सीमित नहीं है; उन्हे मालूम था कि बिहारी की बहुत सी सूक्तियाँ संस्कृत से ली हुई है। इसी तरह उद्दीपन के लिये कुछ वस्तुओ की गिनती करने की प्रथा संस्कृत से चली आ रही थी, जिसका शुक्लजी ने विरोध किया है। अलङ्कारों से चमत्कार पैदा करने की पद्धति संस्कृत से चली आ रही थी। शुक्लजी अलंकारों का उचित प्रयोग चमत्कार के लिये नहीं, भावोत्कर्ष के लिये मानते है। उनका विरोध उस तरह के चमत्कार से नहीं है जो भावोत्कर्ष मे होता है। कहीं-कहीं शुक्लजी ने स्वयं अलंकार-निरूपण बहुत विस्तार से किया है, वह संभवतः अलंकार शास्त्रियों को परास्त करने के लिये। इस तरह के निरूपण ने कहीं-कहीं उनकी आलोचना को तूल दे दिया है और दूसरी आवश्यक बातो की चर्चा कम हो पायी है या छूट गयी है। तुलसी मे बाह्य-दृश्य-चित्रण पर लिखते हुए शुक्लजी को लगता है कि अलंकार-शास्त्री उकता रहे होंगे कि अलंकारो की चर्चा क्यो नही हो रही। ऐसे उकताने वालो को लक्ष्य करके कहते है: "अलंकारो पर वाह-वाह न कहने पर शायद अलंकार-प्रेमी लोग नाराज़ हो रहे हों; उनसे अत्यंत नम्र निवेदन है कि यहाँ विषय दूसरा है।" यानी तुम्हारी समझ से बाहर है, इसलिये ज़रा सब्र करो! अलंकार-प्रेमियों को लताड़ बताकर शुक्लजी ने उन्हे सावधान कर दिया है कि हैसियत से बाहर न बोला करें।

मूलबात यह है कि शुक्लजी कृत्रिमता और चमत्कारवाद के विरोधी थे। विषयवस्तु मे कृत्रिमता, रूप मे चमत्कार-प्रेम—यह विशेषता साधारणतः सभी दरबारी साहित्य की होती है, चाहे वह संस्कृत और हिन्दी का हो, चाहे फारसी और उर्दू का। शुक्लजी ने कृत्रिमता और चमत्कार

प्रेम की व्यापक आलोचना करके किसी भी भाषा के साहित्य को सामन्ती रूढ़ियों से मुक्त होने का रास्ता बतलाया है। जब तुलसी के लिये वह कहते है . "वे चमत्कारवादी नही थे", तब वह चमत्कारवादी धारा से साहित्य की वास्तविक रसवादी धारा को अलग करते है, वह साहित्य की वास्तविक प्रगतिशील और जनवादी धारा को सामन्ती और पतनशील धारा से अलग करते हैं। बिहारी के "कनक कनक ते सौ गुनो" और रहीम के कुछ विशेष दोहो की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने जायसी की भूमिका मे लिखा है : "ऐसे कथनो मे आकर्षित करने वाली वस्तु होती है वर्णन के ढंग का चमत्कार।" यह चमत्कार आकर्षक होता है अवश्य लेकिन वैसे ही जैसे 'कोई तमाशा आकर्षित करता है।" यह चमत्कार-वाद सच्चा काव्य नही है। चमत्कारवादी और रसवादी काव्य का लक्ष्य एक नहीं होता। शुक्लजी कहते है : "मन को इस प्रकार से ऊपर ही ऊपर आकर्षित करना, केवल कुतूहल उत्पन्न करना, काव्य का लक्ष्य नहीं है। उसका लक्ष्य है मन को भिन्न-भिन्न भावो मे (केवल आश्चर्य मे नही, जैसा चमत्कारवादी कहा करते है) लीन करना।" यहाँ सामन्ती साहित्य मात्र के चमत्कारवाद की सीमाएं शुक्लजी ने दिखाई है, उससे काव्य के स्वाभाविक विकास मे कैसे बाधा पड़ती है, यह स्पष्ट कर दिया है।

काव्य की विषयवस्तु मे यह चमत्कारवाद किस तरह की कृत्रिमता पैदा करता है, इसका व्यंग्यपूर्ण वर्णन शुक्लजी ने "गोस्वामी तुलसीदास" मे किया है। लिखा है : "कहीं बिरह-ताप से सुलगते हुए शरीर से उठे धूंए के कारण ही आकाश नीला दिखाई पड़ता है। कौवे काले हो जाते हैं। कही रक्त के आंसुओ की बूंदें टेसू के फूलो, नई कोपलो और गुंजा के दानो के रूप मे बिखरी दिखाई पड़ती है। कही जगत् को डुबाने वाले अश्रु-प्रवाह के खारेपन से समुद्र खारे हो जाते हैं। कही भारभूत शरीर की राख का एक एक कण हवा के साथ उड़ता हुआ प्रिय के चरणों में लिपटना चाहता है। इसी प्रकार कही प्रिय का श्वास मलयानिल होकर लगता है कहीं उसके अंग का स्पर्श कपूर के कर्दम या कमल दलो की खाड़ी में ढकेल देता है।"

नायक-नायिकाओ का यह संसार हिन्दी की ही निधि नहीं है, उससे मिलती-जुलती चीजे संस्कृत मे भी है और फारसी और उर्दू के शायरों ने तो नाजुकखयाली की कमर ही तोड़ दी है शुक्लजी की आलोचना। इस तरह के सामन्ती भाव-जगत् की कृत्रिमता दिखाकर कवियों और आलोचको को यथार्थवाद की भूमि पर बढ़ने की प्रेरणा देती है।

रीतिकालीन कवियो की आलोचना मे शुक्लजी ने उनकी भाषा पर विशेष ध्यान दिया है। बीसवी सदी मे केशव-देव-बिहारी के समर्थक खड़ी बोली के कवियो पर ऊबड़खाबड़ भाषा लिखनेका आरोप लगाया करते थे। शुक्लजी ने दिखलाया है कि दरबारी कवि अपना तमाम फुर्सत का वक्त भाषा को व्यवस्थित करने मे भी न लगा सके। इतिहास मे शुक्लजी ने लिखा है . "यदि शब्दो के रूप स्थिर हो जाते और शुद्ध रूपो के प्रयोग पर जोर दिया जाता तो शब्दो को तोड़-मरोड़ कर विकृत करने का साहस कवियो को न होता। पर इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं हुई जिससे भाषा मे बहुत कुछ गड़बड़ी बनी रही।" इस व्यवस्था के न होने का एक कारण यह भी है कि यह भारतीय सामन्तवाद का पतनकाल था। छोटे छोटे राज्य एक दूसरे से अलग साहित्य के संरक्षक बने हुए जातीय जीवन को एक करने मे असमर्थ थे। खसबोयन आदि विकृत शब्दो के प्रयोग से शुक्लजी को विशेष अरुचि है और उन्हे इनका प्रयोग करने वालों की कविता "गँवारो की रचना सी लगती है।"

कुछ लोग भाषा मे कहावतो और मुहावरो के प्रयोग पर बहुत जोर देते है। भाषा के स्वाभाविक प्रवाह मे कहावतें और मुहावरे अच्छे लगते है लेकिन कविता यदि कहावतो और मुहावरो का प्रदर्शन करने के लिये ही लिखी गयी हो, तो यह भी चमत्कारवाद का दूसरा रूप होगा। इसलिये यह धारणा ठीक नहीं कि जिस कवि की भाषा मे जितने ही ज्यादा मुहावरे और कहावते होगी, वह उतना ही बड़ा कवि होगा। काव्य की उत्कृष्टता के लिये मुहावरो को गिनती गिनाना भी सामन्ती कविता का एक लक्षण है। जायसी की रचना मे कहावतो और मुहावरों के स्वाभाविक प्रयोग की चर्चा करते हुए शुक्लजी कहते है: "मुहाविरों

को अधिक प्राधान्य देने से रूढ़ पद-समूहों में भाषा बँधी सी रहती है, उसकी शक्तियों का नवीन विकास नहीं हो पाता।"

शुक्लजी ने रीतिकालीन कवियों को आचार्य नहीं माना, उनके चमत्कारवाद को अवांछनीय बतलाया है, जहां वह दरबारी प्रभाव से बचते हुए सरस और स्वाभाविक कविता कर सके है, वहां उन्होंने उसकी सराहना की है। शुक्लजी का यह दृष्टिकोण रीतिकालीन कविता का सही मूल्याङ्कन करने के लिये अनिवार्यरूप से ग्राह्य है, इसमें सन्देह नहीं।

साधारण जनता और दरबारों की रुचि में भेद करते हुए शुक्लजी ने जिस तरह रीतिकालीन कविता के मूल्याङ्कन का सवाल उठाया है, उससे कुछ आलोचक असहमत हैं। डा० नगेन्द्र ने "रीतिकाव्य की भूमिका" की भूमिका में द्विवेदीयुग के आलोचकों, छायावाद के प्रतिनिधि कवियों और लेखकों और प्रगतिशील समीक्षकों द्वारा रीतिकाव्य की "उपेक्षा" पर खेद प्रकट करते हुए अपना शुद्ध कलावादी दृष्टिकोण यों पेश किया है: "मैंने शुद्ध साहित्यिक ( रस ) दृष्टि से ही इस कविता की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण और मूल्याङ्कन करने का प्रयत्न किया है— अन्य बाह्य मूल्यों को प्रयत्नपूर्वक बचाया है। और इस दृष्टि से आप देखेंगे कि यह काव्य न हेय है और न उपेक्षणीय। इस रसात्मक काव्य का अपना विशेष महत्व है।"

नगेन्द्रजी के इस वाक्य से एक बात स्पष्ट हो जाती है और वह यह कि बीसवीं सदी के हिन्दी लेखक ज्यादातर रीतिकालीन परंपरा के विरोधी रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य कुल मिलाकर सामन्त-विरोधी मार्ग पर आगे बढ़ा है। इसीलिये नगेन्द्रजी ने रीतिकाल की उपेक्षा करने वालों में द्विवेदी युग के लेखकों, छायावादियों और प्रगतिवादियों इन सभी को रखा है। रीतिकाल की इतनी "उपेक्षा" ( अर्थात् विरोध ) होने के कारण उसे अब मिश्रबन्धु-पद्धति से हिन्दी काव्य की सुनहली परंपरा के रूप में रखने का साहस कम लोगों को होगा। इसलिये उसका "विशेष महत्व" दिखाने के लिये "शुद्ध साहित्यिक" दृष्टि से उसका मूल्य आंकने की बात उठाई जा रही है।

नगेन्द्रजी का दृष्किोण उनकी इच्छा रहने पर भी शुद्ध साहित्यिक नहीं रह पाया, यह युग का प्रभाव है। शुक्लजी और उनके वाद की हिन्दी आलोचना मे साहित्य के सामाजिक आधार को इतना महत्व दिया गया है कि उस प्रभाव से शुद्ध रस-दृष्टिवालो का वच निकलना भी संभव नहीं है। नगेन्द्र जी की पुस्तक का पहला अध्याय ही "रीति-काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि" है। यह बात दूसरी है कि इस पृष्ठभूमि मे ऐतिहासिक सचाई कितनी है।

डा० नगेन्द्र की इतिहास-सम्बन्धी मूल स्थापना यह है कि हिन्दी साहित्य का रीतिकाल मुगल साम्राज्य का ह्रासकाल है और यह मनुष्य के "ऑलराउण्ड" ह्रास का भी काल है। सवसे पहले राज्य-व्यवस्था का ह्रास हुआ। दक्षिण मे "उपद्रव आरंभ हो गए थे"। इससे अधिक दुख की बात क्या हो सकती थी कि दक्षिण की कुछ जातियाँ मुगल साम्राज्य से अलग होने का प्रयत्न करने लगी थीं। "इधर पंजाब मे सिखो का असन्तोष बढ़ रहा था।" "दक्षिण की दशा और भी खराब थी।" अँगरेज इतिहासकारो ने सदा यही शिक्षा दी है कि उनके राज्य-विस्तार से पहले यहाँ अव्यवस्था थी; उन्होंने आकर यहाँ शान्ति और व्यवस्था कायम की। यहाँ के सामाजिक जीवन मे जातीय संगठन की क्षमता रखने वाली जो शक्तियाँ उभर रही थी, उन्हें अँगरेज इति-हासकारो ने कम देखा है। उन्ही के प्रभाव से नगेन्द्रजी ने भी लिखा है: "सम्वत् १७६४ के बाद भारतीय इतिहास घोर राजनीतिक पतन और अव्यवस्था का इतिहास है।"

इस पतन और अव्यवस्था से, लगता है, हमे अंग्रेजो ने उबारा। इसका प्रमाण यह है कि १८५७ का स्वाधीनता-संग्राम नगेन्द्र जी को पतन और अव्यवस्था की चरम परिणति मालूम होता है। आँखो पर सहसा विश्वास नहीं होता लेकिन ऊपर के वाक्य के बाद ही नगेन्द्रजी ने लिखा है: "यह अशान्ति और अव्यवस्था क्रमशः बढ़ती ही गई और अन्त में १९१४ (अर्थात् सन् १८५७) के ग़दर मे जाकर इसका पूर्ण पर्यवसान हुआ।"

व्यवस्था के ह्रास के साथ व्यक्तित्वो का ह्रास हुआ। "व्यक्तित्व का इतना घोर अकाल और किसी युग मे नही पड़ा।" व्यक्तित्व के अकाल से कविता की फसल चौपट हो गई। हाँ, एक व्यक्तित्व हुआ था औरङ्गजेब का। लिखा है : "इस युग मे उत्तरी भारत ने औरङ्गजेब को छोड़कर कोई भी प्रथम श्रेणी का व्यक्तित्व पैदा नही किया।"

इसके बाद बुद्धि का ह्रास हुआ। न केवल हिन्दुओ का, बल्कि मुसलमानो का भी बौद्धिक पतन हुआ। "इस समय हिन्दुस्तानियो का बौद्धिक धरातल बहुत नीचा हो गया था।" हिन्दुस्तानियो मे आप मुसलमानो को शायद न गिने, इसलिये नगेन्द्रजी ने अलग से भी स्पष्ट कर दिया है : "मुसलमानों का भी बौद्धिक ह्रास बड़े वेग से हो रहा था।"

हिन्दू और मुसलमान संयुक्त मोर्चा बनाकर जब बौद्धिक ह्रास में लगे हुए थे, तब जीवन-दर्शन का भी ह्रास हुआ। ठीक भी है, "जिस युग मे राजनीतिक और आर्थिक पराभव अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया हो उस युग का दृष्टिकोण स्वस्थ कैसे हो सकता है ?"

तब बचा क्या था ? "एक बँधा हुआ रुग्ण जीवन शेष था।" और बुद्धि के नाम पर क्या बचा था ? "केवल स्थूल भोग-बुद्धि ही बच रही थी।" आप कहेगे, इन सब बातो का रीतिकालीन कविता से क्या सम्बन्ध है ? सुनिये : "हम कह चुके है कि रीति-कविता शुद्ध सामन्तीय वातावरण की सृष्टि है।"

यह सब देखने-सुनने के बाद यह नहीं कहा जा सकता कि नगेन्द्रजी ने रीतिकालीन कविता का विश्लेषण शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से किया है। उन्होने सामाजिक पृष्ठभूमि का बराबर ध्यान रखा है लेकिन न तो इस पृष्ठभूमि की समझ सही है, न उससे साहित्य का सम्बन्ध सही-सही दिखाया गया है। नगेन्द्रजी ने जिसे उपद्रव, अव्यवस्था आदि कहा है, वह अक्सर स्वाधीनता के लिये जनता के प्रयास भी थे, ये वह भूल गये हैं। आर्थिक पराभव की बात करते हुए वह यहाँ के बड़े-बड़े व्यापारियों और महाजनो को भूल गये है जिनमे से कुछ के बूते पर अँगरेज उधार लेकर यहाँ व्यापार करते थे। वह यहाँ के उद्योगधन्धों के विकास

से बिल्कुल बेखबर है जिन्हे १८ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में अँगरेजो ने पाशविक बर्बरता से तह्‌स-नह्‌स किया था। इसलिये नगेन्द्रजी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का इतिहास से बहुत कम सम्बन्ध है।

अपनी कल्पित ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे उन्होंने यह नतीजा निकाला है कि यह घोर निराशा का युग था और कामिनी-सेवन के अलावा लोगों के लिये और कोई चारा न था। नगेन्द्रजी के लिये रीतिकालीन कविता "जैसे जीवन का एक विरामस्थल है जहां सभी प्रकार की दौड़धूप से श्रान्त होकर मानव नारी की मधुर अंचल-छाया मे बैठकर अपने दुःखो और पराभावो को भूल जाना चाहता है।" दुखो और पराभवों की बात कहकर नगेन्द्रजी दरबारी कविता के प्रति सहानुभूति जगाने के लिये अपना पहला तर्क देते है। वह मानते है कि रीतिकालीन कविता का आधार यह "सीमित' है, वह "एकांगी" है, इसलिये आपको उनकी निष्पक्षता मे सन्देह न होगा। फिर सिफारिश करते है: "घोर निराशा के इस युग मे जीवन मे किसी-न-किसी प्रकार ये कवि रस-संचार करते रहे, मै समझता हूँ कम-से-कम इसके लिये तत्कालीन समाज को उनका कृतज्ञ अवश्य होना चाहिये।" तत्कालीन समाज तो अब है नहीं, इसलिये सिफारिश उस तक पहुँच नहीं सकती। नगेन्द्रजी का समकालीन समाज अभी जरूर बना हुआ है और सिफारिस है भी उसी के लिये।

नगेन्द्रजी का दूसरा संकेत यह है कि इस युग मे सामन्तीवर्ग का ही ह्रास नहीं हो रहा था, समस्त जनता का ह्रास हो रहा था। आजकल भी जब शासकवर्ग के सामने भ्रष्टाचार, घूसखोरी आदि की करामाते आती है तो वह जनता के नैतिक पतन की दुहाई देता है। नगेन्द्रजी "जीवन" शब्द का कवित्वपूर्ण प्रयोग करके जनता और उसके सामन्ती शासको का भेद मिटा देते है: "घोर अव्यवस्था से क्षत-विक्षत सामंतवाद के भग्नावशेष की छाया मे त्रस्त और क्षीण जीवन एक बँधी लीक पर पड़ा हुआ यन्त्रवत् चल रहा था। क्षत-विक्षत था सामंतवाद; बंधी लीक पर चल रहा था "जीवन"। इसे "रीतिकाव्य की भूमिका" के अन्तिम पृष्ठों में उन्होंने और स्पष्ट कर दिया है। रीति-परम्परा के लिये कहते हैं:

"चिन्तामणि के समय तक उसे जनरुचि का भी बल प्राप्त हो गया";
"उनके समय से जनरुचि भी उनके साथ होगई और रीतिग्रन्थो का तांता बँध गया।" इस तरह दरबारी कवियो के पापों के लिये नगेन्द्रजी ने जनरुचि को उत्तरदायी ठहराया है।

नगेन्द्रजी ने "रीतिकाव्य का शास्त्रीय आधार" नामक एक लम्बा प्रकरण लिखा है जिसमे ध्वनि, अलंकार, रस आदि के बारे मे संस्कृत आचार्यों के मतो का परिचय दिया है। यह परिचय इसीलिये दिया है कि हिन्दी मे रीतिकाव्य का आधार संस्कृत मे मौजूद था। देव आदि के जिन आधार-ग्रन्थो का नाम शुक्लजी ने लिया था, उन्हे नगेन्द्रजी ने भी दोहराया है। अलंकार, नायिकाभेद आदि के निरूपण की परम्परा काफी पुरानी थी और शुक्लजी के अनुकरण पर—या उनके आतङ्क के कारण—आचर्यत्व के क्षेत्र मे रीतिकालीन कवियो के लिये मौलिकता का दावा नगेन्द्रजी ने भी नहीं किया। रीतिकालीन कविता के लिये उन्होंने ठीक लिखा है कि "वह एक प्राचीन परम्परा का नियमित विकास थी"; उनकी यह उक्ति भी काफी सारगर्भित है कि "हिन्दी मे रीति-परम्परा का आरम्भ तो उसके जन्मकाल से ही मानना पड़ेगा" (हिन्दी के जन्म से नही, हिन्दी साहित्य के जन्म से कहना ज्यादा संगत होगा)। यदि यह सच है तो निराशा, बुद्धि का ह्रास, मुगल साम्राज्य का पतन, उपद्रव और अव्यवस्था—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के नाम पर नगेन्द्रजी ने यह जो भानमती का कुनबा जोड़ा था, उसका क्या हुआ? वास्तव मे उस कुनबे की सार्थकता यही थी कि वह नारी की मधुर अंचल-छाया मे बैठने की कल्पना को एक आधार दे दे। वर्ना ह्रासवादी व्याख्या का कोई महत्व नहीं है।

और रीतिकालीन कविता मे नगेन्द्रजी ने जो यह गुण ढूंढ़ निकाला है कि उसमें "एक मधुर रमणीयता—मन को विश्राम देने का गुण—अवश्य है", वह वर्तमान समाज के मध्यवर्गीय कवियो के लिये ज्यादा सही है, दरबारी वैभव मे रहने वाले सामन्तो के चाटुकार कवियो के लिये नहीं। नगेन्द्रजी मानते हैं कि "ऑलराउंड" ह्रास के युग में केवल

विलास की प्रगति हो रही थी। लिखा है : "अतिशय वैभव का यह युग अतिशय विलास का युग भी था।" एक तरफ नगेन्द्रजी स्वीकार करते है कि यह वैभव और विलास का युग था; दूसरी तरफ यह भी कहते जाते हैं कि दुख और पराभव (आर्थिक पराभव भी) के कारण कवि नारी के आँचल की मधुर छाया तलाश करते थे। इन उलझी हुई बातों का कारण यह है कि दरबारी कवियों के प्रति सहानुभूति जगाने के लिये वह कारण ढूंढ़ रहे है और इस "रिसर्च" मे उन्हे अपनी कही हुई बातों के परस्पर सम्बन्ध का ध्यान नहीं रहता।

सामन्ती वातावरण से दरबारी कवियों को जरा अलग करके देखने की दबी सी कोशिश उन्होने की है। यह मानते हुए कि उन कवियों के लिये नारी भोगवस्तु थी, उन्होंने उनकी शृङ्गारिकता के लिये दावा किया है . "इसका स्वरूप प्रायः सर्वत्र ही गार्हस्थिक है।" यदि गार्हस्थिक जीवन का स्वरूप वही है जो नायिकाभेदी ग्रन्थो मे मिलता है तो दरबारो, अंतः-पुरो और साधारण ग्रहस्थो के घरो मे ज्यादा फर्क न रहा होगा।

नायिकाभेदी कवियो ने गार्हस्थिक जीवन के कैसे चित्र दिये है, इसकी मिसाल देव से ही देना ज्यादा ठीक होगा क्योकि नगेन्द्रजी के अनुसार "देव रस-सिद्ध प्रेमी कवि थे", "प्रेम का उन्हे अत्यन्त गम्भीर अनुभव था।" ये मिसालें भी हम अपनी ओर से न छाँटेगे वरन् नरेन्द्रजी के कुछ प्रशंसा-वाक्यो को उद्धृत कर देना ही काफी होगा। वह नायिका जो जड़ाऊ किनारी की साड़ी पहने "डगर-डगर" दिवाली सी चमकती चली आती है, नगेन्द्रजी के लिये "नयनोत्सव की ही व्यंजना" करती है। झीना पट ओढ़े हुए सोती हुई एक और नायिका की बाँह की छवि द्वारा व्यंजित "ऐन्द्रियता कितनी मादक है, उसमे वासना की कितनी भीनी मधुगंध है!" मृगमद, चोवा, मखतूल और काजल बनाकर श्याम को अपने पास रखने वाली तीसरी नायिका के वर्णन मे "सभी इन्द्रियों को जैसे शानदार दावत दी गई है।" और ओछे उरोजन पै अनुराग के अंकुर" उठने पर "काम की प्राथमिक चेतना का कितना सूक्ष्म-सरस वर्णन है।"

और एक दृश्य देखिये। "रात्रि का समय है नायक नायिका पास बैठे हुए है—अन्तरङ्ग सखियाँ भी उपस्थित है। नायक का मन आज कुछ उतावला हो रहा है।...विनोद कितना प्रच्छन्न और कितना सूक्ष्म मधुर है।"

गार्हस्थिक जीवन का स्वरूप !!

देव की विशेषता यह है : "खण्डिता के चित्र रीतिकाल मे देव से अच्छे शायद ही किसी कवि ने अङ्कित किये हों।' और भी—"वास्तव मे समस्त परकीया प्रसंग मे ही कवि ने आवेग का बाँध तोड़ दिया है।" और इन परकीया-प्रसंग की कविताओ नगेन्द्रजी ने क्या-क्या नही देखा—"गम्भीर अनुभूति का भार", "रसानुभूति मे एक विशेष तन्मयता", "भावयोग की अवस्था", "कविता की मूलात्मा" !!!

परकीया-प्रसंग मे आवेग का बाँध तोड़ने वाले कवियो गार्हस्थिक जीवन का स्वरूप ! देव ने स्वकीया नायिका की चाहे जितनी तारीफ की हो उनके आवेग का बाँध टूटा है परकीया-प्रसंग ही मे। लेकिन सवाल स्वकीया-परकीया का नही है; सवाल है प्रेम का। नगेन्द्रजी ने प्रेम की जिस गम्भीर अनुभूति का दावा किया था, उसे वह देव मे नही दिखा सके है। नयनोत्सव, इन्द्रियो की दावत, काम-चेतना का सरस वर्णन ! देव स्त्रियो को किस निगाह से देखते थे, यह उनकी इस उक्ति से अच्छी तरह प्रकट होता है :

> "काम अन्धकारी जगत, लखै न रूप कुरूप।
> हाथ लिये डोलत फिरै, कामिनि छरी अनूप॥
> तातैं कामिनि एक ही, कहन सुनन को भेद।
> राचैं पागैं प्रेमरस, मेटै मन को खेद॥"

कहने-सुनने का भेद है, कमिनी है एक ही। यह उक्ति अपवाद नहीं है; देव और दूसरे रीतिकालीन कवियो की धारणा का सही प्रतिबिंब है।

नगेन्द्रजी रीतिकालीन काव्य के उन प्रशंसकों में हैं जिनकी परम्परा निर्मूल करने के लिये शुक्लजी ने जीवन भर संघर्ष किया था। उन जैसे

आलोचक उस काव्य-परम्परा का प्रभाव फिर जमाना चाहते हैं जिसे हिन्दी साहित्य की राष्ट्रीय और जनवादीधारा ने प्रायः निमूल कर दिया है। कभी शुद्ध साहित्य के नाम पर, कभी गार्हस्थिक जीवन के नाम पर, कभी प्रेम की अनुभूति के नाम पर सामाजिक जीवन की गतिशील धारा से दूर पड़े हुए ये सज्जन दरबारी कामक्रीड़ा और वैभव के सपनों से मन बहला रहे है। नगेन्द्रजी ने एक नया काम किया है, वह यह कि रीतिकालीन कविता के लिये उन्होने मनोविज्ञान की दुहाई देना भी शुरू किया है। यह बात पहले के आलोचको को न सूझी थी।

उन्होने नायिकाभेद के लिये एक आंशिक मनोवैज्ञानिक आधार ढूंढ निकाला है। वयभेद के अनुसार नायिकाओ के विभाजन का आधार क्या है? इसमे कौनसा मनोविज्ञान छिपा है? "वय के साथ-साथ रति-प्रसंग के प्रति नायिका के दृष्टिकोण मे जो परिवर्तन होता जाता है वास्तविक महत्व उसका है।" वय के साथ क्या परिवर्तन होता है, किन स्त्रियों मे होता है, उसकी छानबीन नगेन्द्रजी ने नहीं की। दरबारी कवियो की नायिकाओ—केवल उपभोग की वस्तुओ—के दृष्टिकोण को ही नगेन्द्रजी ने मनोविज्ञान का आधार माना है। काल या अवस्था के अनुसार नायिकाओ के और प्रकृति-भेद करने के बारे मे कहते है कि इस तरह से बनाये हुए वर्ग "सर्वथा मौलिक एवं सर्वमान्य है।" संस्कृत सहित्य मे श्रृङ्गार को रसराज या एकमात्र रस मानने वालो के विवेचन को नगेन्द्र जी ने "अत्यन्त गम्भीर और मनोवैज्ञानिक कहा है; उसके आधार को "काव्यशास्त्र और मीमांसा के सूक्ष्म तर्कों से परिपुष्ट" बतलाया है। परिणाम यह कि रीतिकालीन कविता मे काम का स्वाभाविक चित्रण किया गया है: "वासना को उसमे अपने प्राकृतिक रूप मे ग्रहण करते हुए उसी की तुष्टि को निश्चल रूप से प्रेम रूप मे स्वीकार किया गया है।"

काम का सबसे "प्राकृतिक रूप" पशुओ मे होता है, उनका जीवन शुद्ध जीवन है, उस पर मानव-सभ्यता की नागरिकता की जरा भी

छाप नहीं है। लेकिन अभी तक काम की इस प्राकृतिक अभिव्यक्ति के लिये किसी ने मनोविज्ञान की दुहाई देना जरुरी न समझा था। यह डा० नगेन्द्र की सर्वथा मौलिक सूझ है। आनन्द से अहंकार की उत्पत्ति हुई, अहंकार से अभिमान की, अभिमान से रीति की—इस तरह के विवेचन को मनोवैज्ञानिक कहने वालो के लिये संसार मे अवैज्ञानिक कुछ भी नहीं है। भारतीय दर्शन का सारतत्व निकालते हुए नगेन्द्र जी कहते है कि "भारतीय दर्शन के अनुसार जीव की दो मौलिक प्रवृत्तियाँ मानी गई है; राग और द्वेष।" इनमे द्वेष राग का उल्टा है, इसीलिये राग मूल प्रवृत्ति हुई। "फ्रायड का मत बिलकुल यही है।" उसने भी जो दो प्रवृत्तियाँ मानी है, वे "वास्तव मे राग और द्वेष की ही पर्याय है।" और वेद मे तो काम की महिमा गायी ही गयी है। इसलिये राग, काम, लिबिडो सब एक है। काम भावना "गम्भीर की मूल प्रवृत्ति" है, इसलिये "सबसे अधिक गंभीर वृत्ति भी है"।

यह तो नगेन्द्रजी के मनोविज्ञान का सैद्धान्तिक रूप हुआ। अब उसकी रोशनी मे नायिका-भेद की गहराइयों की थाह वह किस तरह लेते है, यह भी देखिये। "मैन आगि" से मोम जैसा मन पिघल जाने वाली नायिका के बारे में देव की उक्ति पर नगेन्द्रजी मनोविज्ञान का प्रकाश डालते हुए लिखते है: "यह प्रसङ्ग रस-सिक्त तो है ही साथ ही मनोविज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त सटीक है। प्रसिद्ध मनोवेत्ता फ्रायड ने एक ऐसी ही स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि बलात्कार के समय यदि कोई स्त्री परवश होकर आत्मसमर्पण कर देती है तो इसमे उसके सतीत्व पर शंका नहीं करनी चाहिये क्योकि यह तो प्रकृति का आग्रह है। ऐसी परिस्थिति में, जहाँ उसका चेतन व्यक्तित्व बलात्कारी का विरोध करता है वहाँ उसका अवचेतन नारीत्व उसकी सहायता करता है। चेतन मन कठोर होकर आक्रान्ता को जितना ही दूर हटाने का प्रयत्न करता है, अवचेतन नारीत्व पिघलता हुआ उसकी ओर बढ़ता जाता है।"

इस "मनोविज्ञान" के अनुसार कविता रचते, ऐसे गये गुजरे रीतिकालीन कवि भी नही थे। इस "मनोविज्ञान" के अनुसार साहित्य

रचा जाता है अमरीका मे जहाँ का मामाजिक जीवन हत्या और बला-त्कार मे सभी देशों से आगे बढ़ा हुआ है। डा० नगेन्द्र जैसे आलोचक हिन्दी साहित्य की उस तलछट के प्रतिनिधि है जो दरबारी संस्कृति की धारा के बह जाने पर कुछ दिमागों मे जमा हो गई है। आज उन्हे अपने अनुकूल वातावरण नहीं मिलता; इसलिये वेद-पुराण और आधुनिक मनोविज्ञान की दुहाई देकर वे अपनी समाज-विरोधी प्रवृत्तियो के लिये सफाई तलाश कर रहे हैं। इनका विवेचन अन्तर्विरोधो से भरा पड़ा है क्योकि—चोर नारि जिमि प्रगट न रोई—ये नायिका भेदी परम्परा के खत्म हो जाने पर खुलकर आँसू नहीं बहा सकते। वे एक सांस मे उसकी ऐन्द्रियता, विलासिता और सीमित भाव-जगत् को भला-बुरा कहते हैं, दूसरी सांस मे वाशना की निश्छल अभिव्यक्ति, प्रेम की गम्भीर अनुभूति, मनोवैज्ञानिक गहराई—यह सब उसमें ढूंढ़ निकालते है। पच्छिम के मनोविज्ञान मे जो कुछ घटिया है, पतनशील है, वही इन्हें प्रिय है। शुक्ल जी ने भी आधुनिक मनोविज्ञान का अध्ययन किया था लेकिन उन्होने उसके पतनशील रुझानो का जोरो से खण्डन किया था। प्रसादजी ने भी प्राचीन साहित्य मे काम शब्द के प्रयोग का अध्ययन किया था लेकिन वेद मे प्रयुक्त काम शब्द और वर्तमान अर्थ मे प्रयुक्त होने वाले काम में भेद किया था। उस काम के व्यापक अर्थ से ही उन्होने कामगोत्रजा कामायनी का संबंध जोड़ा था। लेकिन कहाँ प्रसादजी की कामायनी और कहाँ नगेन्द्रजी की (देव की नहीं) नायिका जिसका अवचेतन मन बला-त्कार के समय आक्रान्ता की ओर सहानुभूति पैदा करता है। नारी पर पाशविक अत्याचारों के लिये कैसी बढ़िया "मनोवैज्ञानिक" सफाई है।

डा० नगेन्द्र जैसे आलोचक दरबारी साहित्य की हिमायत करते हुए भारतीय दर्शन, भारतीय साहित्य-शास्त्र की दुहाई देकर इन्हें भी बदनाम करते हैं। यदि भारतीय दर्शन और साहित्य-शास्त्र दरबारों तक सीमित रहे होते तो यह प्रयत्न कुछ सार्थक भी होता। लेकिन शुद्ध साहि-त्यिक दृष्टिकोण की दुहाई देकर जब ये आलोचक सामन्तवाद के पतन-

काल के साहित्य का समर्थन करने चलते हैं, तब भारतीय दर्शन और साहित्य-शास्त्र की प्रगतिशील परम्परा से वे पहले ही नाता तोड़ लेते हैं। इनके विपरीत शुक्लजी से हम सीखते है कि रीतिकालीन काव्य का विवेकपूर्ण विवेचन करते हुए किस तरह भारतीय चितन के प्रगतिशील तत्वो को पहचानना चाहिये, किस तरह उन्हे वर्तमान युग मे पुष्ट और विकसित करना चाहिये, किस तरह पच्छिम के मनोविज्ञान और साहित्य के पतनशील रुझानो का विरोध करना चाहिये, किस तरह उनके वैज्ञानिक और प्रगतिशील तत्वो को अपनाना चाहिये। शुक्लजी के आलोचना-साहित्य का अध्ययन हिन्दी साहित्य को अवाञ्छित प्रभावो से मुक्त करने के लिए अब भी एक महान् साधन है। इसलिए इस तरह के आलोचक कही खुलकर, कही छिपकर शुक्लजी की मूल स्थापनाओ पर प्रहार करते हैं। इनके प्रहारो से उनका कुछ बनता-बिगड़ता नही, यह दूसरी बात है; वास्तव मे इससे शुक्लजी का युगान्तरकारी महत्व सभी की आँखो के सामने और भी स्पष्ट हो जाता है।

---

# हिन्दी गद्य का विकास और भारतेन्दु काल

हिन्दी गद्य के विकास का सवाल हिन्दी भाषा के विकास, हिंदी-उर्दू के परस्पर सम्बन्ध और भाषा के विकास मे विभिन्न वर्गों की भूमिका आदि की समस्याओ के साथ जुड़ा हुआ है। शुक्लजी ने हिन्दी भाषा और हिन्दी गद्य के विकास को उस समाज के विकास के साथ देखने-समझने की कोशिश की है जिसकी भाषा हिन्दी है। चाहे भाषा का इतिहास हो चाहे साहित्य का, समाज से अलग करके हम उसे नही समझ सकते। शुक्लजी के लिये न तो "शुद्ध" साहित्य-शास्त्र है, न शुद्ध भाषा-शास्त्र। उनके दृष्टिकोण की यह विशेषता उन्हे भाववादी विचारको से अलग करती है। वह उन विचारको से भिन्न हैं जो भाषा और साहित्य को सामाजिक गीतविधि से दूर रखकर उनका अध्ययन करते है।

हिन्दी भाषा और गद्य के विकास को समझने के लिए शुक्लजी ने बोलचाल की भाषा, जनता के व्यवहार मे आने वाली भाषा पर अपनी निगाह जमाई है। भाषा का मतलब सबसे पहले जनता के कामकाज की भाषा है, साहित्य की भाषा और उस भाषा की विभिन्न शैलियाँ बाद को आती है। यह एक सही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण शुक्लजी को उन खांई-खन्दको में गिरने से बचाता है जिनमे पड़े हुए हिन्दी और

भारत की दूसरी भाषाओ के भी अनेक "वैज्ञानिक" आसमान के तारे गिन रहे हैं। इस दृष्टिकोण की वजह से शुक्लजी ने भाषा के इतिहास को समझने के लिए उसके पुस्तकों मे दर्ज रूप को काफी नही माना। जो कुछ किताबों मे लिखा हुआ है, वह सभी व्यवहार मे भी आता होगा, यह आवश्यक नही है। संस्कृत नाटको मे और स्वतंत्र रूप से भी जिस "प्राकृत" का व्यवहार किया गया है, उसे शुक्लजी ने चुपचाप लोक-व्यवहार की भाषा नही मान लिया है। जायसी की भूमिका मे "गढ़ी हुई" प्राकृत से जायसी और तुलसी की स्वाभाविक भाषा की तुलना करते हुए उन्होने लिखा है: "जायसी और तुलसी ने चलती भाषा मे रचना की है, प्राकृत के समान व्याकरण के अनुसार गढ़ी हुई भाषा मे नहीं।" (वक्तव्य, प्रथम संस्करण)।

प्राकृतों की कुछ विशेषताओ का आधार बोलचाल की भाषाएँ न रही हो, यह बात नही है। ये विशेषताएँ—खास कर कुछ उच्चारण की विशेषताएँ बोलचाल की विशेषताएँ हैं या उन से बहुत मिलती जुलती हैं लेकिन किसीभाषा का रूप उसके व्याकरण और मूल शब्दभंडार से निश्चित होता है। प्राकृतो का व्याकरण और शब्द-भंडार इतना मिलता जुलता है कि उन्हे अनेक भाषाएँ न कह कर एक ही भाषा कहना ज्यादा सही होगा। ऐसे युग में जब यातायात के साधन कम हो, परस्पर व्यव हार और मिलने जुलने मे आज से कहीं ज्यादा कठिनाई हो, भाषाएँ एक दूसरे से और भी ज्यादा भिन्न होती है, थोड़ी-थोड़ी दूर पर भी भाषा की विभिन्नता आज से ज्यादा होनी चाहिये। यदि ये प्राकृते अलग अलग जातियों की भाषाएँ होती तो उनसे आज मराठी, गुजराती, हिन्दी, बंगला आदि मे जितनी विभिन्नता हैं, उससे ज्यादा ही होती, कम न होती। लेकिन वास्तव मे प्राकृतें एक दूसरे के इतना निकट है जितना मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाएँ तो क्या, एक भाषा की बोलियाँ भी एक दूसरे के निकट नही हैं। इसके सिवा प्राकृत या प्राकृतो का व्याकरण और मूल शब्द भंडार प्रायः वही है जो संस्कृत का है। प्राकृत और संस्कृत का भेद मुख्य रूप से उच्चारण का भेद है, व्याकरण और

मूल शब्द भंडार का नहीं लेकिन भारत या विदेश की किन्ही दो बहुत ही मिलती-जुलती—भौगोलिक दृष्टि से भी पास-पास बोली जाने वाली-भाषाओं को ले लीजिये यह साफ दिखाई देगा कि उनमे व्याकरण और मूल-शब्द भंडार की अपनी विशेषताएँ है जो उनका अपना भाषागत रूप स्थिर करती है इसलिये शुक्ल जी की स्थापना सही मालूम होती है और उस पर विचार करने के बाद संस्कृत से प्राकृत और प्राकृत से एकाधिक मंजिल के बाद हिन्दी का विकास हुआ— यह धारणा छोड़नी पड़ेगी। सबसे ज्यादा ध्यान इस बात पर देना होगा कि खड़ी बोली, ब्रज, अवधी आदि का व्याकरण संस्कृत और प्राकृत से कितना मिलता है, उसकी अपनी विशेषताए क्या है, क्या उनका आधार भी संस्कृत का व्याकरण है, इत्यादि हो सकता है। कि व्याकरण और मूल शब्द-भंडार पर विचार करने से हिन्दी और भी प्राचीन सिद्ध हो और वह संस्कृत-परिवार की तो मानी जाय लेकिन उसके व्याकरण के रूप, मूल शब्द आदि संस्कृत से निकले हुए न सिद्ध हो। इस विषय पर यहाँ विस्तार से लिखने का अवकाश नहीं है। भाषा संवन्धी खोज के लिये यह भी एक संभावित मार्ग है, इतना ही संकेत करना काफी होगा।

अपभ्रंश और खड़ी बोली के संबन्ध मे शुक्लजी की यह धारणा है कि अपभ्रंश हिन्दी का ही पुराना रूप नहीं है लेकिन हिन्दी के रूप की उसमें झलक जरूर मिलती है। अपने इतिहास में गद्य के विकास के सिलसिले मे उन्होंने लिखा है: "भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय तक अपभ्रंशकाव्यो की जो परंपरा चलती रही उसके भीतर खड़ी बोली के प्राचीन रूप की झलक अनेक पद्यों मे मिलती है।" अपभ्रंश और हिन्दी के व्याकरणो की तुलना करने से शुक्लजी की यह स्थापना सही मालूम होती है।

अपभ्रंश बोलचाल की भाषा नहीं थी, इस संबन्ध में लिखा है: "इस अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी का अभिप्राय यह है कि यह उस समय की ठीक बोलचाल की भाषा नहीं है जिस समय की इसकी रचनाएं मिलती हैं।"

भाषा का लिखित साहित्य न मिलने से यह साबित नही होता कि वह भाषा बोली भी न जाती थी। लिखित साहित्य के आधार पर ही भाषा की प्राचीनता निश्चित नहीं की जा सकती। सामाजिक विकास के साथ भाषा नये शब्द लेती है, कुछ शब्द छोड़ती है, समृद्ध होती है लेकिन उसके मूल व्याकरण और बुनियादी शब्दभंडार मे बहुत ही कम परिवर्तन होता है। व्याकरण और मूल शब्दभंडार की विशेषताएं हजारो साल तक कायम रहती है। इसीलिये भाषा सबसे पहले मौखिक व्यहवार का माध्यम है, यह याद रखना चाहिये। इस संबन्ध मे शुक्लजी अपने इतिहास मे लिखते है :

"पर किसी भाषा का साहित्य मे व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उस भाषा का अस्तित्व ही नही था। उर्दू का रूप प्राप्त होने के पहले भी खड़ी बोली अपने देशी रूप मे वर्त्तमान थी और अब भी बनी हुई है।"

खुसरो से पहले हिन्दी मे मौखिक साहित्य रचा जाता रहा होगा, इस बारे मे शुक्लजी कहते है : "कोई भाषा हो, उसका कुछ न कुछ साहित्य अवश्य होता है—चाहे वह लिखित न हो, श्रुति परंपरा द्वारा ही चला आता हो। अतः खड़ी बोली के भी कुछ गीत, कुछ पद्य, कुछ तुकबंदियां खुसरो के पहले से अवश्य चली आती होगी।"

साहित्य का माध्यम बनने से पहले कितनी ही शताब्दियो तक भाषा मौखिकरूप मे प्रचलित रहती है; लिखित साहित्य एसे बहुत से साधनों पर निर्भर रहता है जो भाषा के लिये नियामक नहीं है। इसलिये उसके मौखिक रूप पर ध्यान देते हुए हिन्दी की प्राचीनता पर नये सिरे से विचार करने की आवश्यकता है।

भाषा किसी समाज के व्यवहार का माध्यम होती है; उस समाज के सभी लोग—उनका धर्म चाहे अलग अलग हो—एक ही भाषा काम मे लाते हैं। धर्म बदलने से या नये धर्म वालों के आ मिलने से भाषा नहीं बदल जाती। मध्यकालीन भारत मे पच्छिम से जब अनेक जातियो के आक्रमण हुए और उनमें से बहुत से लोग यहां बस गये, राज्यभाषा

फारसी बनी, तब हिन्दी और अन्य भाषाओं पर नये प्रभाव पड़े, उनमे बहुत से शब्द आये लेकिन भाषाओ के मूल व्याकरण-रूपो मे कोई कहने लायक तब्दीली न हुई। आक्रमणो से, आक्रान्ता जातियों के घुलमिल जाने से, धर्म बदलने से, नये धर्मवालो के आकर बसने से भाषा के मौलिकरूप मे परिवर्तन नहीं होता।

मध्यकालीन भारत मे मुसलमानो के हमलो से, उनके यहाँ आकर बसने से—यानी अरबों, तुर्कों, ईरानियो, पठानो आदि के हमलों से, उनके यहाँ बस जाने से—खड़ी बोली, ब्रज, अवधी आदि मे कोई मौलिक परिवर्तन नही हुए, व्याकरण नहीं बदल गया, मूल शब्द-भंडार दूसरा नही हो गया। हमारे यहाँ एक अवैज्ञानिक धारणा प्रचलित रही है कि मुसलमानो और हिन्दुओ के मिलने से एक नयी भाषा का जन्म हो गया, उर्दू मुसलमानो की भाषा है, खड़ी बोली मुसलमानों के आने से फैली, इत्यादि। इस तरह की धारणाओ का इतिहास से कोई संबन्ध नहीं है।

यहां के हिन्दुओ की कोई एक भाषा नही थी, उनकी अनेक भाषाएं थीं। यह याद दिलाना भी गलत न होगा कि अरब-हमलो से पहले भारत में हिन्दू धर्म के सिवा और दूसरे धर्म भी थे। इन धर्मवालो की भाषाएं धर्म के हिसाब से अलग-अलग न थी। अपने अपने प्रदेशो में बसी हुई जातियां अपनी अपनी भाषाओं का उपयोग करती थीं। किसी भी जाति मे एक से ज्यादा धर्म होने पर एक से ज्यादा भाषाएं न हो जाती थी। इस तरह अरब, ईरान, तुर्किस्तान, पठान देश आदि के मुसल्मानों का धर्म एक होने पर भी उनकी भाषा एक न थी; जैसे आज उनमे भाषागत भेद है, वैसे ही तब भी था और अबसे ज्यादा ही था। इसलिये हिन्दुओं और मुसलमानो के मिलने से किसी नयी भाषा का बनना एक निराधार कल्पना है।

खड़ी बोली पहले एक सीमित क्षेत्र की भाषा थी, यह सभी जानते हैं। जैसे अवधी, बुन्देलखंडी आदि जनपदीय भाषाएं या बोलियां हैं, वैसे ही पहले खड़ी बोली भी थी। अपने क्षेत्र के गांवो मे वह आज भी

बोली जाती है जैसे अपने क्षेत्र के गांवों मे आमतौर से आज भी अवधी बोली जाती है। इस सीमित क्षेत्र से बाहर खड़ी बोली कैसे फैली? क्या यह मुसलमानो की विशेष भाषा थी और मुगल साम्राज्य के साथ उसका प्रसार हुआ?

पूर्वी बंगाल, मलाबार, पच्छिमी पंजाब, कश्मीर के मुसल्मानो की भाषा कौनसी है? क्या खड़ी बोली? नहीं, उनकी भाषा बंगला, मलयालम, पंजाबी और कश्मीरी है। जिस जातीय प्रदेश के मुसलमान होंगे, वहीं की उनकी भाषा भी होगी। हिन्दी भाषा-क्षेत्र मे उनकी बोलचाल की भाषा वही थी जो दूसरो की थी। गांवो मे दूसरे किसानो की तरह देहाती मुसल्मान भी अवधी, भोजपुरी, बुंदेलखंडी आदि बोलते थे जैसे कि आज भी बोलते है। इसलिये यह समझना कि मुसलमानो या मुगल साम्राज्य के कारण खड़ीबोली फैली, एक भ्रम है। सबसे पहले भारतेन्दु ने खड़ी बोली के प्रसार का संबन्ध व्यापार की बढ़ती और शहरो मे पछाँह के व्यापारियो के बसने से जोड़ा था। "हिन्दी भाषा" नाम के निबन्ध मे भारतेन्दु ने बनारस शहर के अन्दर प्रचलित अनेक बोलियों का हवाला देने के बाद लिखा था: "जो हो यह तो सिद्धान्त है कि जो यहां के शिष्ट लोग बोलते है वह परदेसी भाषा है और यहां पश्चिम से आई है।" यह "परदेसी" भाषा पश्चिमोत्तर देश—यानी हिन्दी भाषी प्रदेश—में किन व्यापारी जातियो के साथ आयी, इसका जवाब भारतेन्दु के इस वाक्य से मिलता है: "अब पश्चिमोत्तर देश मे घर में बोलने की भाषा कौन है यह निश्चय नहीं होता क्योकि दिल्ली प्रान्त के वा अन्य नगरो में भी खत्रियों वा पछाही अगरवालो वा और पछाहीं जातियो के अतिरिक्त घर मे हिन्दी कोई नही बोलते वरंच यहाँ तो कोस कोस पर भाषा बदलती है।" ❀

शुक्लजी ने भारतेन्दु के इन सूत्रो को विकसित करते हुए व्यापारी जातियों के फैलने के साथ खड़ी बोली के प्रसार का सम्बन्ध इस तरह जोड़ा है। मुगल साम्राज्य के ह्रास के समय "दिल्ली के आस पास के

❀ कवि वचन सुधा, २ अक्तूबर १८७२।

प्रदेशो की हिन्दू व्यापारी जातियाँ (अगरवाले, खत्री आदि) जीविका के लिए लखनऊ, फैजाबाद, प्रयाग, काशी, पटना आदि पूरबी शहरों मे फैलने लगी।" शुक्लजी ने खड़ी बोली के प्रसार का संबन्ध व्यापारी जातियो के साथ ठीक जोड़ा है। लेकिन व्यापारियो मे हिन्दू ही नही थे, मुसलमान भी थे। व्यापारियो के अलावा यहाँ के साधारण लोगों का एक जनपद से दूसरे जनपद मे बसने का काम काफी दिन से चला आरहा था। यही कारण है कि लखनऊ या बनारस के मुसलमान जिन जनपदों से आकर वहाँ बसे थे, वहाँ की बोलियाँ अब भी घरों मे बोलते हैं।

व्यापार के समय खड़ी बोली के प्रसार की घटना मुगल-साम्राज्य के पतन से पहले की है। शुक्लजी ने ठीक लिखा हैः "अकबर और जहाँ-गीर के समय मे ही खड़ी बोली भिन्न भिन्न प्रदेशो मे शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा हो चली थी।" अकबर और जहाँगीर के समय व्यापार की बड़ी बड़ी मंडियां कायम हुईं, शेरशाह और उसके पहले से सामंती समाज के ढाँचे मे पूंजीवादी सम्बन्ध पनप रहे थे, वे और मज-बूत हुए। इसीलिए न सिर्फ दिल्ली और आगरे मे बल्कि "भिन्न-भिन्न प्रदेशो में" खड़ी बोली शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा बनी। इस स्थापना के विपरीत शुक्लजी खड़ी बोली के गद्य के सिलसिले मे जो पहले लिख गए है, वह सही नहीं हैः "देश के भिन्न-भिन्न भागो मे मुसल-मानों के फैलने तथा दिल्ली की दरबारी शिष्टता के प्रचार के साथ ही दिल्ली की खड़ी बोली शिष्ट समुदाय के परस्पर व्यवहार की भाषा हो चली थी।" न तो खड़ी बोली केवल हिन्दू व्यापारी जातियों के साथ फैली, न मुसलमानों के फैलने और दरबारी शिष्टता के प्रचार के साथ उसका सम्बन्ध है। खड़ी बोली के प्रसार का सम्बन्ध हमारे जातीय निर्माण से है, अवध, ब्रज आदि जनपदो के अलगाव टूटने से है, व्यापार की मण्डियाँ कायम होने से है और इस प्रक्रिया मे हिन्दू-मुसल-मान दोनो शामिल थे।

शुक्लजी ने बाजारो के साथ खड़ी बोली के प्रसार का सम्बन्ध जोड़ा, यह उनकी सूझबूझ का बहुत बड़ा प्रमाण है। वैज्ञानिक इतिहास के

विद्यार्थी जानते है कि सामन्तवाद के पतनकाल मे, पूँजीवाद के उत्थान-काल मे, बाजारो के कायम होने के साथ जातियो का निर्माण भी होता है। दिल्ली, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, पटना आदि शहर अकबर और जहाँगीर के समय यहाँ के प्रधान व्यापार-केन्द्र थे। वे उद्योगधंधो और संस्कृत के केन्द्र भी थे। इनकी बढ़ती के साथ खड़ीबोली बाज़ार की भाषा बनी, वह अपने सीमित क्षेत्र से बाहर आयी और पूरब के इलाको मे भी फैली। शुक्लजी ने ठीक लिखा है: "अत. धीरे-धीरे पूरब के शहरो मे भी इन पच्छिमी व्यापारियो की प्रधानता हो चली। इस प्रकार बड़े शहरों के बाजार की व्यावहारिक भाषा भी खड़ी बोली हुई।"

शुक्लजी ने खड़ी बोली के प्रसार का जो रहस्य यहाँ प्रकट किया है, वह भाषा-विज्ञान के अनेक विशेषज्ञो के लिये अब भी रहस्य बना हुआ है। अनेक विद्वानो की समझ में नही आया कि अवधी, भोजपुरी, मगही आदि से खड़ी बोली का सम्बन्ध क्या है। उनकी समझ मे यह नहीं आया कि बड़े शहरो के बाजार की "व्यावहारिक भाषा" खड़ी बोली हुई। वह कभी-कभी उसे नकली, अव्यावहारिक, पूरब पर पच्छिम की लादी हुई भाषा समझते है। वह अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि के स्वतंत्र विकास-विभिन्न जातियो की भाषाओ के रूप मे उनके विकास—का सपना देखते हैं। कुछ दूसरे विद्वान् अंग्रेजो के आने से पहले व्यापारी-सम्बन्धों के अस्तित्व और प्रसार को ही नज़रदाज़ करते है; वे इस सवाल को न तो उठाते हैं और न इसका जवाब देते है कि अकबर और जहाँगीर के समय दिल्ली, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस और पटना में व्यापार की मंडियाँ क्यो कायम हुईं, ये शहर क्यों एशिया के नगरो मे भारी व्यापार-केन्द्र बने, इनके बाजार मे परस्पर व्यवहार की सामान्य भाषा क्या थी। हिन्दी-भाषी प्रदेश अब भी अनेक सूबो मे बंटा हुआ है। हिन्दी भाषियों को पिछड़ा हुआ और एक दूसरे से बंटा हुआ रखने के लिये पूरब-पच्छिम के झगड़े खड़े करके और भी विभाजन की योजनाएँ बनायी गई हैं। यह सब देखते हुए शुक्लजी की स्थापनाओं का महत्व अच्छी तरह समझ में आ सकता है। उनकी स्थापनाओ के आधार पर ही हम

हिन्दी-भाषियो की जातीय एकता, उनके जातीय निर्माण और संगठन और इस काम मे खड़ीबोली की ऐतिहासिक भूमिका समझ सकते है।

शुक्लजी के सामने खड़ीबोली के प्रसार के ऐतिहासिक कारण स्पष्ट थे, इसलिये वह ग्रियर्सन आदि के इस प्रचार से सहमत न हो सकते थे कि हिन्दी गद्य का विकास—यानी गद्य मे खड़ीबोली के हिन्दी रूप का विकास—अंग्रेजो की कृपा का फल था। न वह कुछ अंग्रेज भाषा-वैज्ञानिको और उनके हिन्दुस्तानी अनुयाइयो के इस प्रचार से सहमत हो सकते थे कि उर्दू से प्रचलित अरबी-फारसी के शब्द निकाल कर उनकी जगह संस्कृत के शब्द रखने से हिन्दी गद्य का विकास हुआ है। शुक्लजी ने दिखलाया कि खड़ीबोली के प्रचलित रूप के आधार पर ही हिन्दी गद्य का विकास हुआ यह साबित करने के लिये उन्होने लल्लूलाल से पहले के हिंदी गद्य के नमूने दिये और यह भी दिखला दिया कि वे नमूने लल्लूलाल के गद्य से ज्यादा साफ सुथरी हिन्दी की मिसाल थे।

हिन्द प्रदेश के रहने वालो की जातीय भाषा हिन्दी है। अंग्रेजों के आने से पहले हमारे जातीय निर्माण का सिलसिला काफी आगे बढ़ चुका था; उसी के साथ खड़ीबोली के प्रसार का काम भी काफी आगे बढ़ चुका था। वास्तव मे अंग्रेजो ने अपनी भेद-नीति से हमारे जातीय निर्माण मे काफ़ी अड़ंगे लगाये और भाषा के मामले मे दखल देकर हिंदी-भाषी जाति को तोड़ने की काफी कोशिश की। शुक्लजी अपने इतिहास मे लिखते हैं: "मुसलमानों के दिए हुए कृत्रिम रूप से स्वतंत्र खड़ी बोली का स्वाभाविक देशी रूप भी देश के भिन्न भिन्न भागों मे पछांह के व्यापारियों आदि के साथ-साथ फैल रहा था। उसके प्रचार और उर्दू-साहित्य के प्रचार से कोई सम्बन्ध नहीं। धीरे-धीरे यही खड़ीबोली व्यवहार की सामान्य शिष्ट भाषा हो गई। जिस समय अंगरेजी राज्य भारत मे प्रतिष्ठित हुआ उस समय भारत मे खड़ीबोली व्यवहार की शिष्ट भाषा हो चुकी थी।"

उर्दू के सवाल को हम आगे लेंगे। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि शुक्लजी के अनुसार अंग्रेजी राज्य के प्रतिष्ठित होने के समय खड़ीबोली व्यवहार की शिष्ट भाषा "हो चुकी थी।" जातीय भाषा के प्रसार

के लिये हम अंग्रेजों के देनदार नही है। इस प्रसार का सम्बन्ध शुक्लजी ने बारबार व्यापारियों की कार्यवाही से जोड़ा है।

शुक्लजी ने रामप्रसाद निरंजनी के गद्य की मिसाल देकर कहा है कि "मुंशी सदासुख और लल्लूलाल से ६२ वर्ष पहले खड़ीबोली का गद्य अच्छे परिमार्जित रूप मे पुस्तके आदि लिखने मे व्यवहृत होता था।" दौलतराम के पद्म पुराण का अनुवाद देखकर शुक्लजी ने फिर लिखा कि यह ग्रंथ जैन समाज के लिये रचा गया था जो "बराबर व्यापार से संबन्ध रखने वाला समाज रहा है।" इससे एक और सबूत मिला कि खड़ीबोली "अधिकांश शिष्ट जनता के बीच" अपने स्वाभाविक रूप मे प्रचलित थी। यह सबूत इस दलील को काटता है कि हिन्दी गद्य अंग्रेजो की कृपा से विकसित हुआ। शुक्लजी जोर देकर कहते हैं: "अतः यह कहने की गुंजाइश अब जरा भी नही रही कि खड़ीबोली गद्य की परम्परा अंग्रेजो की प्रेरणा से चली।" इंशा की रानी केतकी की कहानी अंग्रेजो के आने से पहले लिखी गई थी; "अतः यह कहना कि अंगरेजो की प्रेरणा से ही हिन्दी खड़ीबोली गद्य का प्रादुर्भाव हुआ, ठीक नहीं है।" सदासुखलाल ने भी साफ सुथरी हिन्दी मे गद्य लिखा था। वह दिल्ली के रहने वाले थे; उर्दू के भी लेखक थे, इन बातों का प्रभाव उनके गद्य लिखने पर पड़ा। खड़ीबोली दिल्ली वालों के घर की चीज थी; लखनऊ वगैरह में तो वह फैली। लेकिन "मुंशीजी ने यह गद्य न तो किसी अँगरेज अधिकारी की प्रेरणा से और न किसी दिए हुए नमूने पर लिखा।" उन्होंने उस भाषा में लिखा।" जो चारो ओर, "पूरबी प्रान्तो मे भी", प्रचलित थी।

इस तरह शुक्लजी ने अंग्रेजों के इस प्रचार का तर्क-संगत खण्डन किया कि उन्होंने कलकत्ते मे हिन्दी गद्य का पौधा लगाया था।

बोलचाल की भाषा का सूत्र पकड़े रहने से शुक्लजी इस भ्रम मे नहीं पड़े कि हिन्दी-उर्दू दो स्वतंत्र भाषाएँ हैं। उर्दू खड़ीबोली का ही एक रूप है, यह मान्यता उनकी अनेक उक्तियों से प्रकट होती है। इंशा के सिलसिले में लिखा है: "खड़ीबोली उर्दू-कविता मे पहले से बहुत कुछ मँज

चुकी थी जिससे उर्दू वालों के सामने लिखते समय मुहावरे आदि बहुतायत से आया करते थे।' खड़ीबोली मँज चुकी थी, इसका मतलब यह है कि उसका टकसाली रूप बहुत कुछ निश्चित हो चुका था। उर्दू वालो के सामने मुहावरे आदि बहुतायत से आया करते थे, इसका मतलब यह है कि वे आमतौर से मुहावरेदार भाषा लिखा करते थे।

यहाँ खड़ीबोली के गद्य के विकास की एक और कड़ी पर ध्यान देना चाहिये जो शुक्लजी के समय स्पष्ट न थी। यह कड़ी दकनी हिन्दी की है। इंशा, सदासुख और लल्लूलाल ही नहीं, मीर गालिब और सौदा से भी बहुत पहले दक्खिन के लेखकों ने खड़ीबोली का गद्य विकसित किया था। इसमे ज्यादातर—और खासतौर से वली से पहले की रचनाओं मे—फारसी के प्रचलित शब्दो के साथ संस्कृत के प्रचलित शब्द भी मिलते है, बहिष्कार की नीति के बदले व्यवहार की भाषा का रूप बहुत कुछ इस दकनी गद्य से मालूम हो सकता है।

भाखा शब्द मुसलमान किस अर्थ मे इस्तेमाल करते थे, यह बतलाते हुए शुक्लजी ने लिखा है: "भाखा से खास ब्रज भाषा का अभिप्राय उनका नहीं होता था, जैसे अरबी-फारसी मिली हिंदी को 'उर्दू' कहते थे उसी प्रकार संस्कृत मिली हिंदी को 'भाखा'।" अरबी-फारसी मिली हिंदी उर्दू कहलाती थी, संस्कृत मिली हिन्दी भाखा। अन्तर शब्दों के चुनाव मे था, न कि व्याकरण के मूल रूपो मे। यहाँ भी शुक्लजी की व्याख्या से यह जाहिर होता है कि वह बुनियादी तौर से हिन्दी उर्दू को एक ही भाषा समझते थे।

बालमुकुन्द गुप्त की शैली की तारीफ करते हुए शुक्लजी ने लिखा है: "वे पहले उर्दू के अच्छे लेखक थे, इससे उनकी हिन्दी बहुत चलती हुई और फड़कती हुई होती थी।" इसका मतलब यह हुआ कि उर्दू अरबी-फारसी से लदी हुई भाषा ही नहीं है, उसमें बोलचाल की हिन्दी का रूप भी रचा हुआ है जिससे फायदा उठाकर बालमुकुन्द गुप्त ने हिन्दी को सँवारा। उर्दू मे शब्द-चयन की दो परम्पराएं हैं, एक परम्परा वह है जो शब्दावली को बोलचाल के नज़दीक रखती है, दूसरी परम्परा वह है

जो बोलचाल के शब्दो को, खासतौर से हिन्दी के प्रचलित शब्दो को, घटिया समझ कर उनके बदले फारसी से उधार लिये हुए माल से अपना रूप सँवारती है। इस दूसरी परंपरा का कारण मुख्य रूप से वह दरबारी संस्कृति और सामन्ती दृष्टिकोण है जो आम जनता की चीजो को घटिया समझता है और उसकी समझ मे न आने वाली चीजो को बढ़िया। उर्दू मे अरबी-फारसी से बहुत ज्यादा शब्द लेने के कई कारण है। अकबर के समय और उसके बहुत पहले भी फारसी यहाँ की राजभाषा थी। सामन्ती युग मे जातीय उत्पीड़न का यह भी एक रूप था। फारसी के राजभाषा होने से जितने लोग दरबार की तरफ मुँह किये थे, वे फारसी को श्रेष्ठ और यहाँ की भाषाओ को आमतौर से हीन समझते थे। दूसरा कारण खुद हिन्दी साहित्य के अन्दर सामन्ती प्रभावो का गहरा असर था। हिन्दी के बहुत से कवि कबीर, तुलसी, सूर, जायसी की परम्परा को न बढ़ाकर जहाँ-तहाँ दरबारो मे नायिका-भेद छाँटते रहे। जातीय साहित्य की परम्परा संतो में फली फूली थी, न कि दरबारी कवियो मे। हिन्दी साहित्य के अन्दर सामन्ती असर इस बात मे भी देखे जा सकते है कि बहुत से लेखक संस्कृत को महान् और हिन्दी को हीन समझते थे, हिन्दी मे भी ब्रजभाषा को श्रेष्ठ और खड़ीबोली को घटिया समझते थे। इन सामन्ती प्रभावो के कारण खड़ीबोली का एक मात्र साहित्यिक रूप विकसित न हुआ, अंग्रेजो के आने के बाद भेदभाव और बढ़ा। सन् सत्तावन मे हिन्दुओं और मुसलमानो को अपने खिलाफ मिलकर लड़ते देखकर अंग्रेजों ने इस भेदभाव को और गहरा किया। पुलिस और कचहरी का खास संबन्ध उन्होंने मुसलमानो और अरबी से लदी हुई उर्दू से जोड़ा और अलगाव-प्रेमी मुस्लिम नेताओ को बढ़ावा देकर यहाँ का जातीय जीवन छिन्न-भिन्न करते रहे। साम्राज्यवादियो के जातीय उत्पीड़न का यह भी एक रूप था।

शुक्लजी ने कहीं-कहीं उर्दू मात्र को कृत्रिम कहा है, उसे मुसल्मानो की भाषा कहा है, यह ठीक नहीं है। उर्दू लिखनेवालो मे बहुत से हिन्दू भी थे, यह सभी जानते है। उर्दू मे बोलचाल का रूप मौजूद है और

बहुत अच्छी तरह मौजूद है, यह भी लोग जानते हैं। सदासुखलाल, लल्लूलाल, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि हिन्दी गद्य के जन्मदाता उर्दू के अच्छे लेखक थे। उनके उर्दू लेखक होने का असर उनकी हिन्दी पर भी पड़ा और यह असर अच्छा था, यह भी लोग जानते हैं। अगर उर्दू कृत्रिम ही होती तो ये लोग उससे कुछ सीखने लायक क्या सीखते ? और इनके बाद भी प्रेमचन्द, पद्मसिंह शर्मा आदि लेखक हिन्दी-उर्दू में समान-रूप से अच्छा क्यों लिखते ?

हिन्दी-उर्दू विवाद को इतना ज़हरीला बना दिया गया है कि बहुत से लोग भूल गये हैं कि ये एक ही बोलचाल की भाषा के दो रूप हैं, इनका तमाम साहित्य—भला बुरा जो कुछ है—एक ही जाति का साहित्य है। जैसे जैसे लोग यह समझेंगे कि हिन्दी-उर्दू वाले एक ही प्रदेश के रहने वाले हैं, एक ही कौम है, उनकी बोलचाल की भाषा एक है और इसलिये उनके साहित्य की भाषा को भी एक होना पड़ेगा, वैसे-वैसे यह अलगाव कम होगा। इस अलगाव को उर्दू वाले कम कर सकते है, वह मिली जुली, साहित्यक भाषा के विकास में बहुत मदद दे सकते है अगर उनके सामने तीन चार बाते स्पष्ट हो जायं। पहली यह कि फारसी यहां सैकड़ो बरसो तक जबरन लादी हुई राजभाषा थी, उसके खिलाफ़ यहां के लोगो ने अपनी जातीय भाषाओ और संस्कृति को बचाने के लिये संघर्ष किया। यहां की भाषाओं पर फारसी के असर को—और फ़ारसी के ज़रिये अरबी के असर को—हर जगह हिन्दू-मुस्लिम एकता का सबूत न समझना चाहिये। दूसरी यह कि अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दो को कायम रखते हुए सिर्फ उन्हीं से शब्द लेने का रुझान कम करना होगा, यह ध्यान रखना होगा कि यहां की भाषाएं जिस तरह संस्कृत से शब्द उधार ले सकती हैं, उस तरह अरबी से नही। दर असल अगर फारसी से ही शब्द लिये जाते, फारसी के सभी शब्द ले लिये जाते तो भी हिन्दी उन्हे पचा जाती क्योंकि फारसी हमारे भाषा-परिवार के बहुत नज़दीक है। कठिनाई पैदा होती है अरबी शब्दो की वजह से और जितना ही उर्दू में

अरबी से नये शब्द लिये जायंगे, उतना ही वह जनता से दूर होगी। तीसरी यह कि उन्हे आसान उर्दू की परंपरा को आगे बढ़ाना चाहिये, मीर, सौदा, इक़बाल की उस सरल उर्दू से, जो कभी कभी सरल हिन्दी से जरा भी अलग नही है, सरल हिन्दी ही है, सीखना चाहिये, उस रीति को आगे बढ़ाना चाहिये। साथ ही मध्यकाल के सन्तो, प्रेममार्गी कवियो की शैली पर गौर करना चाहिये, उन्होने फारसी से शब्द किस तरह लिये है, किस हिसाब से लिये है, बोलचाल से कितने शब्द लिये है, संस्कृत से कैसे शब्द लेते है, यह सब ध्यान मे रखना चाहिये। चौथी यह कि वे अपना साहित्य नागरी अक्षरो मे हिन्दी जानने वाली जनता तक पहुँचाये जिससे उन्हे पता लगे कि वह उसकी समझ मे कितना आता है, वह उसे कितना पसंद करती है, उसमे क्या सुधार चाहती है, वगैरह।

इन चार बातो पर अमल करने से उर्दू के लेखक खड़ी बोली के मिले जुले, एक ही, साहित्यक रूप को विकसित करने मे मदद दे सकते है। ऐसे वे करेगे, एक हद तक कर भी रहे है क्योकि यह हमारे सामाजिक विकास ही की मांग है जिससे आँख नहीं चुराई जा सकती।

इसके साथ ही हिन्दी लेखको के भी कुछ कर्तव्य है जिन पर ध्यान न देने से वह हिन्दी का अहित करेगे। पहली बात यह कि उर्दू को कृत्रिम कहकर टाल देने के बदले उससे कुछ सीखने का दृष्टिकोण अपनाना ज्यादा अच्छा है। आज के हिंदी लेखक भारतेन्दु, बालमुकुन्द गुप्त और प्रेमचंद से कुछ बढ़िया हिन्दी नही लिखते। अगर उन जैसे महान् लेखक भी उर्दू से कुछ सीख सकते थे तो हम क्यो नही सीख सकते ? दूसरी बात यह कि हिन्दी के प्राचीन साहित्य की बिरासत को अपनी चीज माननेवाले भी सूर जायसी और तुलसी की परंपरा से दूर हटते जा रहे है। हम संस्कृत शब्दो को उस तरह भाषा मे नहीं खपा पाते जिस तरह तुलसी और सूर ने या देव और मतिराम ने भी खपाया था। हम तत्सम रूप को पंडित समझते है, तद्भवरूप को अछूत। नतीजा यह कि हम हिन्दी की अपनी विशेषताएं भूलकर उसे संस्कृत के रास्ते ठेलना चाहते है। तीसरी बात यह कि संस्कृत से हमे भरसक ऐसे शब्द लेने या बनाने

चाहिये जो हमारे उच्चारण के अनुकूल हो। अगर बोलने में कठिनाई हुई तो संस्कृत शब्दो की जगह फारसी, अंग्रेजी, किसी भी भाषा के शब्द चल निकलेंगे, वे बोलने में कठिन शब्द रखे रहेंगे। और चौथी बात यह कि अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों का बहिष्कार न करके हमे उन्हें हिन्दी की सम्पत्ति समझ कर उन्हे काम मे लाना चाहिये; इससे भाषा का रूप नही बिगड़ता वरन् भाषा मे नयी शक्ति पैदा होती है।

देश के बँटवारे के बाद काफी लोगो ने पारिभाषिक शब्दों के नाम पर, सारे देश मे समझे जाने लायक राष्ट्रभाषा गढ़ने के नाम पर हिन्दी का रूप काफी बिगाड़ा है लेकिन उनकी ये तमाम कोशिशे बेकार जायंगी क्योकि हिन्दी वह भाषा है जो एक ओर संस्कृत, दूसरी ओर फारसी और तीसरी ओर अंग्रेजी, इन तीनो के मिले जुले दबाव को ठेलती हुई ऊपर उठी है। संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी का सहारा एक बात है, दबाव दूसरी बात है। दबाव बेकार होगा; भाषा अपने जातीय रूप के अनुसार ही फले-फूलेगी।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का उत्थानकाल हिन्दीभाषी जनता के जातीय और जनवादी साहित्य का भी उत्थान काल है। इसी युग मे हिन्दी साहित्य को सामन्ती प्रभावो से मुक्त करके राष्ट्रीय स्वाधीनता, जातीय एकता और जनता की सेवा के नये रास्ते पर ले चलने की कोशिशें की गई। सामन्ती प्रभाव एकाएक खत्म नही हो गये; खासकर कविता मे वह काफी दिन तक जमे रहे। लेकिन गद्य में रूढ़िवाद का असर कम हुआ और जल्दी कम हुआ। गद्य का यह विकास आसानी से, बिना संघर्ष के नहीं हुआ; रूढ़िवादी विचारधारा गद्य का रूढ़िवादी रूप भी चाहती थी, प्रगतिशील विचारधारा गद्य के रूप को स्वाभाविक बोलचाल के ज्यादा नजदीक लाना चाहती थी। साहित्य की विषय-वस्तु ने उसके रूप पर असर डाला; रूप की तुलना मे विषय-वस्तु ने अपनी नियामक भूमिका पूरी की। शुक्लजी ने इस नयी विषयवस्तु का समर्थन किया, उसके लोकप्रिय रूप का समर्थन किया।

हिन्दी गद्य लिखने वालों के सामने दो मुख्य समस्याएं थी, एक तो

यह कि ब्रज और अवधी के व्याकरण-रूपों से बचा कर उसका टकसाली रूप कायम किया जाय. दूसरी यह कि उसे रूढ़िवादी अलंकारवाद से बचाकर उसे सहज और स्वाभाविक बनाया जाय। शुक्लजी ने दिखलाया है कि ब्रज, अवध आदि में खड़ी बोली का प्रसार तो हुआ लेकिन उसका एकसा ही रूप हर जगह न बोला जाता था। "काशी पूरब में है पर यहां के पंडित सैकड़ों वर्षों से 'होयगा' 'आवता है' 'इस करके आदि' बोलते चले आते हैं।" इससे पूरब मे खड़ी बोली का सहज प्रसार साबित हुआ, साथ यह भी साबित हुआ कि यह प्रसार स्थानीय प्रभावों के कारण हर जगह एकसी टकासाली (स्टैंडर्ड) भाषा को लेकर न हुआ था। लल्लूलाल की भाषा मे एक तरफ तो ब्रज के प्रयोग हैं, ब्रजभाषा के व्याकरण के कुछ रूप हैं, दूसरी तरफ अलंकारवाद का भी जोर है। एक तरफ संमुख जाय, सिर नाय, सोई, भई आदि जैसे प्रयोग हैं, दूसरी तरफ "भाषा की सजावट" के लिये "विरामों पर तुकबंदी", जहां-तहां अनुप्रास भी हैं, वाक्य बड़े-बड़े हैं जिससे कि "लल्लूलालजी का काव्याभास-गद्य भक्तों की कथावार्त्ता के काम का ही अधिकतर है; न नित्य-व्यवहार के अनुकूल है, न संबद्ध विचारधारा के योग्य।" काव्याभास गद्य कह कर शुक्लजी ने लल्लूलाल की सारी कमजोरियां जाहिर कर दी हैं। यह दोष लल्लूलाल ही में नहीं, इंशा में भी था। वह भी होने लगी, रोने लगी, बरसने लगे, तरसने लगे के अनुप्रास बाँधा करते थे। इस तरह के चमत्कारवाद को दूर करके ही व्यवहार की भाषा का साहित्यक रूप निखर सकता था। लल्लूलाल की भाषा मे अलंकारवाद होते हुए भी मिठास थी, यह मानना होगा। ब्रजभाषा के व्याकरण-रूप लेना गलत था, लेकिन शब्दचयन ब्रजभाषा जैसा होने से उसमें मिठास भी है। इंशा के लिये तो शुक्लजी ने खुद ही लिखा है कि कुछ विचित्रताओं के होते हुए भी "इंशा ने जगह जगह बड़ी प्यारी घरेलू ठेठ भाषा का व्यवहार किया है।"

भारतेन्दु-युग के लेखकों ने आमतौर से जिस शैली का विरोध किया, उसके एक प्रतिनिधि उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन थे। इन

के लेखो से "गद्य काव्य के पुराने ढंग की झलक रंगीन इबारत की चमक-दमक बहुत कुछ मिलती है। बहुत से वाक्यखंडो की लड़ियो से गुथे हुए उनके वाक्य अत्यंत लंबे होते है—इतने लंबे कि उनका अन्वय कठिन होता था। पद-विन्यास मे तथा कहीं-कहीं वाक्य के बीच विराम स्थलो पर भी अनुप्रास देख इंशा और लल्लूलाल का स्मरण होता है। इस दृष्टि से देखे तो प्रेमघन मे पुरानी परंपरा का निर्वाह अधिक दिखाई पड़ता है।" यहाँ बहुत संक्षेप मे शुक्लजी ने रूढ़िवादी शैली के दोष बतला दिये है। नया साहित्य यथार्थवाद की ओर बढ़ रहा था, इसलिए लम्बे वाक्य, बीच-बीच मे अनुप्रास और इबारत की चमक-दमक इस यथार्थ-वादी रुझान के विरुद्ध पड़ते थे। शुक्ल जी ने आगे भी लिखा है कि पाठक कभी-कभी प्रेमघन के "एक एक डेढ़-डेढ़ कालम के लंबे वाक्य मे उलझा रह जाता था।"

इस चमत्कारवाद का संबंध संस्कृत की गद्य-शैली से भी था। शुक्लजी ने जिस निर्भीकता से संस्कृत के चमत्कारवादी साहित्य-शास्त्रियो का विरोध किया था, उसी निर्भीकता से उन्होने संस्कृत गद्य के चमत्कार-वादियों की सीमाएँ भी बतलाईं। ऐसे युग में और वह भी काशी मे, जब देववाणी का हर लेखक हिन्दी साहित्यकारो से श्रेष्ठ और आलो-चना से परे समझा जाता था, शुक्ल जी ने बाण और दंडी की गद्य-शैली के दोष दिखाकर साहस का ही काम किया। उन्होने अपने इतिहास मे गोविन्द नारायण मिश्र की रूढ़िवादी शैली का विवेचन करते हुए लिखा: "गद्य के संबन्ध मे इनकी धारणा प्राचीनों के गद्य काव्य की ही थी। लिखते समय बाण और दंडी इनके ध्यान मे रहा करते थे। पर यह प्रसिद्ध बात है कि संस्कृत साहित्य मे गद्य का वैसा विकास नहीं हुआ। बाण और दंडी का गद्य काव्य अलंकार की छटा दिखाने वाला गद्य था, विचारों को उत्तेजना देने वाला भाषा की शक्ति का प्रसार करने वाला गद्य नहीं।" शुक्ल जी ने बाण और दंडी की शैली की सही आलोचना की है लेकिन संस्कृत में इस शैली से भिन्न और तरह का गद्य भी है, यह भी उन्हे लिखना चाहिये था। लेकिन उस दूसरी

तरह के गद्य का असर गोविन्दनारायण मिश्र जैसे लेखको पर न पड़ रहा था। सामन्ती प्रभावो के कारण वे संस्कृत के उस गद्य से प्रेम करते थे जो सामन्ती संस्कृति का अंग था या उस से प्रभावित था। शुक्ल जी की यह चेतावनी विल्कुल ठीक है: "गद्य काव्य की पुरानी रूढ़ि के अनुसरण से शक्तिशाली गद्य का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।"

शुक्ल जी ने हिन्दी को संस्कृत के शब्द-जाल से लादने का तीव्र विरोध किया है। उन्होने गोविंदनारायण मिश्र जैसे लेखको के "समास-अनुप्रास से गुथे शब्द "गुच्छो" पर व्यंग्य किया है। शुक्लजी ने लिखा है: "जहाँ वे कुछ विचार उपस्थित करते है वहाँ भी पदच्छटा ही ऊपर दिखाई पड़ती है।" एक तो बेचारों के यहाँ वैसे ही विचारों का टोटा है, उस पर कहीं से दो चार मिल भी गये तो पदच्छटा उन पर हावी रहती है। इसलिये इनका गद्य "एक क्रीड़ा कौतुक मात्र" है। गोविदनारायण मिश्र को उपसर्ग जोड़ने का भी मर्ज था; इस तरह "मिश्रजी से लेखको ने बिना किसी जरूरत के उपसर्गों का पुछल्ला जोड़ जनता के इन जाने बूझे शब्दो को भी" समुचित, समुत्पन्न, समुच्चरित कर दिया। सौकार्य, सामीप्य, आर्जव आदि शब्द, शुक्लजी के अनुसार, ऐसे ही लोगों की प्रवृत्ति से लाए जाने लगे। गोविदनारायन मिश्र मे एक-ऐसी प्रवृत्ति देखकर जो हिन्दी का रूप बिगाड़ रही थी, शुक्लजी ने उनकी आलोचना की थी। भारतेन्दु-युग के प्रमुख लेखको की गद्य-शैली ऐसे ही लोगों का विरोध करती हुई विकसित हुई थी। यह प्रवृत्ति अभी खत्म नहीं हुई। हिन्दी के कुछ आलोचको मे वह खासतौर से पायी जाती है। उपसर्गों से उन्हे खास प्रेम है। यद्यपि वे ज्यादातर अंग्रेजी किताबो का अनुवाद ही करते हैं, फिर भी अपनी मौलिकता की धाक जमाने के लिये समुचित समुचरितवादी शब्द-छटा के नीचे अपनी विचार-छटा छिपाये रहते है।

भारतेन्दु ने जैसी सरस हिन्दी लिखी, वैसी बहुत कम लोग लिख पाते हैं, इसका एक कारण यह भी है कि उन्होने हिंदी के सहज रूपको पहचाना था और उसे संस्कृत के साँचे मे ढालने की कोशिश न की थी। शुक्लजी ने संस्कृत-गद्य से प्रभावित हिन्दी लेखको की शैली से भारतेन्दु की गद्य-

शैली का अलगाव दिखलाते हुए लिखा है: "एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की है। वस्तुवर्णन या दृश्यवर्णन में विषयानुकूल मधुर या कठोर वर्ण वाले संस्कृत शब्दों की योजना की, जो प्रायः समस्त और सानुप्रास होती है, चाल सी चली आई है। भारतेन्दु में यह प्रवृत्ति हम सामान्यतः नहीं पाते।" शुक्लजी ने यहाँ संस्कृत शब्दों के अनचाहे प्रयोगों की ओर खासतौर से ध्यान दिलाया है। हिन्दी का अपना रूप है, अपना स्वभाव है, संस्कृत के ढाँचे से उसका स्वतन्त्र विकास हुआ है। यह बात भुलाकर हिन्दी का विकास नहीं किया जा सकता।

हिन्दी और संस्कृत के संबन्ध की ओर शुक्लजी ने बार-बार ध्यान दिलाया है। एक ओर जहाँ उन्होंने यह कहा है कि हिंदी संस्कृत-परिवार की ही भाषा है, अरबी-फारसी के मुकाबले में उसका संस्कृत से शब्द लेना स्वाभाविक है, वहाँ उन्होंने संस्कृत से अलग हिन्दी की अपनी प्रकृति के विकास पर भी जोर दिया है। भारतेन्दु युग के लेखकों में जो सरसता मिलती है, उनका गद्य जो इतना स्वाभाविक और सजीव लगता है, उसका कारण यह है: "हरिश्चन्द्र-काल के सब लेखकों में अपनी भाषा की प्रकृति की पूरी परख थी। संस्कृत के ऐसे ही शब्दों और रूपों का व्यवहार वे करते थे जो शिष्ट समाज के बीच प्रचलित चले आते हैं। जिन शब्दों या उनके जिन रूपों से केवल संस्कृताभ्यासी ही परिचित होते हैं और जो भाषा के प्रवाह के साथ ठीक चलते नहीं, उनका प्रयोग वे बहुत औचट में पड़कर ही करते थे। उनकी लिखावट में न 'उड्डीयमान' और 'अवसाद' ऐसे शब्द मिलते हैं, न 'औदार्य्य', 'सौकर्य्य,' और 'मौर्ख्य' ऐसे रूप।"

भारतेन्दु और उनके युग के लेखकों की इस नीति का फल यह हुआ कि "उस काल में हिन्दी का शुद्ध साहित्योपयोगी रूप ही नहीं, व्यवहारोपयोगी रूप भी निखरा।" इधर हमारे शब्दच्छटावादी आलोचकों का यह हाल है कि उनकी लिखी हुई भाषा न तो संस्कृत है, न हिन्दी, न वह साहित्य के काम की है, न व्यवहार की। इसका कारण यह है कि इनका दिमाग सोचने के नाम पर कुछ अंग्रेजी वाक्यों का हिन्दी रूपान्तर सोचता है, लिखने के नाम पर वे ऐसे शब्द गढ़ते हैं जो हिन्दी में तो

अजनबी है ही, संस्कृत मे भी उनका वह अर्थ न होगा जो इन बुद्धिमानो के दिमाग मे है। जिन हिन्दी लेखको से इन्हे कुछ सीखना चाहिये, उन्हे ये उथला, सतही, एकाङ्गी, "गाम्भीर्य्य-शून्य" समझते है। इसलिए हिंदी शब्दसागर मे थाह लेने जाकर इनके हाथ "मौर्ख्य" ही लग पाता है।

शुक्लजी ने भारतेन्दु के गद्य की दो शैलियाँ बतलाई है। पहली भावावेश की, दूसरी तथ्य-निरूपण की। पहली तरह की शैली मे वाक्य छोटे होते है, "पदावली सरस बोलचाल की होती है" जिसमे फारसी-अरबी के प्रचलित शब्द भी आ जाते है। उनकी दूसरी शैली मे कभी-कभी "संस्कृत पदावली का कुछ अधिक समावेश होता है।" इस दूसरी शैली की मिसाल देने के बाद शुक्लजी कहते है, "पर यह भारतेन्दु की असली भाषा नही है।" उन्होने उनकी असली भाषा का रूप उस शैली मे ही माना है जिसमे संस्कृत पदावली का अधिक समावेश नही है। वास्तव मे इसी तरह की हिन्दी ने हरिश्चन्द्र को भारतेन्दु बनाया था।

भारतेन्दु ने भाषा का रूप काफी व्यवस्थिति किया। उन्होने संबद्ध वाक्य-रचना मे कौशल दिखलाया; शब्दो के रूप भी प्रायः एकसे रखे। उन्होने भाषा को सदासुखलाल के "पंडिताऊपन", लल्लूलाल के "ब्रज-भाषापन" और सदल मिश्र के "पूरबीपन" से मुक्त किया। भारतेन्दु ने हिन्दी के उस टकसाली रूप का विकास किया जिसे हम आज अपनी जातीय भाषा समझते है। यह बात भारतेन्दु युग के सभी लेखको के लिए नही कही जा सकती। बालकृष्ण भट्ट के गद्य मे "पूरबी प्रयोग बराबर मिलते है।" प्रतापनारायण मिश्र "पूरबीपन की परवा न करके अपने बैसवारे की ग्राम्य कहावते और शब्द भी कभी-कभी बेधड़क रख दिया करते थे।" भारतेन्दु मे भी बनारस के कुछ खास प्रयोग मिलते हैं; स्थानीय प्रयोगो से उनका गद्य भी एकदम खाली नहीं है। लेकिन भारतेन्दु-युग आधुनिक हिन्दी गद्य के निर्माण का युग था। उसक महत्व भाषा को व्यवस्थित करने मे उतना नही है जितना उसे बोलचाल के नज-दीक रखते हुए साहित्यिक रूप देने मे। बालकृष्णभट्ट और प्रतापनारायण मिश्र के पूरबीपन पर हजारो शुद्ध हिन्दी लिखने वालो का टकसालीपन

निछावर है। भारतेन्दु युग के महान् लेखकों का गद्य अवध और ब्रज की धरती के बहुत ही नजदीक है; धूल भरे हीरे की तरह वह गद्य स्थानीयता के भीतर दमकता है। ये लेखक गद्य के लिये गद्य न लिख रहे थे, न भाषा सुधार के लिये भाषा सुधार रहे थे। भाषा उनके लिये एक साधन थी, साध्य नहीं। वह हिन्दी गद्य के रूप में सामाजिक उत्थान का ऐसा प्रबल शस्त्र गढ़ रहे थे जो बिखरे हुए हिन्दी भाषियों को एक करे और उन्हें स्वाधीनता,शिक्षा और अपने जनवादी अधिकारों के लिये लड़ना सिखाये। यदि आज के बहुत से पंडितों की तरह वे हिंदी को शब्दों से "समृद्ध" करने पर तुल जाते तो दस पाँच कोश वे भी बना डालते लेकिन वह साहित्य न रच पाते जो सदियों तक हिन्दी के विकास-पथ को आलोकित करता रहे।

भारतेन्दु ने भाषा को सँवारने, उसका रूप स्थिर करने में बहुत बड़ा काम किया, लेकिन "इससे भी बड़ा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया।' यही उनका मुख्य काम था, और सब काम इसके मातहत थे। साहित्य को नया मार्ग दिखाने के कारण वह साहित्य के रूप—उसकी भाषा, शैली आदि—को भी निखार सके, उसे यथार्थवादी रुझान के अनुकूल स्वाभाविक और सरस बना सके। लोगों में नयी शिक्षा का प्रचार हो रहा था, उनके "भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गये थे, पर साहित्य पीछे ही पड़ा था।" उस युग के लेखकों ने इस फासले को दूर किया। साहित्य समाज के पीछे घिसटता हुआ नहीं चलता; वह जनता के आगे बढ़े हुए विचारों और भावों का प्रतिनिध होता है। तभी वह जनता को संगठित करके, उसमें नया मनोबल जगाकर उसे नये कर्म-मार्ग पर बढ़ा सकता है। भारतेन्दु से पहले "भक्ति, शृङ्गार आदि की पुराने ढंग की कविताएँ ही होती चली आ रही थीं।" शृङ्गार का मतलब था, नायिका-भेद। वह चाल कभी की पुरानी पड़ गई थी। लेकिन भक्ति साहित्य, जिसे शुक्लजी ने वास्तविक जगत् के इतना निकट बतलाया था, वह भी इस युग की आवश्यकताओं के लिये काफी न था। साहित्य युग की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर रचा जाना चाहिए; शाश्वत सत्य के नाम पर वह सामयिकता को तिरस्कर की निगाह से नहीं

देख सकता। भारतेन्दु से पहले का हिन्दी—खड़ीबोली—का साहित्य इस विचार से पुराना पड़ चुका था; "देशकाल के अनुकूल साहित्य निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न तब तक नहीं हुआ था।" बंगला मे ऐसे नाटक और उपन्यास रचे जाने लगे थे "जिनमे देश और समाज की नयी रुचि और भावना का प्रतिविम्ब होने लगा था। पर हिन्दी साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेन्दु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़ कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर किया।"

यह था साहित्य मे युगान्तर। इस तरह का युगान्तर कभी शुद्ध साहित्यिक नहीं होता। वह जीवन और साहित्य को जोड़ने वाला होता है, उनके विच्छेद को दूर करने वाला होता है। शुक्लजी के विरोधी आलोचक, उन्हे एकाङ्गी समाज शास्त्री, "आउट ऑफ डेट" समझने वाले विद्वान् आज के साहित्य के लिये यह सवाल नहीं उठाते कि उसका हमारे सामाजिक जीवन से क्या सम्बन्ध है, वह इस जीवन के पीछे घिसट रहा है, उससे तटस्थ, पुरानी रूढ़ियो से चिपका हुआ है या आगे बढ़े हुए विचारो और भावो का प्रतिनिधि बन रहा है। वे यह सवाल इसलिये नहीं उठाते कि वे खुद सामाजिक जीवन के पीछे घिसट रहे है, उससे तटस्थ हैं, आगे बढ़े हुए विचारो और भावो से सशंक है, रूढ़ियो को हृदय से चिपकाये हुए है और उनमे न तो हिन्दी साहित्य की प्रगतिशील परम्परा को समझने की बुद्धि है, न उसे आगे बढ़ाने की शक्ति।

"नूतन और पुरातन का वह संघर्ष काल था।" भारतेन्दु जैसे लेखको ने इस संघर्ष मे तटस्थ न रहकर नयी और प्रगतिशील विचारधारा को आगे बढ़ाया, यह उनका युगान्तकारी काम था। यह विचारधारा राष्ट्रीय स्वाधीनता, जातीय एकता और जनवादी संस्कृति के उत्थान की विचारधारा थी। वह मनुष्य को अपनी शक्ति का भरोसा दिलाने वाली विचारधारा थी, वह ईश्वर के भरोसे हाथ पर हाथ रखकर बैठने का उपदेश देने वाली विचारधारा न थी। भारतेन्दु युग के साहित्य की

मौलिकता इस बात मे थी कि वह जनता के लिये रचा जा रहा था, दरबारो मे सामन्तो और उनके मुसाहबो के मनोरंजन के लिये नहीं। उस पर सामन्ती प्रभाव भी थे, साम्राज्यवाद और सामन्तवाद से समझौता करने के रुझान भी उसमे हैं लेकिन वे उसके मुख्य रुझान नहीं है, उसकी मुख्य प्रवृत्तिया साम्राज्यविरोधी और सामन्तविरोधी है, रीतिकालीन परंपरा के विरुद्ध देशभक्ति और राष्ट्रीयचेतना की समर्थक हैं। भारतेन्दु अपने युग के अकेले लेखक न थे जिन्होने नयी विचारधारा को अपनाया। उनके कुछ समकालीन लेखक अपनी विचारधारा मे उनसे भी आगे बढ़े हुए थे। ऐसे ही लेखको मे बालकृष्ण भट्ट थे। उनके लिये शुक्लजी ने लिखा है: "समय के प्रतिकूल पुराने बद्धमूल विचारो को उखाड़ने और परिस्थिति के अनुकूल नए विचारो को जमाने मे उनकी लेखनी सदा तत्पर रहती थी।" रूढ़िवादी विचारो को निर्मूल करना, समय के अनुकूल नये विचारों को जमाना—युग निर्माता साहित्यकारों का यही कर्त्तव्य होता है। इस कर्त्तव्य के अनुकूल ही "भाषा उनकी [यानी बालकृष्ण भट्ट की] चरपरी, तीखी और चमत्कार पूर्ण होती थी।"

शुक्लजी ने भारतेन्दुकालीन लेखको के "सामान्य गुण" उनकी सजीवता या जिन्दादिली का जिक्र किया है। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह से भिन्न हरिश्चन्द्र-मंडल के लेखको मे उन्होने चपलता, स्वच्छता और उमंग की तारीफ की है। इसका कारण यह नहीं था कि इन लेखकों ने मुसीबतो का सामना नहो किया; मुसीबते काफी थीं, व्यक्तिगत और समाजगत, दोनों तरह की। लेकिन शुक्लजी के शब्दों में "सबसे बड़ी बात स्मरण रखने की यह है कि उन पुराने लेखको के हृदय का मार्मिक संबन्ध भारतीय जीवन के विविध रूपो के साथ पूरा पूरा बना था।" उनके साहित्य की जड़ें जनजीवन में गहरे पैठी हुई थी, इसीलिये मुसीबतो और कठिनाइयों के बावजूद वे उमंग और जिंदादिली से ऐसा साहित्य रच सके जो मानवशक्ति मे आस्था रखता है, जो देश के उज्वल भविष्य मे आशा पैदा करता है।

हिन्दी के अनेक आलोचकों, रिसर्च-स्कालरो और डॉक्टरो ने

भारतेन्दु युग के नवजागरण का श्रेय अंग्रेजो को दिया है, अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी राज को दिया है। "भारतेन्दु की विचारधारा" नाम की एक पुस्तक के लेखक ने यहां तक लिखा है : "जिस समय भारतवर्ष अंधकार के गर्त मे डूबा हुआ था सौभाग्य से उस समय उसका पश्चिम की एक जीवित जाति के साथ संपर्क हुआ।" इस तरह का संपर्क १९ वी सदी के शुरू से ही "ऐंग्लो सैक्सन सभ्यता" एशिया के देशो से कायम कर रही थी और यह संपर्क "समस्त पूर्वी संसार को स्पंदित कर रहा था।" इस संपर्क मे १८५७ के भारतीय स्वाधीनता-संग्राम से बाधा पड़ी; बाधा ही नही, लेखक के शब्दो मे यह घटना "भविष्य मे अंग्रेजो और भारतवासियो के पारस्परिक संबन्ध के लिये घातक सिद्ध हुई।" डलहौजी के सुर मे सुर मिलाकर ये लेखक रेल, तार, डाक का गुणगान करते है; अंग्रेजो ने यह सब अपने हित के लिये किया और यहां के उद्योगधन्धो को तबाह किया, यह भूल जाते है। यूरोप के अनेक उपनिवेशवादियो मे "ऐंग्लो-सैक्सन सभ्यता की संदेशवाहक ब्रिटिश जाति" इन्हे और भी प्रातःस्मरणीय मालूम होती है। "इस दृष्टि से विश्व-इतिहास मे ब्रिटिश जाति का नाम अमर रहेगा" !!! ब्रिटिश जाति के साथ इन जैसे ब्रिटिश-भक्त आलोचको का नाम भी अमर रहेगा!

ऐसे आलोचको के विपरीत शुक्लजी ने भारतेन्दु युग के साहित्य का साम्राज्य-विरोधी पक्ष, उसका स्वाभाविक जन-जीवन से उत्पन्न होने वाला पक्ष उभार कर रखा है। उन्होने दिखलाया है कि उस समय के लेखकों का जीवन "देश के सामान्य जीवन से विच्छिन्न न था।" उन पर अंग्रेजी शिक्षा का यह प्रभाव न पड़ा था कि "अपने देश का रूप-रंग उन्हे सुझाई ही न पड़ता।" वे सुधार करना चाहते थे, नया साहित्य रचना चाहते थे लेकिन "पश्चिम की एक एक बात के अभिनय को ही वे उन्नति का पर्य्याय नही समझते थे।" वे प्रगति इस तरह करना चाहते थे कि "नवीन प्राचीन का ही प्रवर्द्धित रूप प्रतीत हो।" इसीलिये "जो मौलिकता इन लेखको मे थी वह द्वितीय उत्थान के लेखकों मे न दिखाई पड़ी।" यह मौलिकता क्या उधार ली हुई थी? बाद के लेखकों के समय

में तो अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार और भी हुआ लेकिन वह ज़िंदादिली और वह मौलिकता फिर क्यो न दिखाई दी ? यदि वह अंग्रेजी शिक्षा की देन होती तो घटने के बदले बराबर बढ़ती जाती; उसका एक युगव्यापी गुण के रूप मे अभाव न दिखाई देता। वे लेखक जनजीवन के हर पहलू पर लिखते थे, स्त्री-शिक्षा और देश की पराधीनता पर भी लिखते थे, और होली, दिवाली, दशहरे पर भी लिखते थे जिस पर "जनता के जीवन का रंग पूरा पूरा रहता था।" यह जनता के जीवन का रंग विलायत से बनकर न आया था, उसका आधार ऐंग्लो सैक्सन सभ्यता या ब्रिटिश-जाति से संपर्क न था। शुक्लजी ने अनेकबार भारतेन्दु-युग की ज़िंदादिली और मौलिकता से बाद के साहित्य की तुलना की है। उन्हे हर बार कहना पड़ा है, "यह सामाजिक सजीवता भी द्वितीय उत्थान के लेखकों मे वैसी न रही।' इसका कारण है। सामूहिक रूप से हिन्दी लेखकों का जनजीवन से वह संपर्क न रह गया जो भारतेन्दु-युग के लेखको का था। प्रेमचन्द, निराला, वृंदावनलाल वर्मा जैसे लेखको ने न केवल भारतेन्दु युग की जनवादी परंपरा को कायम रखा, वरन् वे उसे आगे की मंजिलो तक भी ले गये, साहित्य में उन्होने वह खूबियां पैदा की जो भारतेन्दु-युग मे कम थीं या नहीं थीं। लेकिन इनके युग मे जिन्दादिली या मौलिकता युग का गुण न था; जन-जीवन की पहचान और जनता से प्रेम युग के अधिकांश लेखको की विशेषता नही रही। बीसवी सदी मे हिन्दी साहित्य पर पच्छिम की पूँजीवादी विचारधारा का असर गहरा हुआ, खुद भारतीय पूँजीवाद का असर उस पर पड़ना शुरू हुआ। साहित्य-संसार का संघर्ष रीतिकालीन परंपरा और राष्ट्रीय विचारधारा का ही संघर्ष न रहा; वह सामन्ती, साम्राज्यवादी और पूंजीवादी विचारधारा तथा जनवादी विचारधारा का संघर्ष भी बना। बहुत से लेखक सामन्ती और साम्राज्य-वादी असर से तो एक हद तक बचे रहे लेकिन पूंजीवादी विचारधारा के असर से न बच सके। यह असर इन बातो मे दिखाई देता था : जन जीवन की समस्याएं छोड़कर रहस्यवाद, पुरातन-प्रेम, वेदना का संसार बसाने की प्रवृत्तियां, साहित्य के लोकप्रिय रूप, कला के जनसुलभ सौंदर्य,

भाषा के सरल और मुहावरे दार रूप को छोड़कर दुरूहता, कठिन शब्द-योजना और थोड़े सेव्यक्तियों को ध्यान मे रखकर साहित्य रचने की प्रवृत्तियां। जब इस तरह की प्रवृत्तियां काफी व्यापक प्रवृत्तियां बन जायंगी, तब जिदादिली कहां से आयेगी? भारतेन्दुयुग और बाद के साहित्य मे जो अन्तर दिखाई देता है, उसका यह एक बहुत बड़ा कारण है।

भारतेंदुयुग के लिये शुक्लजी ने लिखा है · "नूतन हिन्दी साहित्य का वह प्रथम उत्थान कैसा हॅसता खेलता सामने आया था, भारतेन्दु के सहयोगी लेखको का वह मंडल किस जोश और जिंदादिली के साथ और कैसी चहल पहल के बीच अपना काम कर गया, इसका उल्लेख पहले हो चुका है।"

हिन्दी आलोचना मे भारतेन्दुयुग अब भी बहुत कुछ एक उपेक्षित युग बना हुआ है। कई लेखक उस युग के बारे मे लिखते भी है तो पूँजीवादी विचारधारा के प्रभाव के कारण उसका सही जातीय रूप, उसकी क्रान्तिकारी भूमिका पहचान नहीं पाते। उस युग के लेखको पर विस्तार से काम करने की जरूरत है, उनकी रचनाओ के संग्रह प्रकाशित करना जरूरी है। यह सब करने मे शुक्लजी ने उस युग के अध्ययन का जो रास्ता दिखलाया है, वह हिन्दी आलोचना का राजमार्ग है। उसी पर चलते हुए हम इस युग का विस्तृत अध्ययन करके अपने साहित्य के इतिहास को भरा पूरा बना सकते है, अपने सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी को समृद्ध कर सकते है।

शुक्लजी ने हिन्दी गद्य के विकास की स्वाभाविक परंपरा पर जोर दिया है। उन्होने सिद्ध किया है कि हिन्दी गद्य न तो उर्दू से अरबी-फारसी के शब्द निकाल कर और उनकी जगह संस्कृत के शब्द डालकर गढ़ा गया है, न वह अंग्रेजो की कृपा का फल है। उन्होने भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखको के गद्य की यह विशेषता बतलाई है कि उसका आधार बोलचाल की भाषा है जिसमें फारसी के प्रचलित शब्दो का बहिष्कार नहीं किया गया, न उसमे संस्कृत पदावली की भरमार है। उन्होंने उर्दू के अरबी-फारसी लदे रूप का विरोध किया है लेकिन अनेक लेखको

को उर्दू से बहुत कुछ सीखते हुए भी बतलाया है। उन्होंने हिन्दी के प्राकृत रूप की रक्षा पर जोर दिया है, बेडौल समासों और भड़कीले संस्कृत शब्दों के प्रयोग की निन्दा है। भाषा के सहज रूप का संबन्ध उन्होंने साहित्य की विषयवस्तु से जोड़ा है जो युग की आवश्यकताओं को पूरा करती थी, जो युग के आगे बढ़े हुए विचारों और भावों का प्रतिबिब थी। उन्होंने भारतेन्दुयुग के नवजागरण का श्रेय अंग्रेजों को नहीं दिया—जैसे कि हिन्दी गद्य के विकास का श्रेय उन्होंने अंग्रेजों को नहीं दिया—वरन् उस युग के साहित्य पर जनजीवन का रंग देखा है, उसकी मौलिकता की दाद दी है, उसकी जिदादिली को उसकी अपनी विशेषता कहा है।

यह एक सही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। इससे भारतेन्दु-युग का महत्व समझने में मदद मिलती है, उससे हम प्राचीन साहित्य का मूल्याङ्कन करना सीख सकते है। शुक्लजी साहित्य का इतिहास लिखते हुए अपने सिद्धान्त कैसे लागू करते थे, उसकी एक बहुत अच्छी मिसाल उनका भारतेन्दु-युग संबन्धी विवेचन है।

---

# नयी हिन्दी कविता और छायावाद

हिन्दी के कई आलोचको को शुक्लजी से सबसे बड़ी शिकायत यह है कि वह छायावाद के विरोधी थे , शुरू मे यह विरोध ज्यादा कट्टर था, लेकिन बाद मे उन्होने अपनी भूल बहुत कुछ सुधार ली।

शुक्लजी ने अपनी मूल स्थापनाओ मे कोई परिवर्तन नही किया। उनकी पहली स्थापना यह थी कि अगोचर और परोक्ष से प्रेम नही हो सकता, इसलिये वह काव्य का विषय नहीं है। दूसरी स्थापना यह थी कि केवल कला या शैली सँवारने के लिये लाक्षणिकता का बहुत ज्यादा प्रयोग काव्य के लिये हानिकर है और उसका प्रयोगमात्र किसी को रहस्यवादी बनाने के लिये काफी नही है।

शुक्लजी ने छायावाद का विवेचन किस तरह किया है, यह देखने के लिये यह जानना जरूरी है कि उससे पहले की कविता के बारे मे उनकी धारणा क्या थी। उन्होने भारतेन्दु युग की कविता की नयी विषयवस्तु का स्वागत किया। देशभक्ति को इस कविता का मूल स्वर बतलाया। लेकिन भारतेन्दु-युग मे जैसा निबन्धो और नाटको का विकास हुआ, वैसा कविता का नही। देशभक्ति के साथ राजभक्ति का स्वर भी मिला हुआ था। उसके रूप, शैली आदि में भी सरसता की कमी थी। शुक्लजी

उसकी ये सब सीमाएं जानते थे। इसीलिये उन्होंने उस युग के निबन्धों की जिस तरह तारीफ की है, उस तरह कविता की नहीं। अपने इतिहास मे उन्होंने लिखा है कि "काव्य को भी देश की बदलती हुई स्थिति और मनोवृत्ति के मेल में लाने के लिये भारतेन्दु मण्डल ने कुछ प्रयत्न किया।" यह प्रयत्न सीमित था, "वह जनता के हृदय को सामाजिक और राजनीतिक स्थिति की ओर "थोड़ा प्रवृत्त करके रह गया।" इस प्रयत्न की सीमाएं ये थीं : उसमें न तो संकल्प की दृढ़ता थी और न न्याय के आग्रह का जोश था, न उलटफेर की प्रबल कामना का वेग। स्वदेश-प्रेम व्यंजित करने वाला वह स्वर अवसाद और खिन्नता का स्वर था, आवेश और उत्साह का नहीं। उसमें अतीत के गौरव का स्मरण और वर्तमान ह्रास का वेदनापूर्ण अनुभव ही स्पष्ट था।" इसलिये देश-प्रेम "काव्य भूमि पर पूर्णरूप से प्रतिष्ठित न हो सका।"

भारतेन्दु युग के काव्य की ये सीमाएं बहुत कुछ ठीक है। इनका एक कारण यह है कि कविता मे जिस तरह रीतिकालीन परम्परा जमी हुई थी, उस तरह गद्य मे नहीं। इसलिये भारतेन्दु युग की क्रान्तिकारी चेतना सबसे अच्छी तरह निबन्धों मे प्रकट हुई है। लेकिन भारतेन्दु युग की कविता न तो नायिकाभेद तक सीमित है, न देशभक्ति तक। उसमे मानव-जीवन के और बहुत से पहलुओ का भी समावेश है। इसके सिवा उस युग मे बहुत सी व्यंग्यपूर्ण रचनाएं भी की गईं जिनमें उस युग की विशेषता, उनकी जिन्दादिली, पूरी तरह झलकती है। बहुत सी कविताएं जनगीतो के आधार पर और उन्ही की रीति पर भी लिखी गईं; इससे साहित्य के दूसरे अङ्गों की तरह कविता भी जनसंस्कृति के बहुत नजदीक आगई। फिर भी शुक्लजी ने जिस मांग की ओर संकेत किया है—यानी कविता मे संकल्प की दृढ़ता हो, अवसाद और खिन्नता के बदले आवेश और उत्साह हो, वेदना के बदले न्याय के आग्रह का जोश हो—वह बिल्कुल सही है।

नयी कविता के तीसरे उत्थान से भारतेन्दु युग की तुलना करते हुए

शुक्लजी ने अँगरेजो के प्रति कृतज्ञता का भाव, देशभक्ति मे राजभक्ति का स्वर मिलने, दयामय भगवान को पुकारने, देशवासियो को कोसने आदि सीमाओ का ज़िक्र किया है। "सरकार पर रोष या असंतोष की व्यंजना उनमे नहीं मिलती।" यह बात आंशिक रूप से सत्य है। रोष और असन्तोष की व्यंजना हो, यह मांग सही है।

भारतेन्दु युग की कविता मे उग्र राजनीतिक चेतना के अभाव का कारण शुक्लजी ने उस समय के कमजोर राजनीतिक आन्दोलन को ठहराया है। लिखा है: "बात यह थी कि राजनीति की लम्बी-चौड़ी चर्चा भर साल मे एकबार धूमधाम के साथ थोड़े से शिक्षित बड़े आदमियो के बीच हो जाया करती थी और क्रियोत्पादक प्रभाव नहीं देखने मे आता था।" शुक्लजी ने यह बात भारतेन्दु युग ही नहीं, द्विवेदी युग के लिये भी कही है। उनकी आलोचना—सुधारवादी राजनीतिक आन्दोलन की आलोचना—बहुत सही है। लेकिन देश का राजनीतिक आन्दोलन थोड़े से शिक्षित बड़े आदमियो की चर्चा तक सीमित न था, उसके बाहर भी अनेक रूपो मे जनता अँगरेजो से लड़ रही थी; इसके सिवा भारतेन्दु युग के बहुत से विचारक कांग्रेसी विचारधारा से बहुत आगे बढ़े हुए थे। उनकी राजनीतिक चेतना उस समय की ही कांग्रेसी विचारधारा से आगे बढ़ी हुई न थी, सन् २० की कांग्रेस की विचारधारा से भी आगे थी। बालकृष्ण भट्ट ने कांग्रेस के जन्म को अँगरेजी राज के लिये लाभदायी बतलाया था और क्रान्तिकारियों की खुली प्रशंसा करने पर जब उनसे जवाब तलब किया गया, तब उन्होंने नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया था। भारतेन्दु ने अँगरेजी शिक्षा का रहस्य प्रकट किया था, उद्योग-धन्धो की शिक्षा की मांग की थी, स्वदेशी के व्यवहार का आन्दोलन किया था और देश मे कल-कारखाने खोलने पर जोर दिया था। अनेक लेखको ने अँगरेजो के साम्राज्यवादी युद्धो का तीव्र विरोध किया था, अकाल, महामारी और टैक्सो को अँगरेजी राज की न्यामतें कहकर अपना घोर असंतोष प्रकट किया था।

शुक्ल जी को द्विवेदी युग की कविता से भी संतोष नहीं था।

राजनीतिक आन्दोलन थोड़े ही शिक्षित बड़े आदमियों तक सीमित था, इसलिये "द्विवेदीकाल की देशभक्ति-सम्बन्धी रचनाओं में शासन-पद्धति के प्रति असंतोष तो व्यंजित होता था पर कर्म मे तत्पर करने वाला जोश और उत्साह न था। आन्दोलन भी कड़ी याचना के आगे नहीं बढ़े थे।" शुक्लजी का कहना है कि याचना करने वाली राजनीति से उत्साहपूर्ण साहित्य की सृष्टि नहीं होती। यद्यपि उन्होने एकाध जगह कवियो को आन्दोलनो तक सीमित रहने और उन्हीं के पीछे चलने के प्रति सावधान किया है, फिर भी यह बात साफ है कि वह साहित्य के लिये जन-आन्दोलनों का प्रभाव अच्छा समझते थे। उन्होने सन् बीस से पहले की हिन्दी कविता की जो कमजोरियाँ बतलाई है, उनका कारण सामाजिक जीवन मे ढूंढा है, उनका कारण राजनीतिक आन्दोलन की कमजोरियाँ बतलाई हैं।

द्विवेदी-युग के बाद परिस्थिति कैसे बदल गयी, इस पर शुक्लजी ने एक बहुत ही सारगर्भित और प्रभावशाली पैरा लिखा है। साहित्य के सामाजिक आधार का विवेचन करने के लिये इसे हम आदर्शरूप मे ले सकते है। शुक्लजी ने लिखा है : "आंदोलनो ने सक्रियरूप धारण किया और गांव-गांव राजनीतिक और आर्थिक परतंत्रता के विरोध की भावना जगाई गई। सरकार से कुछ मांगने के स्थान पर अब कवियो की वाणी देशवासियो को ही स्वतंत्रतादेवी की वेदी पर बलिदान होने को प्रोत्साहित करने में लगी।" इस तरह शुक्लजी ने इस बात का सामाजिक आधार बतलाया कि जो देशप्रेम भारतेन्दुकाल मे काव्य का विषय बना, वह क्यों "उत्तरोत्तर प्रबल और व्यापक रूप धारण करता आया।" यह समझना भूल होगी कि शुक्लजी साहित्य मे देशभक्ति के विरोधी थे और उसका व्यापक होना उन्हे अखर रहा था। ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है ; इसके विपरीत पहले की कविता मे उन्होंने जो कमजोरियाँ बतलाई थीं, उन्हें देखकर हम कह सकते है कि उनकी सहानुभूति इन जन-आन्दोलनों के साथ थी और साहित्य मे वह उनका प्रभाव अच्छा समझते थे।

नये राजनीतिक आन्दोलन की दो विशेषताओं पर शुक्लजी ने जोर दिया है। एक तो यह कि "अब जो आन्दोलन चले वे सामान्य जन-समुदाय को भी साथ लेकर चले।" दूसरी यह—और शुक्लजी के शब्दो मे "सबसे बड़ी बात यह हुई कि"—"ये आन्दोलन संसार के और भागो मे चलने वाले आन्दोलनो के मेल मे लाए गए, जिससे ये क्षोभ की एक सार्वभौम धारा की शाखाओं से प्रतीत हुए।" शुक्लजी देश के स्वाधीनता-आन्दोलन का अन्तरराष्ट्रीय रूप समझते थे, उसे दूसरे देशो के स्वाधीनता-आन्दोलन का साथी समझते थे, उन आन्दोलनो से अपने आन्दोलन का मेल मे आना वह "बड़ी बात' समझते थे, यह सब स्वीकार करना होगा और यह भी मानना होगा कि इस तरह का विश्लेषण हिन्दी के और आलोचको ने—कम से कम शुक्लजी के समकालीन आलोचको ने—नहीं किया।

जन-समुदाय को लेकर चलने से आन्दोलनो मे गहराई आती है। "इससे उनके भीतर अधिक आवेश और बल का संचार हुआ।" आवेश और बल का स्रोत है जनता। उसे छोड़कर चलने वाले आन्दोलन थोड़े से शिक्षित बड़े आदमियो के आन्दोलन होते है और उनमे न आवेश होता है, न बल।

हिन्दुस्तान का नया स्वाधीनता-आंदोलन रूस की समाजवादी क्रांति के बाद चला था। इस क्रान्ति ने साम्राज्यवाद का विश्व-प्रभुत्व तोड़ दिया था, अपने यहाँ सामन्ती और पूंजीवादी शोषण मिटा दिया था। इसलिये हमारे यहाँ के स्वाधीनता-आन्दोलन पर समाजवादी विचार-धारा की भी छाप पड़ी। योरप मे "लोक की घोर आर्थिक विषमता" से जो असंतोष पैदा हुआ, उसके बारे मे शुक्लजी ने लिखा है: "दूसरे देशो का धन खींचने के लिये योरप मे महायंत्र-प्रवर्तन का जो क्रम चला उससे पूंजी लगाने वाले थोड़े से लोगो के पास तो अपार धनराशि इकट्ठी होने लगी पर अधिकांश श्रमजीवी जनता के लिये भोजन-वस्त्र मिलना भी कठिन होगया।" इस एक वाक्य मे शुक्लजी ने यूरोप के पूंजीवाद का बहुत अच्छा विश्लेषण किया है। एक ओर तो अपार

धनराशि का इकट्ठा होना, दूसरी ओर श्रमजीवी जनता के लिये भोजन-वस्त्र पाने में भी कठिनाई—यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

इस पूंजीवाद की दो प्रतिक्रियाएं हुईं। "एक ओर तो योरप में मशीनों की सभ्यता के विरुद्ध टॉल्स्टॉय की धर्मबुद्धि जगाने वाली वाणी सुनाई पड़ी जिसका भारतीय अनुवाद गांधीजी ने किया।" हम पहले देख चुके हैं कि शुक्लजी तोल्स्तोयपंथ को व्यक्तिगत साधना मानते थे, उसे मनुष्य के सामूहिक प्रयत्नों के विरुद्ध समझते थे। यहाँ उन्होंने गांधीवाद का सम्बन्ध बहुत साफ-साफ तोल्स्तोयमत के साथ जोड़ दिया है। दूसरी प्रतिक्रिया यह हुई कि धर्मबुद्धि जगाने के बदले जनता ने क्रान्तिकारी संघर्ष का रास्ता अपनाया। "दूसरी ओर इस घोर आर्थिक विषमता की प्रतिक्रिया के रूप में साम्यवाद और समाजवाद नामक सिद्धांत चले जिन्होंने रूस में अत्यन्त उग्र रूप धारण करके भारी उलटफेर कर दिया।"

यहां शुक्लजी ने रूस में होने वाले उलटफेर का वैज्ञानिक कारण बतलाया है। उस उलटफेर का कारण घोर आर्थिक विषमता थी, वह उलटफेर उस घोर आर्थिक विषमता की प्रतिक्रिया थी। उसका कारण ईर्ष्याद्वेष का भड़काया जाना न था।

वर्तमान समय में किसी जाति या संस्कृत का दुनिया से एक दम अलग रहना असंभव हो गया है। जातियाँ एक दूसरे के संपर्क में आती हैं, एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। इससे उनकी जातीयता नष्ट नहीं होती वरन् उसे विकसित होने का और मौका मिलता है। शुक्लजी ने लिखा है: "अब संसार के प्रायः सारे सभ्य भाग एक दूसरे के लिये खुले हुए हैं। इससे एक भूखंड में उठी हुई हवाएं दूसरे भूखंड में शिक्षित वर्गों तक तो अवश्य ही पहुँच जाती हैं। यदि उनका सामंजस्य दूसरे भूखंड की परिस्थिति के साथ हो जाता है तो उस परिस्थिति के अनुरूप शक्तिशाली आन्दोलन चल पड़ते हैं। इस नियम के अनुसार शोषक साम्राज्यवाद के विरुद्ध राज-नीतिक आन्दोलन के अतिरिक्त यहाँ भी किसान आन्दोलन, मजदूर-आन्दोलन, अछूत-आन्दोलन इत्यादि कई आन्दोलन एक

विराट् परिवर्तनवाद के नाना व्यावहारिक अंगो के रूप मे चले।" भारत के सामाजिक आन्दोलन यही की परिस्थितियो की उपज थे; फिर भी दूसरे देशो के आन्दोलनों का प्रभाव उन पर पड़ा, इस प्रभाव से वे सशक्त हुए। इस तरह का प्रभाव अहितकर नहीं, हितकर हुआ। शुक्ल जी ने जिस नियम की ओर संकेत किया है, वह अंतरराष्ट्रीयतावाद का नियम है। साम्राज्यवादियो के विश्ववाद (कॉस्मोपॉलिटनिज्म) से उसका कोई संबन्ध नहीं है। विश्ववाद देशो और जातियों के परस्पर आदान-प्रदान का सिद्धान्त नहीं है; वह एक जाति की स्वाधीनता और संस्कृति कुचल कर उसे साम्राज्यवादी प्रभाव-क्षेत्र मे लाने का सिद्धान्त है। वह किसान-आन्दोलन या मजदूर-आन्दोलन जैसी चीजों को बढ़ावा देना दूर, उन्हें अपना जानी दुश्मन समझता है।

शुक्लजी ने भारत के किसान-मजदूर-आन्दोलनो का उल्लेख किया, नयी हिन्दी कविता मे उनके प्रभाव का उल्लेख किया। लेकिन उस समय इन आन्दोलनो की शुरूआत हुई थी। हिन्दीभाषी प्रदेश मे अक्सर इनके अगुआ कांग्रेसी नेता ही होते थे। उस समय के अनेक कवियों ने ताण्डव, प्रलय, ध्वंस आदि को लेकर शब्दो का बवंडर खड़ा किया लेकिन उनकी कविता में गहराई न थी। शुक्लजी के सामने क्रान्तिकारी कवियो के रूप मे बहुधा दिनकर, नवीन आदि आते थे जो उस समय काफी हुङ्कार-टङ्कार करने के बाद अब शरीफ दुनियादारों की तरह अपने धंधे से लगे हुए है। इसलिये कोई आश्चर्य नही यदि इनके बारे मे शुक्लजी ने लिखा: " 'क्रान्ति' के नाम से परिवर्तन की प्रबल कामना हमारे हिन्दी काव्य-क्षेत्र मे पूरी पदावली के साथ व्यक्त की गई।" उन्होंने परिवर्तन ही परिवर्तन की पुकार के वास्तविक होने, उसके हृदय की पुकार होने मे सन्देह प्रकट किया। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि शुक्लजी क्रान्ति-विरोधी थे जैसे हुङ्कार-टङ्कारवाद से यह सिद्ध नही होता कि उसके कवि क्रान्तिकारी थे।

यहां पर भारतीय समाज के वर्ग-संबन्धो पर शुक्लजी की मान्यताएं विचारणीय हैं। कुछ लोग इन मान्यताओं को प्रगतिविरोधी मानते है।

उनका हवाला देकर वे शुक्लजी के विचारो मे असंगतियो पर जोर देना आवश्यक समझते है। अँगरेजी राज, व्यापारी, जमींदार और किसान वर्गों के बारे मे शुक्लजी का कहना है : "राजकर्मचारियों का इतना बड़ा चक्र ग्रामवासियो के सिर पर ही चला करता है, व्यापारियो का वर्ग उससे प्रायः बचा रहता है। भूमि ही यहाँ सरकारी आय का प्रधान उद्गम बना दी गई है। व्यापार श्रेणियो को यह सुभीता विदेशी व्यापार को फलता-फूलता रखने के लिये दिया गया था, जिससे उनकी दशा उन्नत होती आई और भूमि से सम्बन्ध रखने वाले सब वर्गों की—क्या जमींदार, क्या किसान, क्या मजदूर—गिरती गई।"

यहाँ शुक्लजी ने राजकर्मचारियों के विशाल चक्र की बात कही है जो गाँववालो के सिर पर चला करता है। इस चक्र से उन्होंने गाँववालों को तबाह होते कहा है। वह इस चक्र के विरुद्ध हैं, उससे गाँववालों की मुक्ति चाहते है; इसका अर्थ यह है कि उनका दृष्टिकोण सबसे पहले साम्राज्य-विरोधी है। उसके प्रगति-विरोधी होने का यहाँ सवाल नहीं उठता।

इस चक्र के सहायक कौन है? सहायकों मे वे व्यापारी है जिन्हें अँगरेजों से सुविधाएं मिली हुई हैं, जिनकी पूंजी विदेशी राज के सहारे फलती-फूलती है। इस तरह का वर्ग—अँगरेजों की दलाली पर जीने वाला व्यापारी वर्ग यहाँ रहा है—यह कौन नहीं जानता? शुक्लजी ने इसी वर्ग को विदेशी चक्र के नीचे प्रायः बचते हुए और फलते-फूलते हुए बतलाया है। यह वर्ग साम्राज्य-विरोधी मोर्चे मे नहीं आता। इसके साथ यह और कहना चाहिये कि भारत मे व्यापारियो और उद्योगपतियों का एक और दल रहा है जिसे साम्राज्यवादियों से सुविधाएं नहीं मिलती रहीं, जो साम्राज्यवाद का दबाव ज्यादा सहता रहा है और इसलिये जिसे देश की आजादी से कमोबेश दिलचस्पी रही है।

लेकिन साम्राज्यवाद का एक सहारा यहां का समंतवाद भी रहा है। शुक्लजी ने जमींदारों को किसानों और मजदूरो के साथ रख दिया है। इससे क्या उनका जमींदार-प्रेम नहीं प्रकट होता? कुछ मित्रो ने शुक्लजी

के वाक्यो से यह नतीजा निकाला है कि इनमे उनका जमींदार-प्रेम प्रकट होता है।

शुक्लजी ने बड़े सामन्तो और छोटे या साधारण जमींदारो मे भेद किया है। जिन जमींदारो को उन्होने राजकर्मचारियो के चक्र और मुनाफाखोरों के जाल से तबाह होते देखा है, वे बहुत ही साधारण दर्जे के जमींदार है। खासतौर से अवध के गाँवो मे दो-दो पाई और ठेढ़-डेढ़ पैसे के हिस्सेदार इन जमींदारो की बहुत बड़ी तादाद है। इनकी स्थिति खाते-पीते किसानो की सी थी या कभी-कभी उससे भी गिरी हुई थी। शुक्लजी ने लिखा है: "नगर के मजदूर तक पान-बीड़ी के साथ सिनेमा देखते है, गाँव के जमींदार और किसान कष्ट से किसी प्रकार दिन काटते है।" शुक्लजी ने यह सच लिखा है या झूठ? गांवो में दर-असल ऐसे "जमींदार" है या उनके प्रति सहानुभूति पैदा करने के लिये उन्होने ऐसा लिख दिया है? शुक्लजी ने बिल्कुल ठीक लिखा है। जो लोग इलाहाबाद के बंगलो से बाहर निकलकर अवध के गांवों मे घूमे होगे, उन्हे हकीकत का पता होगा। मैं ऐसे काफी "जमींदारो" को जानता हूँ जिनका गुजारा खेती से न चल पाता था (यह अब की बात नहीं, आज से तीस साल पहले की है) और जिन्हे मजबूर होकर शहर मे किसी की चपरासगीरी करनी पड़ी या छोटी मोटी नौकरियो के लिये घरबार छोड़ना पड़ा।

इसलिये जमींदार शब्द से ही चौंककर शुक्लजी पर खफा होने की जरूरत नहीं। जमींदारो मे वर्गभेद करते हुए उन्होने लिखा है: "जमींदारो के अंतर्गत हमे ९८ प्रतिशत साधारण जमींदारो को लेना चाहिये, २ प्रति-शत बड़े-बड़े तअल्लुकेदारो को नहीं। किसान और जमींदार एक ओर तो सरकार की भूमि-कर-सम्बन्धी नीति से पिसते चले आ रहे है, दूसरी ओर उन्हें भूखो मारने वाले नगरो के व्यापारी हैं जो इतने घोर श्रम से पैदा की हुई भूमि की उपज का भाव अपने लाभ की दृष्टि से घटाते-बढ़ाते रहते हैं।"

बीसवीं सदी मे, और खासतौर से पहले महायुद्ध के बाद, महाजनों

और मुनाफाखोरो ने गांवो पर धावा बोला था। भारत मे जमींदारी प्रथा की एक यह विशेषता हो गयी कि जमींदार अपनी जमीन से गैर-हाजिर रहे। गैरहाजिर जमींदारो की तादाद बराबर बढ़ती गई थी। रजनी पामदत्त ने अपनी पुस्तक "आज का भारत" मे खेती के सङ्कट का विवेचन करते हुए बतलाया है कि उद्योग-धन्धो मे पूंजी लगाने की सम्भावनाएं न होने पर बड़े-छोटे महाजन जमीन मे पूंजी लगाते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि जमीन पर काम करने वाले जमींदारो की तादाद कम होती गई और गैरहाजिर महाजन-जमींदारो की तादाद बढ़ती गई। भारतीय समाज का हर विद्यार्थी इस प्रक्रिया को समझता है। शुक्लजी ने जो साधारण जमींदारो को व्यापारियो और अँगरेजी शासको से तबाह होते दिखलाया है—और इन तबाह होने वालो से मुट्ठी भर ताल्लुकदारो को अलग किया है—वह वस्तुस्थिति का सही वर्णन है। इससे उनकी यही इच्छा साबित होती है कि साम्राज्यवाद से पीड़ित सभी वर्ग उसका विरोध करे, न कि यह कि साम्राज्यवाद को यहाँ कायम रहने दिया जाय। उपनिवेशो और पराधीन देशो मे जमींदार-वर्ग का एक भाग साम्राज्य-विरोधी संग्राम मे हिस्सा ले सकता है, यह चीन के स्वाधीनता-संग्राम से सिद्ध होता है। जिस समय चीनी जनता जापान के खिलाफ लड़ रही थी, उस समय माओ त्से तुंग ने जो संयुक्त मोर्चा बनाया था, उसमे बहुत से जमींदार भी शामिल थे। इसलिये शुक्लजी ने साधारण जमींदारो के बारे मे जो कुछ कहा है उससे यह साबित नहीं होता कि वे सामन्तवर्ग के समर्थक थे।

शुरू के अध्याय मे हमने देखा है कि शुक्लजी का दार्शनिक दृष्टिकोण मूलतः वस्तुवादी है लेकिन संगत रूप से वस्तुवादी नहीं है, उसमें असंगतियाँ भी है। यही बात उनके साम्राज्य-विरोधी दृष्टिकोण के बारे मे भी सही है। वह साम्राज्यवाद का विरोध करना चाहते थे, उसके लुटेरे रूप को समझते थे, यह सही है। लेकिन इस सिलसिले मे अलग-अलग वर्गों की भूमिका उनके सामने स्पष्ट न थी। उनके सामने यह स्पष्ट न था कि साम्राज्यवादी जहाँ एक ओर यहाँ के कुछ पूंजीपतियो को सुविधाएं देते

है, वहाँ सबसे ज्यादा भरोसा यहाँ के बड़े-बड़े सामन्तो का करते है, इनकी मदद से हिन्दू-मुसलमानो मे फूट डालते है, अपने सबसे बड़े शत्रु किसान-मजदूर आन्दोलन को भरसक दबाते है, अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र मे अपने विरोधी सोवियत संघ के खिलाफ झूठा प्रचार करते है। ये बातें स्पष्ट न होने से शुक्लजी सोवियत संघ के खिलाफ झूठे प्रचार का खुद शिकार हुए, हिन्दू-मुस्लिम एकता का सुसंगत समर्थन करने के बदले वह कहीं-कही भाषा और साहित्य का विकास केवल हिन्दुओ और मुसलमानो से जोड़ने लगे, मजदूर-आन्दोलन की क्रान्तिकारी भूमिका समझने के बदले उसे शंका की दृष्टि से देखने लगे।

मजदूर-आन्दोलन के बारे मे उन्होने लिखा है : "योरप मे जब देश के देश बड़े-बड़े कल-कारखानों से भर गए है और जनता का बहुत सा भाग उनमे लग गया है तब मजदूर आंदोलन की नौबत आई। यहाँ अभी कल-कारखाने केवल चल खड़े हुए हैं और उनमे काम करने वाले थोड़े से मजदूरो की दशा खेत मे काम करने वाले करोड़ो अच्छे-अच्छे किसानो से कहीं अच्छी है। पर मजदूर आन्दोलन साथ लग गया।" भारत का मजदूर आन्दोलन एक ओर पूंजीपतियो के शोषण से अपनी रक्षा करने के लिये लड़ा है, दूसरी ओर वह और भी आगे बढ़-कर साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ा है। भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन में मजदूर वर्ग का एक शानदार इतिहास है। यह सही है कि यहाँ के मजदूर-आन्दोलन का मुख्य विरोध साम्राज्यवाद से रहा है न कि देशी पूंजीवाद से और इसलिये वह यूरोप के मजदूर-आन्दोलनों का अन्धानु-करण नही कर सकता। लेकिन कल-कारखाने खुलेंगे तो मजदूर-आंदोलन साथ लगेगा ही और यह देश की स्वाधीनता के लिये शुभ है, अशुभ नहीं। शुक्लजी के सामने मजदूरवर्ग की क्रान्तिकारी भूमिका स्पष्ट न थी, इसीलिये उन्होने शङ्का प्रकट की है।

ये सब शुक्लजी के युग की सीमाएं थीं, एक हद तक उनकी अपनी सीमाएं थी। आज के बहुत से लेखक वे सीमाएं तो अपनाये हुए हैं लेकिन शुक्लजी की मूलतः प्रगतिशील विचारधारा को पीछे छोड़ चुके

है। जहाँ शुक्लजी अपने युग के साथ थे, बहुत जगह उससे आगे बढ़े हुए भी थे, वहाँ उनके विरोधी या उनसे उदासीन और तटस्थ रहने वाले खुद अपने युग से कोसो पीछे है। शुक्लजी से अपना यह भेद याद करके ही उन्हे शुक्लजी की असंगतियो पर कलम उठानी चाहिये।

शुक्लजी ने छायावाद का विरोध किया, इसके पीछे भी यथार्थ मानव-जीवन से उनका प्रेम था। वह साहित्य को परोक्ष-चिन्तन, रहस्यवाद, अटपटी और दुरूह शैली से बचाना चाहते थे, भाग्यवाद, निराशावाद और पच्छिमी कविता के पतनशील रुझानो से हिन्दी साहित्य की जातीय परम्परा की रक्षा करना चाहते थे। जहाँ छायावादी कवि रहस्यवाद और निराशावाद से बचकर यथार्थ जीवन का चित्रण कर सके हैं, वहाँ शुक्लजी ने बराबर उन्हें सराहा है, जहाँ वे इन गलत रुझानों से प्रभावित हुए है, वहाँ बराबर उनका विरोध किया है, अपने इतिहास के अन्तिम संस्करण मे यह विरोध कायम रखा है।

छायावाद के विरोध की चर्चा करते हुए यह न भूलना चाहिये कि उन्होंने छायावाद से पहले की कविता मे भी काफी दोष दिखलाये है। अपने इतिहास मे उन्होने हिन्दी के पद्यात्मक निबन्ध का जिक्र किया है जो पहले उत्थानकाल में तो "बहुत कुछ भाव प्रधान" रहे लेकिन "आगे चलकर शुष्क और इतिवृत्तात्मक (Matter of fact)" होने लगे। यदि शुक्लजी का दृष्टिकोण उथले नैतिकतावादियो का होता तो वे उन भावशून्य पद्यों की तारीफ करते। उन्होंने ऐसा नही किया क्योकि वह उन निबन्धो का भावप्रधान होना जरूरी समझते है। हिन्दी कविता पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रभाव को उन्होने हमेशा अच्छा नही पाया। हिन्दी के अपने छन्दो के बदले संस्कृत वृत्तो का प्रयोग बहुत कुछ उनके प्रभाव से हुआ। संस्कृत छन्दों के साथ "संस्कृत पदावली का समावेश बढ़ने लगा।" सरस्वती मे जिस तरह की कविताएं छपती रही—या ज्यादा छपती रहीं—उनसे "इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) पद्यों का खड़ी बोली मे ढेर लगने लगा।" स्वयं द्विवेदी जी की कविता की भाषा "बहुत अधिक गद्यवत्" होगई। जैसी भाषा, वैसे भाव-विचार।

"उनकी अधिकतर कविताएं इतिवृत्तात्मक ( Matter of fact ) हो गईं।' शुक्लजी किस तरह की कविता पसन्द करते थे, उसमें किस तरह का कलात्मक सौन्दर्य आवश्यक समझते थे, यह उनके इस वाक्य से स्पष्ट है : "उनमें [ यानी द्विवेदी जी की कविताओं में ] वह लाक्षणिकता, वह चित्रमयी भावना और वह वक्रता बहुत कम आ पाई जो रस-संचार की गति को तीव्र और मन को आकर्षित करती है।" काव्य में लाक्षणिकता, वक्रता और चित्रमयी भावना जरूरी हैं लेकिन किस लिये? रस-संचार की गति को तीव्र करने के लिये, केवल चमत्कार-प्रदर्शन के लिये नहीं। शुक्लजी रीतिकालीन चमत्कारवाद के प्रेमी नहीं, वह द्विवेदी जी के तथ्यवाद के हिमायती नहीं, वह छायावादियों की अतिशय लाक्षणिकता के भी समर्थक नहीं। उनका दृष्टिकोण इन सबकी अपेक्षा ज्यादा संतुलित है क्योंकि उनके कलात्मक विवेचन का आधार वाल्मीकि, भवभूति और तुलसी की कविता है।

"भारत-भारती" और "सरस्वती" में प्रकाशित अधिकांश कविताओं के बारे में उन्होंने फिर लिखा है : "ये रचनाएं काव्यप्रेमियों को कुछ गद्यवत्, रूखी और इतिवृत्तात्मक लगती थी।" यह रुझान छायावाद के प्रसार के समय काफी कमजोर पड़ गया था। उसके बदले एक दूसरा रुझान आया जो अतिलाक्षिणकता पर जोर देता था। शुक्लजी चाहते थे कि साहित्य में रोमांटिक कविता या स्वच्छन्दतावाद का प्रसार हो लेकिन यह धारा स्वाभाविक हो, विषयवस्तु में रहस्यवाद और रूप में अटपटापन लिये हुए न हो। दूसरे उत्थान की कविता का विवेचन करते हुए उन्होंने "नैसर्गिक स्वच्छंदता" की मांग की है, अंग्रेजी रोमांटिक कविता ने साहित्य में जो पहले-पहल परिवर्तन किये, उनके "मूल प्राकृतिक आधार" का उल्लेख किया है। वह सच्ची रोमांटिक कविता के लिये लोकगीतों को आधार बनाना जरूरी समझते थे। उन्होंने स्कॉटलैंड के कवि बर्न्स की बड़ी प्रशंसा की है जिसने लोकगीतों के आधार पर ऐसी रचनाएं कीं जो समाज में खूब पसंद की गईं। अंग्रेज कवि कूपर ने कविता को रूढ़ियों से मुक्त किया लेकिन "स्वच्छंद हो कर जनता के हृदय

मे संचरण करने की शक्ति वह कहां से प्राप्त करे, यह स्काटलैंड के एक किसोनी झोपड़ी मे रहने वाले कवि बर्न्स (Burns) ने ही दिखाया था।" जो आलोचक बर्न्स की कविता पर मुग्ध हो, वह रोमांटिक धारा का विरोधी कैसे हो सकता है? लेकिन बर्न्स उन रोमांटिक कवियो मे न था जो समाज से अलग कल्पना के शीशमहल मे कैद रहते है। वह एक जनवादी कवि था; उसकी रचनाएं जनता के हृदय मे संचरण करती थी। और यह शक्ति उसे जनता से ही मिली थी। सच्ची रोमांटिक धारा जन-जीवन के कितने निकट होती है, इसबारे मे शुक्लजी बर्न्स की मिसाल देते हुए कहते है, "उसने अपने देश के परंपरागत प्रचलित गीतो की मार्मिकता परख कर देश भाषा में रचनाएं की, जिन्होने वहा के सारे जन-समाज के हृदय मे अपना घर कर किया।" हिन्दी के छायावादी कवि बर्न्स से बहुत कम परिचित रहे है। कुछ अपवाद छोड़ कर नयी हिन्दी कविता लोकगीतो के समृद्ध भंडार से अपने को दूर ही रखती आयी है।

शुक्लजी ने श्रीधर पाठक को स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्तक कहा है। श्री रामनरेश त्रिपाठी को उनका अनुवर्ती बतलाया है, इसी तरह मुकुट-धर पांडेय को भी "नूतन, स्वच्छंद मार्ग" पर चलने वाला कवि कहा है। "पल्लव" की "उच्छ्वास", "आँसू", "परिवर्तन" और "बादल" आदि रचनाओ का हवाला देकर शुक्लजी कहते है, "यदि 'छायावाद' के नाम से एक 'वाद' न चल गया होता तो पंत जी स्वच्छंदता के शुद्ध स्वाभाविक मार्ग पर ही चलते।" शुक्लजी जिस स्वच्छंदतावाद के पक्ष मे थे, वह काफी व्यापक धारा थी। वह अपने मे "आँसू" और "उच्छ्वास" जैसी रचनाओ को भी समो लेने मे आगा पीछा न करती थी। तब शुक्लजी विरोध किस बात का करते थे? वह विरोध करते थे रहस्यवाद का, शैली की अति लाक्षणिकता का। आज हम छायावाद को इन दो विशेषताओ के दायरे मे बन्द नही कर देते, उसके ऐतिहासिक विकास और उसकी अन्य विशेषताओ पर भी ध्यान देते है। लेकिन शुक्ल जी के समय में छायावाद एक आन्दोलन था; उसमे प्रसाद-निराला-पंत ही न थे, और भी पचीसों कवि थे, जिनके नाम बहुत कुछ भुलाये जा

चुके हैं। इस आन्दोलन की वे दोनों विशेषताएं लोगो के सामने उभर कर आई थीं जिन पर शुक्लजी ने अपनी निगाह जमाई थी। इसके सिवा खुद छायावादी कवि अपना बड़प्पन रहस्यवादी होने मे समझते थे। प्रसादजी अपने आनन्दवाद और रहस्यवाद को एक ही चीज कहते थे। निराला जी का अद्वैतवाद और उसकी विरोधी धाराएं—मायावाद का खंडन आदि—सब रहस्यवाद कहलाता था। पंत जी दर्शन मे सबसे कच्चे लेकिन छायावाद की कमजोरियो के सबसे अच्छे प्रतिनिधि रहे हैं।

शुक्लजी ने छायावाद को सीमित अर्थ मे लिया है। यह सही नहीं है। किसी आन्दोलन के बारे मे उसके नेता या आलोचक क्या कहते है, इसीसे उसकी विशेषताएं नहीं परखी जा सकती। छायावाद के नेता कुछ भी कहते रहे हो, उसकी जो भी व्याख्याएं की जाती रही हों, महत्व की बात यह है कि छायावादी कवि लिखते क्या है, उनके साहित्य की मूल पूँजी क्या है, उसे उन्होने किस रूप मे जनता के सामने रखा है, इत्यादि। शुक्लजी ने इस तरह छायावाद का ऐतिहासिक विवेचन नहीं किया लेकिन उसकी जिन विशेषताओं पर उन्होंने आक्रमण किया है, वे विशेषताएं कल्पित नहीं वास्तविक थी, यह मानना होगा और उनका यह आक्रमण सही था, यह भी मान लेने से ही कल्याण होगा।

शुक्लजी ने नयी कविता के लिये जो सबसे घातक विचारधारा समझी है, वह रहस्यवाद की है। "रहस्यात्मक कविताओं का कलरव" सुनकर श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी "कुछ गीत रहस्यवादियो के स्वर मे" गाए। उनके "साकेत" मे "नई रंगत की वेदना" उसी प्रभाव के कारण है। रवीन्द्रनाथ की कविताओ मे "अधिकतर पाश्चात्य ढांचे का रहस्यवाद" था। इसका प्रभाव हिन्दी कवियो पर भी पड़ा और जिस रास्ते पर वे चले, "वह अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं था।" रहस्यवाद से काव्य की विषयवस्तु संकुचित हुई। "असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति अत्यंत चित्रमयी भाषा मे अनेक प्रकार के प्रेमोद्गारो तक ही काव्य की गति-विधि प्रायः बँध गई।" रहस्यवादी कविता का प्रचलित भाव-व्यापार—"हृत्तंत्री की झंकार, नीरव संदेश, अभिसार, अनन्त-प्रतीक्षा,

प्रियतम का दबे पांव आना"—शुक्लजी को वैसे ही कृत्रिम लगता है जैसे दरबारी कवियो का नायिकाभेदी संसार। वेदना का यह "प्रकांड प्रदर्शन" शुक्लजी को असह्य था।

उपनिषदो से लेकर योगमार्ग तक का हवाला देकर रहस्यवाद को भारतीय साबित करने वाली दलीलो से शुक्लजी को संतोष नही होता। वह उसे विदेशी चीज कहते है, रहस्यवादियों पर अभारतीय होने का दोष लगाते है। योग, तंत्र आदि मे रहस्यवाद को वह साधनात्मक मानते है, "प्रकृत भावभूमि" का मार्ग नही। कोई उपनिषदो मे रहस्यवाद सिद्ध ही कर दे तो शुक्लजी उसे यह जवाब देते हैं: "संहिताओ और उपनिषदों को कभी किसी ने काव्य नही कहा।" वाल्मीकि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक किसी कवि ने अज्ञेय और अव्यक्त को प्रियतम बनाया हो तो उसकी साखी मानी जा सकती है।

"काव्य मे रहस्यवाद" नाम के प्रसिद्ध निबंध मे शुक्लजी ने रहस्यवाद पर विस्तार से सैद्धांतिक विवेचन करते हुए हल्ला बोला है। शुरू मे उन्होने एक नोट दिया है जिसका उद्देश्य शायद निबंध का तीखापन कुछ कम करना है। इसमे वह कहते है कि "मैं 'रहस्यवाद' का विरोधी नही।" उसे कविता की एक "शाखा विशेष" मानने के लिये वह तैयार है लेकिन उसे काव्य का सामान्य रूप मानने के लिये हर्गिज तैयार नहीं है। रहस्यवाद के लिये जो लंबे-चौड़े दावे किये जाते हैं, उन्हे वह "किसी सभ्यजाति के" साहित्य के लिये शोभा की बात नही समझते। यद्यपि उदारता के आवेश मे शुक्लजी ने रहस्यवाद को काव्य की शाखाविशेष मान लिया है लेकिन वास्तव मे उनके लिये रहस्यवाद और असभ्यता मे ज्यादा फासला नही है। रहस्यवादियो को ज्ञान का दावेदार बनते देखकर उन्हे असभ्य और पिछड़ी हुई जातियो के अंधविश्वासों की बराबर याद आ जाती है।

अपने निबंध मे वह रहस्य भावना को रमणीय और मधुर भी कह डालते है, उसे भी कवियो का एक "मूड" मानने को तैयार हो जाते हैं, लेकिन उसे किसी वाद से जोड़ कर "काव्य का सिद्धान्तमार्ग" मानना

उन्हे मंजूर नही है। जहां वाद की बात उठती है, वह रहस्यवाद को साम्प्रदायिक कहने लगते है, हिन्दी के रहस्यवादी कवियो से साम्प्रदायिक क्षेत्र से बाहर निकलकर वह "प्रकृत काव्यभूमि" पर आने का अनुरोध करते है। हिन्दी के नये रहस्यवादियो को पछाड़ने के लिये शुक्लजी जायसी और कबीर के परोक्ष-प्रेम को भी सराहने लगते है, उसे कई जगह अभारतीय कहते हुए यहां उसकी भारतीयता की दाद देते है। मुसलमान प्रेममार्गी कवियो के लिये वह कहते है, "वे सूफी 'रहस्यवाद' को भारतीय रूप देने मे पूर्णतया सफल हुए थे। कबीर आदि निर्गुणपंथियो और जायसी आदि सूफी प्रेम-मार्गियो ने 'रहस्यवाद' की जो व्यंजना की है, वह भारतीय भाव-भंगी और शब्द-भंगी को लेकर।"

किसी भी विचारधारा का विरोध करने के लिये उसे अभारतीय कहना यहां के तर्कशास्त्रियो का खास दाँव है। वह दांव शुक्लजी ने भी लगाया है। जायसी के परोक्षप्रेम को उन्होने अभारतीय कहा, सूर और मीरा तक को अभारतीय सूफी मत से प्रभावित बतलाया, नये रहस्यवादियो का विरोध करने के लिये उन्होने फिर अभारतीयता की दुहाई दी। लेकिन छायावादी कवि यो मानने वाले न थे। उन्होंने उपनिषदो आदि का हवाला देकर रहस्यवाद को भारतीय सिद्ध कर दिया। इस पर शुक्लजी ने पैतरा बदला और रहस्यवाद को साधना की चीज मान लिया लेकिन काव्य की चीज न माना। बहुत संकट मे उन्होने उसे काव्य की शाखाविशेष, कवियो का एक मूड भी स्वीकार कर लिया लेकिन उसे काव्य की प्रकृत भावभूमि न माना। उसे वह साम्प्रदायिक इसलिये भी कहते थे कि उन्होने उसका विशेष सम्बन्ध ईसाई-धर्म और शामी जातियो से जोड़ा था।

शुक्लजी के सामने रहस्यवाद का वर्ग-आधार स्पष्ट न था, इसलिये उसका विरोध करने के लिये उन्हे अभारतीयता के कमजोर तर्क का सहारा लेना पड़ा। उनके सामने मध्यकालीन कवियों आधुनिक पच्छिमी कवियो और भारत के रोमांटिक कवियो के रहस्यवाद का अन्तर भी स्पष्ट न था। इसलिये सब पर उन्होंने एक साथ ही हल्ला बोल दिया था।

मध्यकालीन कवियों का रहस्यवाद-भारत और योरप दोनो जगह-अक्सर जाति-प्रथा, सामन्ती भेदभाव, ऊँचनीच के विचार और पुरोहितों के विरोध के साथ जुड़ा हुआ था। मध्यकालीन रहस्यवाद का संबन्ध मुख्यतः किसानो, कारीगरों, अछूतो आदि से था। लेकिन आधुनिक योरप का रहस्यवाद पूंजीवादी विचारधारा का एक अंग था। उसका उद्देश्य वर्तमान सामाजिक जीवन की विषमताओ के प्रति उदासीन रहकर कल्पना-लोक बसाना था। इस तरह वह साहित्य मे यथार्थवाद का विरोध करने वाली एक प्रतिक्रियावादी विचारधारा बना। आधुनिक भारत मे एक ओर रहस्यवाद का संबन्ध दुःखवाद, निराशावाद, व्यक्तिवाद आदि से रहा है जिनके फलस्वरूप वह साहित्य की यथार्थवादी धारा को कमजोर करता रहा है। इन सब विशेषताओ को भारतीय कह कर यहाँ के पूंजीवाद ने रहस्यवाद को खूब उछाला। दूसरी ओर उसका संबन्ध रूढ़िवाद और कर्मकाण्ड के विरोध से भी रहा है और यहाँ वह मध्यकालीन रहस्यवाद की विशेषताएं लिये हुए है। फिर भी बीसवी सदी मे जन-आन्दोलन की बढ़ती के साथ रहस्यवाद समाज और साहित्य के लिये निरर्थक हो चुका था और यही कारण है कि छायावादी कवियो का सब से कमजोर पहलू उनका रहस्यवाद है।

शुक्लजी ने जहाँ भारतीय-अभारतीय का झगड़ा छोड़ कर सीधे भाववाद (आइडियलिज्म) पर हमला किया है और उसके मुकाबले मे वस्तुवाद (मैटीरियलिज्म) का समर्थन किया है, वहाँ उनका तर्क अकाट्य है और इस युग के लिये सब से मूल्यवान भी है। वह काव्य की अनुभूति को निराली अनुभूति नही मानते। यह अनुभूति प्रत्यक्ष जीवन की ही अनुभूति है, वह काल्पनिक नही वास्तविक अनुभूति है। "काव्यदृष्टि" से यह दृश्य जगत् ब्रह्म की नित्य और अनंत कल्पना है लेकिन यह कल्पना "अनन्त रूपात्मक" है, वह "व्यक्त और गोचर" है, वह "हमारी आंखों के सामने बिछी हुई है"। न तो जगत् परोक्ष है न जगत् का ज्ञान और न उसमे रहने वालों की अनुभूति परोक्ष है। "हमारे हृदय

का सीधा लगाव गोचर जगत् से है।" इसलिये गोचर जगत् छोड़ कर सरस कविता लिखना असंभव है। ज्ञान इसी जगत् का होता है, इन्द्रिय-बोध के आधार पर होता है। जिसे लोग रहस्यज्ञान कहते है, वह शुक्ल जी के लिये ज्ञानातीत है। "काव्य मे रहस्यवाद" मे अँग्रेजी की रहस्य-वादी कविताएँ उद्धृत करने के बाद शुक्लजी ऐलान करते है, "यहाँ पर हम यह स्पष्ट कह देना चाहते है कि उक्त ज्ञानातीत (Transcendental) दशा से—चाहे वह कोई दशा हो या न हो—काव्य का कोई संबन्ध नहीं है।"

युरोप की कविता मे अज्ञात के लिये प्रेम कहां से उमड़ा, इसका विवेचन करते हुए उन्होने सीधे "जर्मन दार्शनिको के 'प्रत्ययवाद' (Idealism)" का खंडन किया है। शुक्लजी संसार की वस्तुगत सत्ता और इसलिये मनुष्य के ज्ञान की भी वस्तुगत सत्ता मानते है। वह "प्रत्ययवाद' या भाववाद का यह दावा मानने के लिये तैयार नहीं है कि मनुष्य को इन्द्रियो द्वारा जिन रूपो का बोध होता है, वे उसके मन के ही रूप है। "कामायनी" की चर्चा करते हुए अपने इतिहास मे शुक्लजी ने लिखा है, "प्रत्येक 'भाव' का प्रथम अवयव विषय-बोध ही होता है।" रहस्यवादियो की स्वप्नदशा भी विषय-बोध से परे नही होती। रहस्यवाद वाले निबंध मे वह कहते है, "भावो के लिये आलंबन आरंभ मे ज्ञाने-न्द्रियां उपस्थित करती है, फिर ज्ञानेन्द्रियां द्वारा प्राप्त सामग्री से कल्पना उनकी योजना करती है।" शुक्लजी के लिये ज्ञानेन्द्रियो से परे ज्ञान की सत्ता नहीं है। इसी गोचर ज्ञान के भीतर ही भाव-प्रसार होता है यद्यपि शुक्लजी गोचर जगत् को ब्रह्म की व्यक्त सत्ता मानते हैं, फिर भी काव्य के लिये वह अगोचर ब्रह्म की जरा भी आवश्यकता नही समझते। यही वह वस्तुवाद की भूमि है जहां से वह रहस्यवाद या भाववाद के झूठे दावो का खंडन करते है।

छायावादी कविता की रहस्यवादी विषयवस्तु के अलावा वह उसके निराशावाद, अबुद्धिवाद, भाग्यवाद आदि का भी खंडन करते हैं। बहुत ज्यादा रोने धोने का संबन्ध अगोचर ब्रह्म की अनुभूति से नहीं है। उसके

ठोस सामाजिक कारण है। यह निराशा वर्तमान समाज मे व्यक्ति के अलगाव, उसके मनोबल की क्षीणता, जन-आन्दोलनो से उसकी दूरी या तटस्थता की सूचक है। यह निराशावाद हिन्दी के मध्यवर्गी कवियों की अपनी विशेषता है। अपने इतिहास मे शुक्लजी छायावाद मे सचाई की कमी बतलाते हुए कहते है, "यदि कोई मृत्यु को केवल जीवन की पूर्वता कहकर प्रबल अभिलाष व्यंजित करे" तो इससे हमारा मनोरंजन हो सकता है, इसमे सचाई न होगी।

छायावाद की कला या उसके रूप पर शुक्लजी को कई आपत्तियाँ हैं पहले तो वह उसे "कला कला के लिये", इस सिद्धांत से प्रभावित देखते हैं, उस पर पच्छिम के प्रतीकवाद का असर देखते है; इसके सिवा रचनाओं मे अन्विति का अभाव—भावो और विचारो मे सम्बद्धता का अभाव—भी उन्हे खटकता है। कल्पना की नयी दुनिया बसाना उन्हे निराधार क्रिया लगती है। कहीं-कही कवियो ने जो उपमानो के ढेर लगा दिये है, व्याकरण का ध्यान नही रखा, लाक्षणिकता का जरूरत से ज्यादा प्रयोग किया है, उसकी उन्होने तीव्र आलोचना की है।

शुक्लजी ने कई जगह छायावाद को शैलीमात्र कहा है। उनका तात्पर्य यह है कि बहुत से कवि सिर्फ लाक्षणिक शैली के सहारे छायावादी बन जाते है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके है, उनका मूल विरोध रहस्यवादी विषयवस्तु से है, परोक्षप्रेम, अगोचर प्रियतम और अनन्त की पुकार से है, शैलीमात्र से नही। यह धारणा सही नही है कि शुक्लजी छायावाद को एक शैली मात्र समझते थे। ऐसा होता तो वे बार-बार रहस्यवाद पर आक्रमण न करते। उनके लिये छायावाद की दो विशेषताएं हैं—विषयवस्तु मे रहस्यवाद और रूप मे अतिलाक्षणिकता। इन का उन्होंने विरोध किया है। विषयवस्तु और रूप, भाव-विचार और कला—दोनो पर बराबर ध्यान देने के कारण ही शुक्लजी ने इन दोनो विशेषताओ का खण्डन किया। यह बात उन्होने इतिहास मे बहुत साफ शब्दो मे लिख दी है: "छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों मे समझाना चाहिये। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्यवस्तु

से होता है……'छायावाद' शब्द का दूसरा प्रयोग काव्य शैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ मे।"

छायावाद को इन दो अर्थों तक सीमित नहीं किया जा सकता। छायावाद हिन्दी साहित्य की रोमांटिक धारा है। वह मूलतः रीतिकालीन परम्परा की विरोधी है। वह एक मानववादी धारा है जिसका एक कमजोर पक्ष रहस्यवाद भी है। आज अनन्त की ओर दौड़ने और अति-लाक्षणिक शैली के व्यहार से हिन्दी के समर्थ कवि बच रहे हैं, यह बात शुक्लजी की आलोचना का समर्थन करती है। हिन्दी कविता का विकास रहस्यवाद के मार्ग पर नहीं हो रहा, न हो सकता है। शुक्ल जी ने हृत्तन्त्री बजानेवालो को कुछ जोर से झकझोर दिया, यह ठीक किया। लेकिन छायावादियो पर वाद विशेष से बँध जाने का दोष लगाते हुए वह स्वयं छायावाद को संकुचित वाद—रहस्यवाद—के अर्थ मे लेते रहे। इसीलिये जब छायावादी कवियो की गैर-रहस्यवादी कविताएं उनके सामने आईं तो उन्हे छायावाद से बाहर की चीज माना। "निराला जी की रचना का क्षेत्र तो पहले से ही कुछ विस्तृत रहा।" इसका अर्थ यह है कि निरालाजी "छायावाद" की संकुचित भावभूमि से बाहर रहे। "जुही की कली" और "शेफालिका" मे "उन्मद प्रणय-चेष्टाओ के पुष्प-चित्र" अगोचर जगत् से प्रेम साबित न करते थे, "इस जगत् के बीच विधवा की विधुर और करुण मूर्ति" रहस्यवाद का प्रमाण न थी। इसी करुणा का सहज विकास करते हुए निरालाजी ने इलाहाबाद के पथ पर "एक पत्थर तोड़ती दीन स्त्री के माथे पर के श्रमसीकर दिखाये।" इस तरह की रचनाएं छायायाद की संकुचित व्याख्या से मेल न खाती थी लेकिन शुक्लजी ने व्याख्या को और विस्तृत करने के बदले इन रचनाओ को ही छायावाद से बाहर की चीज़ समझा।

वाद-विवेचन छोड़ दें तो शुक्लजी ने अलग-अलग कवियो का जो मूल्याङ्कन किया है, वह बहुत कुछ सही ठहराता है। छायावादी कवियों में वह निरालाजी को सबसे बहुमुखी प्रतिभा का कवि मानते थे, यह उनके अनेक वाक्यों से प्रकट होता है। छायावादी कवि अपना कल्पना-

लोक छोड़ कर जहां वास्तविक जगत् की ओर आ रहे थे, उसका स्वागत करते हुए शुक्लजी ने लिखा है, "इसी प्रकार निरालोजी ने, जिनकी वाणी पहले से भी बहुमुखी थी, 'तुलसीदास' के मानस-विकास का बड़ा ही दिव्य और विशाल रंगीन चित्र खींचा है।" उनकी शैली के बारे मे भी लिखा है, "निरालाजी की शैली कुछ अलग रही। उसमें लाक्षणिक वैचित्र्य का उतना आग्रह नही पाया जाता जितना पदावली की तड़क-भड़क और पूरे वाक्य के वैलक्षण्य का।" शुक्लजी के हिसाब से क्या विषयवस्तु मे और क्या काव्य के रूप में निरालाजी सबसे कम छाया-वादी थे। इसका अर्थ यह हुआ कि उनमे रहस्यवादी उड़ान और मर्म-पीड़ा के हास वाली शैली सबसे कम थी, वह हिन्दी साहित्य की यथार्थ-वादी धारा के सबसे निकट थे।

प्रसाद जी के लिये शुक्लजी ने लिखा है कि शारीरिक व्यापारों पर उनकी दृष्टि ज्यादा जमती थी। उनके लिये रहस्यवाद एक पर्दा है जिसके पीछे वास्तविकता है "मधुचर्या" की। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रसादजी सुखसौन्दर्य के कवि है, परोक्षचिन्तन बहाना भर है। "आँसू" में नियति-वाद और दुःखवाद के स्वर है; साथ ही कई जगह "वे आँसू लोकपीड़ा पर करुणा के आँसू से जान पड़ते है।" रहस्यवादी या छायावादी कवियों ने जहां भी लोकजीवन पर लिखा है, शुक्लजी ने उसका कभी तिरस्कार नहीं किया वरन् उसका स्वागत किया है। रवीन्द्रनाथ के बारे मे उन्होने लिखा है, "उनकी रहस्यवाद की वे ही कविताएं रमणीय है जो लोकपक्ष-समन्वित हैं"। (काव्य मे रहस्यवाद)।

प्रसाद जी के "लहर" कवितासंग्रह मे शुक्लजी को यह देख कर सन्तोष हुआ कि उसमे चार पांच रचनाएं ही रहस्यवाद की हैं। उन्हे प्रसन्नता हुई कि "लहर" मे प्रसादजी "वर्तमान और अतीत जीवन की प्रकृत ठोसभूमि पर" कल्पना का चमत्कार दिखाने की ओर बढ़े थे। "कामायनी" में उन्होने आनन्दवाद की प्रतिष्ठा देखी। इसका संवन्ध उन्होने तांत्रिकों और योगियो की "अंतर्भूमि-पद्धति" से जोड़ा है। प्रसादजी न योगवादी थे, न भोगवादी थे। उनका दर्शन संसार को शिव

का प्रत्यक्ष रूप मानता है और कामायनी लोक-कल्याण का प्रतीक है। प्रसादजी का "ज्ञान" योगियों का "ज्ञान" नही है, यह शुक्लजी की इस उक्ति से साबित होता है : "पीछे आया हुआ ज्ञान भी बुद्धिव्यवसायात्मक ज्ञान ही है (योगियो और रहस्यवादियो का पर-ज्ञान नहीं)।" प्रसाद जी ने एक खास तरह के ज्ञान, एक खास तरह के कर्म का विरोध किया है। वह ज्ञान और कर्म का समन्वय चाहते है और समन्वय लोक-कल्याण की भूमि पर होता है। लेकिन शुक्लजी का यह कहना सही है कि प्रसादजी ने कर्ममय जीवन के विशद चित्र नहीं दिये और उसे बहुधा यज्ञो, उद्योगधंधो और शासन-विधानो तक सोमित कर दिया है। शुक्ल जी का विचार है कि कर्म की व्यापक भावना के अंदर "उग्र और प्रचंड भाव भी लोक के मंगल-विधान के अंग हो जाते हैं।" प्रसादजी ने इस पक्ष को कम लिया है, यह बात सही है यद्यपि यह दोष उनके उपन्यासो और अनेक नाटकों मे नहीं है।

शुक्लजी ने पंतजी की रहस्यभावना को स्वाभाविक कहा है, उसे सांप्रदायिक वाद से प्रायः मुक्त बतलाया है। इस तरह प्रसाद-निराला-पंत, तीनो मे रहस्यवाद अपने उस रूप मे प्रकट नहीं हुआ जो शुक्लजी को सबसे ज्यादा अग्राह्य था (और पंतजी तब तक अरविंद-आश्रम न गये थे !)।

"पल्लव" की भूमिका मे पंतजी ने पुरानी कविता पर—सूर आदि संत कवियों की रचना पर भी—जो आक्षेप किये थे, उन्हे शुक्लजी ने प्रतिभा के उत्साह का बहुत बढ़ा-चढ़ा प्रदर्शन कहा है। अंग्रेजी कविता से भाव और प्रयोग लेने का दोष शुक्लजी ने पंतजी पर ही लगाया है, निराला या प्रसाद पर नहीं। आंसुओं को "नयनों का बाल" कहना "केवल चमत्कार और वक्रता के लिये" जान पड़ता है। पंतजी को आगे चल कर जैसे "चिर" शब्द प्रिय हुआ, वैसे ही पहले "बाल" शब्द प्रिय था। "बाल शब्द जोड़ने की प्रवृत्ति बहुत अधिक पाई जाती है।" शब्दों का मनमाने लिंगों मे प्रयोग, "मर्मपीड़ा के हास" जैसे प्रयोगो मे डबल-लक्षणा, उपमानों के ढेर लगाना जहां "बहुत से उपमान पुराने

ढंग के खेलवाड़ के रूप मे भी है", तिमिर चरते हुए शशि-शावक, कवि के उर मे डेरा डालने वाले नक्षत्ररूपी शुचि उलूक—आदि पंत-काव्य की अपनी विशेषताए है। शुक्लजी पूछते है, "पर इतने उल्लू यदि डेरा डालेंगे तो मन की क्या दशा होगी?" यदि शुक्लजी "स्वर्ण किरण" और "स्वर्ण धूलि" पढ़ने को जीवित रहते तो उन्हे अपने प्रश्न का उत्तर मिल जाता।

इन कमजोरियो के बावजूद पंतजी मे जहां सहज रोमांटिक कल्पना मिली है, शुक्लजी ने उसकी दाद दी है। प्रकृति-चित्रण की प्रशंसा विशेष-रूप से की है। लेकिन कलावाद के संस्कार के कारण पंतजी की दृष्टि व्यापक नही हुई, बादल के दर्शन से "तप्त कृषको के आशापूर्ण उल्लास तक" नही गई, इसकी शिकायत भी की है।

पंतजी ने दर्शन और अर्थ शास्त्र के अनेक सूत्रो को पद्यबद्ध किया है—और सदा उनके मूल रूप की रक्षा भी नही कर पाये है—लेकिन उनका असली रूप सौन्दर्यवादी का ही है, उसे वह छोड़ नही पाये। सौन्दर्यवादी का रूप सदा सुन्दर नही होता, वह व्यक्तिवाद और कृत्रि-मता के दायरे मे बन्द रहता है लेकिन पंतजी जब कोशिश करके लोक-जीवन के नजदीक आते है तब भी मानों जुल्फे सँभालते हुए, पतलून की क्रीज का ध्यान रखते हुए। प्रगतिशील विचारधारा से कुछ दिन तक उनकी "बौद्धिक सहानुभूति" का यही रहस्य है। शुक्लजी ने लिखा है, "कलावाद के प्रभाव से जिस सौन्दर्यवाद का चलन योरप के काव्यक्षेत्र के भीतर हुआ, उसका पंतजी पर पूरा प्रभाव रहा है।" यह बात सोलह आने ठीक है। पंतजी के अध्यात्मवाद और सौन्दर्यवाद मे विशेष अन्तर नहीं है। एक आत्मा का शृंगार है तो दूसरा शरीर का। है दोनों शृंगार ही। मनुष्य के कर्ममय जीवन से दोनो दूर है। इस पर भी जहां पंतजी लोकजीवन की ओर कदम उठाते दिखे है, शुक्लजी ने उसका स्वागत ही किया है।

नयी कविता के विवेचन मे शुक्लजी ने द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविता की सीमाएं दिखलाई, संस्कृत छंदो और संस्कृत पदावली के

व्यवहार को अनचाहा प्रभाव कहा, रहस्यवाद का खंडन किया, कविता से निराशावाद, भाग्यवाद, अतिलाक्षणिकता की शैली को दूर करने का आग्रह किया। यद्यपि छायावाद की व्याख्या ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं है और रहस्यवाद को अभारतीय कहने से उसका खंडन नहीं होता, फिर भी शुक्लजी ने छायावादी कवियों की लोकजीवन संबन्धी कविताओं का समर्थन किया, साहित्य में अगोचर के बदले गोचर जगत् पर बल दिया, छायावादी कविता को लोकगीतों की परंपरा से संबन्ध जोड़ते हुए सच्ची रोमांटिक भावभूमि पर आगे बढ़ने का सुझाव दिया। उनका यह विवेचन हिन्दी आलोचना के लिये ही नहीं, हिन्दी कविता की प्रगति के लिये भी बहुत उपयोगी है।

---

# इतिहास, जातीयता और साहित्य के रूप

यहाँ हम तीन समस्याओ पर विचार करेंगे, हिन्दी साहित्य के इतिहास मे काल-विभाजन की समस्या, साहित्य के जातीय रूप और उसकी जातीय विशेषताओ की समस्या, और नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि साहित्य के रूपो की समस्या। इन सभी पर शुक्लजी की कुछ विशेष मान्यताएं है जिनमे से कुछ की ओर विद्वानो का ध्यान गया है और उनके खण्डन की भी कोशिश की गई है, कुछ की ओर ध्यान कम गया है या ज्यादातर आलोचक उनकी ओर उदासीन रहे है।

पहली समस्या इतिहास मे काल-विभाजन की है। हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखना आज भी सरल काम नहीं है। इसका सबसे बड़ा कारण आवश्यक सामग्री का उपलब्ध न होना है। हाथ की लिखी किताबे एक तरफ राजस्थान मे पड़ी है तो दूसरी तरफ नेपाल मे। इन पर जो खोज का काम हुआ है, वह बहुत कुछ असंगठित और अव्यवस्थित है। जो सामग्री उपलब्ध है, उसके छापने की भी कोई संगत व्यवस्था नही है। मध्यकाल तो दूर, आज से सत्तर साल पहले जो साहित्य रचा गया था, वह जहां-तहां पत्रिकाओ की जिल्दो मे बन्द दीमको के हवाले हो रहा है; वह भी रद्दी मे बिकने से बच गया हो तो।

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने मे दूसरी कठिनाई यह है कि हिन्दी की अनेक बोलियो मे समृद्ध साहित्य रचा गया है और इनमे से कई एक—जैसे अवधी ब्रज और मैथिल—का साहित्य कम से कम परिमाण मे इतना विशाल है, जितना यूरोप और भारत की कई भाषाओ का आधुनिक साहित्य न होगा। इस साहित्य का विस्तृत अध्ययन किये बिना हिन्दी साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास नही लिखा जा सकता।

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने के साथ अभी भाषा-विज्ञान और सांस्कृतिक इतिहास आदि की अनेक समस्याएं जुड़ी हुई हैं जिन पर विस्तार से विचार करने की जरूरत है। मिसाल के लिये राजस्थानी मे जो साहित्य मिलता है, उसे हिन्दी साहित्य मे लिया जाय या नहीं? अपभ्रंश मे रचा हुआ साहित्य पुरानी हिन्दी का साहित्य माना जाय या उससे स्वतन्त्र? मैथिली और हिन्दी का क्या सम्बन्ध है? मैथिली हिन्दी से स्वतन्त्र भाषा है या उसकी एक बोली? दकनी हिन्दी, फारसी लिपि मे लिखी हुई हिन्दी, अरबी-फारसी मिश्रित हिन्दी यानी उर्दू के साहित्य को हिन्दी साहित्य मे लिया जाय या नही? इस तरह की बहुत सी समस्याएं हैं।

शुक्लजी से पहले मिश्रबन्धुओ और अन्य विद्वानो ने जो खोज का काम किया था, उससे उन्होंने लाभ उठाया, उनके समय मे जो खोज का काम होता गया वह उसकी जानकारी भी रखते रहे, इसके सिवा जायसी आदि पर उन्होने खुद भी अनुसंधान का काम किया। लेकिन शुक्लजीका महत्व सबसे ज्यादा इतिहास के अध्ययन की एक व्यवस्थित पद्धति कायम करने में है, अनुसन्धान मे नहीं। अनुसन्धान से कुछ ग्रन्थो की तिथियों में हेरफेर हो सकता है, कुछ ग्रन्थ जाली साबित हो सकते है, कुछ नये ग्रन्थ सामने आ सकते है लेकिन यह हर किसी रिसर्चस्कालर का काम नहीं है कि वह इतिहास के अध्ययन की एक व्यवस्थित पद्धति भी कायम कर दे।

शुक्लजी ने अपने इतिहास मे हिन्दी साहित्य के पहले युग को आदिकाल कहा है। इसमे उन्होंने अपभ्रंश साहित्य पर विचार किया

है. और वीरगाथा काव्यो की प्रामाणिकता आदि का विवेचन किया है। इसके बाद उन्होने दूसरे युग को पूर्व मध्यकाल कहा। इसमे निर्गुण, सगुणवादी भक्त कवियो और जायसी आदि प्रेममार्गी कवियो का विवेचन किया है। तीसरा युग उत्तरमध्यकाल है जिसमे रीतिग्रन्थकारो को लिया है। चौथा युग आधुनिक काल है जिसमे आधुनिक गद्य के विकास, भारतेन्दु और द्विवेदीकालीन साहित्य और छायावाद आदि की चर्चा है।

इस व्यवस्था मे शुक्लजी ने दो चीजे मिलाने की कोशिश की है, एक तो कालक्रम और दूसरी किसी साहित्यिक धारा की विशेषताए। इन दोनो बातो का अन्तर ध्यान मे रखना चाहिये। हिन्दी साहित्य का व्यवस्थित अध्ययन करने में दूसरी बात का महत्व ज्यादा है, पहली का कम। कालक्रम के हिसाब से कोई रचना आगे पीछे की साबित हो सकती है, इससे यह साबित होना लाजिमी नहीं है कि वह किसी साहित्यिक धारा के अन्तर्गत भी नहीं आ सकती।

शुक्लजी ने अपना इतिहास एक विशेष आवश्यकता की पूर्ति के लिये लिखा था। यह आवश्यकता विश्वविद्यालयो मे हिन्दी पढ़ने-पढ़ाने वाले छात्रो और अध्यापको की थी। इसका जिक्र उन्होने अपने इतिहास के पहले संस्करण के वक्तव्य मे किया है। हिन्दी शब्द सागर समाप्त होने पर उसकी भूमिका के रूप मे भाषा और साहित्य के विकास पर लिखना, यह दूसरी आवश्यकता थी और "एक नियत समय के भीतर ही यह इतिहास लिखकर पूरा करना पड़ा।" इससे "साहित्य का इतिहास लिखने के लिये जितनी अधिक सामग्री मै जरूरी समझता था उतनी तो उस अवधि के भीतर न इकट्ठी हो सकी।" बाद के संस्करणों मे शुक्लजी ने और भी आवश्यक सामग्री से लाभ उठाकर अपने इतिहास को और भरा-पूरा बनाया।

शुक्लजी के बाद संक्षिप्त और सुबोध इतिहासो की बाढ़ आ गई। कुछ बृहत्काय इतिहास भी लिखे गये। इनमे से ज्यादातर चोरी का माल हैं, शुक्लजी की निधि से माल लेकर टके सीधे करने का व्यापार है;

बहुत कम लोगो ने नये सिरे से अध्ययन करके हिन्दी साहित्य के इतिहास मे कुछ नया जोड़ने की कोशिश की है। विद्यार्थियो के लिये लिखना बुरा नही है लेकिन जहाँ इस लिखने का उद्देश्य ज्ञान-वृद्धि न होकर परीक्षा पास कराना भर होता है, वहाँ इतिहास-लेखन पैसाकमाऊ व्यापार मात्र हो जाता है।

शुक्लजी अपने समय मे तो इतिहास-लेखन मे दिग्विजयी हुए ही थे, उनके बाद भी उनका काल-विभाजिन—या हिन्दी साहित्य की मुख्य धाराओ का विभाजन—बहुत कुछ अपने मूल रूप मे कायम है। कुछ लोगो ने जोर बहुत लगाया लेकिन शुक्लजी की कायम की हुई व्यवस्था टस से मस न हुई। वीरगाथा, निर्गुण और सगुण भक्ति, प्रेमकथानक, रीतिकाव्य, भारतेन्दु युग, छायावाद आदि का सिलसिला अब भी चला आता है। "रीतिकाव्य की भूमिका" मे डा० नगेन्द्र कुछ अनमने से गणेशवन्दना करते हुए लिखते है, "आज पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा किया हुआ हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन प्रायः सर्वमान्य सा ही हो गया है।" शुक्लजी की दिग्विजय का यह प्रमाण है। उनका काल-विभाजन सार्वमान्य सा ही हो गया है, उन्होने भगीरथ-परिश्रम करके जो इतिहास लिखने की धारा प्रवाहित की थी, उसमे दो डुबकियाँ लगाये बिना डा० नगेन्द्र का भी कल्याण नही है। सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात यह है कि डा० नगेन्द्र के अनुसार शुक्लजी का काल-विभाजन "वास्तव मे सर्वथा निर्दोष न होते हुए भी, वह बहुत कुछ संगत तथा विवेकपूर्ण है।" विवेकपूर्ण होने की वजह से नये इतिहास-लेखको को मौलिकता का दावा करने मे काफी कठिनाई होती है।

इधर एक ताजा इतिहास शुक्लजी की ही अध्यापनभूमि मे कार्य करने वाले विद्वान् विचारक और अनुसन्धानकर्ता आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है। जो लोग शुक्लजी को विवेकपूर्ण न मानते हो, वे कृपया द्विवेदी जी के इतिहास का ढांचा और विषयवस्तु देखें और इस बात पर विचार करें कि द्विवेदी जी जैसे विद्वान् ने भी शुक्लजी की ही व्यवस्था स्वीकार की है या नही। आदिकाल से लेकर छायावाद तक

द्विवेदी जी ने उन्ही धाराओ के हिसाब से इतिहास लिखा है जिनका विवेचन शुक्लजी ने किया था। एक अन्तर है। द्विवेदीजी ने आदिकाल की तरह आधुनिक काल नाम तो रखा है लेकिन मध्यकाल नाम छोड़ दिया। आदि है और आधुनिक है तो मध्य भी होना चाहिये, उसे छोड़ने का कोई संगत कारण नही दिखाई देता। इसके सिवा और युगों मे जहाँ द्विवेदी जी ने उन्ही साहित्यिक धाराओ और प्रवृत्तियो को मुख्य माना है जिनकी चर्चा शुक्लजी ने की थी, वहां आदिकाल को मुख्य धारा उन्होने स्पष्ट नही की। जैसे मध्यकाल मे—यह नाम न लेते हुए भी—उन्होने भक्ति और रीतिकाव्यो की चर्चा की है, वैसे आदिकाल के अन्तर्गत ऐसा कोई शीर्षक नही दिया।

शुक्लजी ने आदिकाल की मुख्य धारा वीरगाथाकाव्य मानी थी। इसलिये उन्होने उसे वीरगाथाकाल भी कहा है। द्विवेदीजी के अनुसार "यह नाम वर्तमान ज्ञान के आलोक मे बहुत उचित नही प्रतीत होता।" इसीलिये उन्होने कालक्रम के हिसाब से उसे आदिकाल तो कहा है, किसी धारा या साहित्यिक प्रवृत्ति के हिसाब से उसका नाम नहीं लिया। विषय-सूची पर नजर डालिये तो "हिन्दी साहित्य का आदिकाल" ( इस नाम की पुस्तक नही, "हिन्दी साहित्य" के दूसरे अध्याय ) मे खुमान-रासो, बीसलदेव-रासो, भट्ट केदार और मधुकर भट्ट, हम्मीर-रासो, पृथ्वीराज रासो आदि की ही चर्चा मिलेगी। इन्ही ग्रन्थो की चर्चा शुक्लजी ने भी की है। देखना चाहिये की दोनो की चर्चा मे क्या अन्तर है।

वीरगाथा काव्य का विवेचन शुरू करते हुए शुक्लजी ने पहले ही बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो आदि जो काव्य "आजकल मिलते है वे संदिग्ध है", यह लिख दिया है। द्विवेदीजी ने भी उनका संदिग्ध होना स्वीकार करते हुए लिखा है, "कुछ हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने इस काल की कितनी ही ऐसी रचनाओ के नाम गिनाए है, जिनके विषय मे अब सन्देह किया जाने लगा है। खुमानरासो, बीसलदेवरासो, हम्मीर रासो, विजयपालरासो आदि ऐसी रचनाएं है। शुरू-शुरू मे इन्हे प्रामा-

णिक ग्रन्थ समझा गया था। यह विश्वास कर लिया गया था कि इन रचनाओ का संबन्ध जिन राजाओ के नाम के साथ है उन्ही के समय मे ये लिखी भी गई थी पर अब इस विश्वास को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा है।"

यहां इतना और जोड़ देना चाहिये था कि शुक्लजी उन इतिहासकारो मे नही है, जो इन्हे प्रामाणिक ग्रंथ मानते थे। द्विवेदी जी के ऊपर बताये हुए सूत्र की लम्बी-चौड़ी व्याख्या करते हुए जिन विद्वानो ने शुक्लजी का खंडन किया है, वे यह भूल गये है कि इन ग्रन्थो को संदेह की दृष्टि से देखने मे द्विवेदी जी ने कोई मौलिक काम नही किया वरन् शुक्लजी का ही अनुसरण किया है।

खुमानरासो के बारे मे शुक्लजी ने लिखा है, "इस समय खुमान रासो की जो प्रति प्राप्त है, वह अपूर्ण है और उसमे महाराणा प्रतापसिह तक का वर्णन है।"

द्विवेदी जी ने इस वाक्य को थोड़ा सरल करके यो लिखा है, "आजकल खुमानरासो की जो प्रति मिलती है वह अपूर्ण है।"

शुक्लजी ने महाराणा प्रताप के वर्णन का उल्लेख करके उसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता का और भी जोरदार खंडन किया है।

द्विवेदी जी ने इसके रचयिता के बारे मे लिखा है, "इसके लेखक का नाम दलपतिविजय है।"

शुक्लजी को उसके रचयिता के बारे मे इतना विश्वास नहीं था। इस बारे में उन्होने लिखा था, "यह समस्त वर्णन दलपत विजय नामक किसी कवि के रचित खुमानरासो के आधार पर लिखा गया जान पड़ता है।" यह अनुमान ध्यान देने योग्य है। इतिहास की दृष्टि से अप्रामाणिक रचनाएँ आसमान से नहीं टपक पड़ती। उनके पीछे किसी साहित्यक धारा की परंपरा रहती है। शुक्लजी इस परंपरा का अस्तित्व सिद्ध कर रहे थे विशेष रचनाओं की ऐतिहासिक प्रामाणिकता नहीं। इसीलिये अनेक ग्रंथों को सन्दिग्ध और पृथ्वीराज रासो को शुद्ध जाली मानते हुए भी उन्होंने परंपरा के हिसाब से उस युग को वीरगाथा काल कहा

है। राजाओ के चारणो ने काव्य लिखे, वे बहुत कुछ राजकीय पुस्तकालयो और कवियो के वंशजो मे सुरक्षित रहे। उनमें हेरफेर होने पर भी जो परंपरा सिद्ध होती है, उसी के आधार पर उन्होने इस युग को वीरगाथा काल कहा है। लिखा है, "उत्तरोत्तर भट्ट चारणो की परंपरा मे चलते रहने से उनमे फेरफार भी बहुत कुछ होता रहा। इसी रक्षित परंपरा की सामग्री हमारे हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक काल मे मिलती है। इसी से यह काल वीर गाथा काल कहा गया।"

इससे बिल्कुल स्पष्ट है कि ग्रंथो मे फेरफार की खबर शुक्लजी को भी थी लेकिन उन्होने वीरगाथा काल नाम उस परंपरा के आधार पर दिया जिसकी खबर उनके कुछ परवर्ती इतिहासकारो को नही है।

खुमानरासो के संदिग्ध होने के बारे मे शुक्लजी ने लिखा था, "यह नही कहा जा सकता कि इस समय जो खुमानरासो मिलता है, उसमें कितना अंश पुराना है।" और भी, "यह नही कहा जा सकता कि दलपति विजय असली खुमानरासो का रचयिता था अथवा उसके पिछले परिशिष्ट का।"

द्विवेदीजी ने इन्ही धारणाओ का सार प्रकट करते हुए यह वाक्य लिखा है, "स्पष्ट ही यह ग्रंथ उतना प्राचीन नहीं जितना समझा गया है।"

शुक्लजी की धारणाओ को दोहराने मे कोई नुक्सान नही लेकिन उनका ऋण भी स्वीकार करना चाहिये, खास तौर से जब सामग्री के अलावा वाक्य भी शुक्लजी के वाक्यों से मिलते-जुलते हो।

शिवसिह सरोज का हवाला देते हुए शुक्लजी ने खुमानरासो के बारे मे लिखा था, "शिवसिंह सरोज के कथनानुसार एक अज्ञातनामा भाट ने खुमानरासो नामक एक काव्यग्रंथ लिखा था जिसमे श्रीरामचंद्र से लेकर खुमान तक के युद्धो का वर्णन था।"

इसी विषय पर द्विवेदी जी ने लिखा है, "खुमानरासो नामक पुस्तक के बारे में शिवसिह सरोज मे बताया गया है कि किसी अज्ञातनामा भाट ने खुमानरासो नाम का काव्य लिखा था, जिसमे श्री रामचंद्र से लेकर खुमान तक के नरपतियो का वर्णन है।"

"शिवसिंह सरोज के कथनानुसार"—इस टुकड़े का सरल रूप "खुमानरासो नामक पुस्तक के बारे में" आदि है। "अज्ञातनामा भाट ने खुमानरासो नामक काव्य लिखा था", यह टुकड़ा दोनो जगह है, सिर्फ द्विवेदीजी मे "नामक" का सरलरूप "नाम का" होगया है। द्विवेदीजी ने "लिखा था" के बाद एक कामा भी लगा दिया है जो उचित है क्योकि शुक्ल जी कामा के बारे मे काफी लापर्वाह जान पड़ते है। लेकिन "श्रीरामचंद्र से लेकर खुमान तक के युद्धो का वर्णन"—यह टुकड़ा तो ठीक है; द्विवेदी जी मे युद्धो की जगह नरपतियो ने ले ली है (शायद युद्धो का सम्बन्ध वीरगाथा से है, इसलिये द्विवेदी जी ने उन्हे हटा दिया हो) और "खुमान तक के युद्धो" की जगह "खुमान तक के नरपतियो" लिखा गया है जो बेमानी है। "तक के" की जगह "तक" लिखा जाता तो ठीक था। शायद जल्दी मे द्विवेदीजी "के" हटाना भूल गये है। यह भी हो सकता है कि "तक के नरपतियो" मुहावरेदार हिन्दी हो क्योकि द्विवेदीजी ने आगे भी इसके सम पर एक और टुकड़ा बिठाया है—महाराणा राजसिह "तक के राजाओ का वर्णन है"।

बीसलदेव रासो के बारे मे शुक्लजी ने लिखा है, "दिए हुए संवत् के विचार से कवि अपने चरितनायक का समसामयिक जान पड़ता है पर वर्णित घटनाएँ, विचार करने पर, बीसलदेव के बहुत पीछे की लिखी जान पड़ती है, जबकि उनके संबन्ध मे कल्पना की गुंजाइश हुई होगी।" शुक्लजी ने भोज की लड़की से बीसलदेव के ब्याह की बात कल्पित ठहराई है क्योंकि भोज का देहान्त बीसलदेव से सौ बरस पहले हो चुका था। भोज के सिवा माघ और कालिदास के नाम जोड़ने का भी उन्होने उल्लेख किया है। बीसलदेव रासो की भाषा की जाँच करने के बाद शुक्लजी ने यह नतीजा निकाला है कि "यह पुस्तक न तो वस्तु के विचार से और न भाषा के विचार से अपने असली और मूल रूप मे कही जा सकती है।"

द्विवेदी जी भी शुक्लजी की तरह इसे "संदिग्ध" रचना मानते है लेकिन शुक्लजी की तरह यह नही कहते कि "यह नरपति नाल्ह की पोथी का विकृत रूप अवश्य है।"

चंद "दिल्ली के अंतिम हिन्दू सम्राट्" के राजकवि कहे जाते है, इस-लिये "इनके नाम मे भावुक हिन्दुओ के लिए एक विशेष प्रकार का आकर्षण है।" इस आकर्षण की पर्वाह न करके शुक्लजी ने गौरीशंकर हीराचंद ओझा का समर्थन करते हुए पृथ्वीराजरासो को अप्रामाणिक माना है। उसमे चंद के भी कुछ छन्द हो सकते है, इस बारे मे शुक्लजी ने लिखा है, "यह हो सकता है कि इसमे इधर-उधर कुछ पद्य चंद के भी बिखरे हो, पर उनका पता लगाना असंभव है।" इस बात को द्विवेदी जी ने भी इन शब्दो मे स्वीकार किया है, "यद्यपि रासो मे प्रक्षिप्त अंश बहुत है तथापि इसमें चंद के कुछ-न-कुछ वचन अवश्य है जो काफी पुराने है।" द्विवेदीजी ने मुनिजिन विजय द्वारा प्रकाशित जयचंद प्रबंध का हवाला देते हुए अपने कथन का जो समर्थन किया है, उससे शुक्ल जी का अनुमान और पुष्ट होता है।

रासो के मूलरूप को तूल देने का श्रेय दोनो विद्वानो ने "भट्टभणन्त" को दिया है। शुक्लजी ने लिखा है, "पीछे जो बहुत सा कल्पित 'भट्ट-भणंत' तैयार होता गया उन सब को लेकर" रासो का आकार बढ़ाया गया है। द्विवेदी जी ने युद्धो के प्रसंग का जिक्र करते हुए लिखा है, "अधिकतर भट्टभणन्त और गलत तिथियो का हिसाब ऐसे प्रसंग मे आता है।"

आदिकाल मे द्विवेदी जी ने भट्ट केदार और मधुकर का जिक्र किया है। इनके लिखे जो दो ग्रंथ बताये जाते है, शुक्लजी ने उनके बारे मे लिखा है, "ये दोनों ग्रंथ आज उपलब्ध नही हैं।" द्विवेदी जी भी कहते हैं, "ये पुस्तके मिलती नहीं।"

जगनिक के बारे मे शुक्लजी ने लिखा है, "ऐसा प्रसिद्ध है कि कालिंजर के राजा परमाल के यहाँ जगनिक नाम के एक भाट थे जिन्होंने महोबे के दो प्रसिद्ध वीरो—आल्हा और ऊदल ( उदयसिंह )—के वीर-चरित का विस्तृत वर्णन एक वीरगीतात्मक काव्य के रूप में लिखा था।"

इसका सरल रूप द्विवेदी जी के यहाँ इस तरह है: "कहते हैं कि

कालिंजर के राजा परमाल के ( परमर्दि देव ) के यहां जागनिक नाम के एक भाट थे, जिन्होंने महोबे के दो प्रसिद्ध वीरों आल्हा और ऊदल के चरित्र का एक वीर काव्य लिखा था।"

शुक्लजी ने स्पष्ट कर दिया है कि "जगनिक के काव्य का आज कहीं पता नहीं है।" जो आल्हा कुछ हेरफेर के साथ गांवों मे सुनाई पड़ता है—खासतौर से बैसवाड़े मे, क्योंकि शुक्लजी के अनुसार "बैसवाड़ा इसका केन्द्र माना जाता है"—वह जगनिक के काव्य के आधार पर रचा गया है। प्रचलित गीतों का संग्रह फर्रुखाबाद के कलक्टर चार्ल्स इलियट ने कराया था, यह बात शुक्लजी ने लिखी है। द्विवेदी जी ने भी उसे दोहराया है। शुक्लजी का निष्कर्ष है, "देश और काल के अनुसार भाषा मे ही परिवर्तन नहीं हुआ है, वस्तु मे भी बहुत अधिक परिवर्तन होता आया है।" द्विवेदी जी भी मानते है कि "भाषा और कथानकों मे बहुत अधिक परिवर्तन हो गया है।"

हम्मीररासो के बारे मे शुक्लजी का मत है कि शार्ङ्गधर का लिखा हुआ हम्मीररासो नहीं मिलता—"उसके अनुसरण पर बहुत पीछे का लिखा हुआ एक ग्रंथ 'हम्मीर रासो' नाम का मिलता है।" द्विवेदीजी का कहना है, "शार्ङ्गधर कवि के हम्मीर रासो की रचना भी असन्दिग्ध नहीं है।"

शुक्लजी ने "प्राकृत पिंगल-सूत्र" मे हम्मीर सम्बन्धी पद्यों को मूल हम्मीर रासो का माना है। यह सही है कि यह शुक्लजी का अनुमान है और उसे इतिहास की स्वीकृत घटना नहीं माना जा सकता। शुक्लजी ने इसकी चर्चा अपभ्रंशकाल वाले अध्याय मे की है और वीरगाथा वाले अध्याय मे उसे छोड़ दिया है। शुक्लजी ने हम्मीर संबन्धी दो पद्य दिये है। द्विवेदीजी ने उनमे से एक पद्य उद्धृत किया है, दूसरा नहीं। उनके उद्धृत किये हुए पद्य मे "जज्जल भणइ" आया है। द्विवेदीजी ने महापण्डित राहुल के मत हवाला दिया है कि ये पद्य जज्जला कवि की रचना हैं। शुक्लजी ने जो दूसरा पद उद्धृत किया है उसमें "पुर जज्जला मंतिवर" यह टुकड़ा आया है। इसका अर्थ शुक्लजी ने यह लिखा है,

"आगे मंत्रिवर जज्जल को करके" । द्विवेदीजी ने राहुल-मत का हवाला देते हुए यह नहीं लिखा कि इन पद्यों में जज्जल को "मंत्रिवर" भी कहा गया है जिससे पाठक को यह धारणा होती है कि जज्जल कवि ही का नाम रहा होगा।

हम्मीर रासो की चर्चा का महत्व इतना ही है कि उससे भी वीरगाथा काव्य की परम्परा सिद्ध होती है। प्राकृत पिंगल-सूत्र मे जो पद्य दिये गये है, वे शार्ङ्गधर के हों चाहे और किसी कवि के, मुख्य बात यह कि इनसे भी उसी काव्य-परंपरा के अस्तित्व का समर्थन होता है। शुक्लजी ने इस काव्य-धारा की कुछ विशेषताएँ बतलाई है जो उसे और दरबारी कविता से अलग करती है। ये ग्रन्थ ज्यादातर पच्छिम मे लिखे गये हैं। इनमे वीररस के पद्य अक्सर छप्पय मे है। इनकी भाषा पर प्राकृत की रूढ़ियो का गहरा असर है। खुसरो की भाषा के सिलसिले मे शुक्लजी ने लिखा है, "उसका ढाँचा कवियो और चारणो द्वारा व्यवहृत प्राकृत की रूढ़ियो से जकड़ी काव्य भाषा से भिन्न था।" वीरगाथा काव्यों की वीरता किस तरह की थी, यह भी शुक्लजी अच्छी तरह जानते थे।पच्छिम में जो गहरवार, चौहान, चंदेल आदि राज्य थे, "वे अपने प्रभाव की वृद्धि के लिये परस्पर लड़ा करते थे। लड़ाई किसी आवश्यकता-वश नही होती थी; कभी कभी तो शौर्य-प्रदर्शन मात्र के लिये यो ही मोल ली जाती थी। बीच बीच मे मुसलमानो के भी हमले होते रहते थे।" इसके सिवा इस सामन्ती वीर रस का विशेष संबन्ध शृङ्गाररस से भी था। "किसी राजा की कन्या के रूप का संवाद पाकर दलबल के साथ चढ़ाई करना और प्रतिपक्षियो को पराजित कर उस कन्या को हर कर लाना वीरो के गौरव और अभिमान का काम समझा जाता था।" वाद के सामन्त लड़ाई-भिड़ाई का काम बिल्कुल छोड़ कर कन्या-हरण का काम कुटनियों के सहारे किया करते थे या सामन्तो की कन्याओ के लिये लड़ने के बदले किसी गरीब प्रजा की बहू बेटी भगा लाते थे। उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐसे रसिक ब्रजराजों का वर्णन अपने "टूटे कांटे" नामक उपन्यास में किया है। जो लोग सामन्ती वीरता के कल्पित चित्र खींचा

करते हैं, वे प्रजा के शोषण की बात तो भूल ही जाते है, प्रभाव-विस्तार और शौर्य-प्रदर्शन के लिये सामन्तो के युद्ध, कन्या हर लाने मे वीरताके गौरव की बात भूल जाते है। अतिशयोक्ति सामन्ती काव्य का मुख्य अलङ्कार है। दरबारी शृङ्गार-काव्य की तरह वीरकाव्य मे भी अत्युक्तियों की भरमार रहती थी। शुक्लजी ने लिखा है, "उस समय जो भाट या चारण किसी राजा के पराक्रम, विजय, शत्रु-कन्या-हरण आदि का अत्युक्ति पूर्ण आलाप करता या रणक्षेत्रो मे जाकर वीरो के हृदय मे उत्साह की उमंगे भरा करता था, वही सम्मान पाता था।" बाद के सामन्ती कवियो ने यह उमंगे भरने का काम भी छोड़ दिया था जिससे सामन्ती दरबारों का और भी पतन सूचित होता है।

वीरगाथा काव्य शुद्ध वीर रस के काव्य न थे। उनमे "शृङ्गार का भी थोड़ा मिश्रण रहता था" यद्यपि शुक्लजी ने उसे गौण रूप से ही आता हुआ कहा है। लेकिन "जहाँ राजनीतिक कारणो से भी युद्ध होता था, वहाँ भी उन कारणो का उल्लेख न कर कोई रूपवती स्त्री ही कारण कल्पित करके रचना की जाती थी",—शुक्लजी की बात यह सही हो तो मानना पड़ेगा कि वीरगाथा काव्यो की मूल प्रेरणा भोग-विलास की कामना ही थी। बीसलदेव रासो के लिये शुक्लजी ने लिखा है कि उसमे शौर्य के वर्णन के बदले शृङ्गार की अधिकता है। उन्हे उसके साथ "रासो" शब्द का जुड़ा होना खटका है लेकिन कहीं कम, कहीं ज्यादा, ये सभी रासो थे तो भोग-विलास की इच्छा-पूर्ति के वीर काव्य ही।

ऊपर के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वीरगाथा काव्य हिन्दी की एक विशेष धारा है, इस धारणा के प्रतिनिधि ग्रन्थ अधिकतर अप्रामाणिक हैं लेकिन उनसे एक वीरगाथा काव्य की परम्परा का अस्तित्व सिद्ध होता है, इनकी अप्रामाणिकता का बहुत स्पस्ट उल्लेख आचार्य शुक्ल ने किया था, आदि काल के अन्तर्गत श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उन्हीं ग्रन्थो की चर्चा की है जिनकी शुक्लजी ने की थी और द्विवेदीजी ने शुक्लजी की स्थापनाओं को ही नहीं दोहराया, कभी-कभी उनके वाक्यों को भी दोहराया है और अन्त मे यह कि वीरगाथा काव्यों से

किसी स्वर्ण युग की कल्पना न करनी चाहिये वरन् कन्या-हरण, परस्पर युद्ध और शूरता के अतिरंजित वर्णन भी। ध्यान मे रखने चाहिये। विदेशी आक्रमणकारियों के खिलाफ भी युद्ध हुए लेकिन इन सामन्ती काव्यो मे देश रक्षा का भाव प्रायः नही है।

अब हम दूसरी समस्या लेते हैं। यह समस्या साहित्य के जातीय रूप और उसकी जातीय विशेषताओं की है। भाषा साहित्य का रूप है। हमारे साहित्य का जातीय रूप हिन्दी भाषा है। हिन्दीभाषी क्षेत्र मे अनेक बोलियाँ बोली जाती है। इनमे खड़ी बोली हमारी जातीय भाषा बनी, बाकी बोलियाँ रहीं। शुक्लजी ने खड़ी बोली के प्रसार के मुख्य ऐतिहासिक कारणों का उल्लेख किया और साहित्य मे उसके विकास की रूप-रेखा तैयार की। हिन्दीभाषी प्रदेश एक पिछड़ा हुआ प्रदेश है। यहाँ के लोगो मे जातीय चेतना का प्रसार उस तरह नही हुआ जैसे बंगाल, महाराष्ट्र, तमिलनाडु या आन्ध्र मे। यहाँ पर सामन्तवाद का गहरा असर, बड़ी-बड़ी ताल्लुकदारियाँ, वर्णव्यवस्था की कट्टरता, हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव और अंग्रेजो की कूटनीति—इन सब कारणों से यहाँ का औद्योगिक और सांस्कृतिक विकास अवरुद्ध रहा है। यहाँ पर व्यापार करने वाले, उद्योगधन्धे चलाने वाले, ऊँची नौकरियों पर काम करने वाले भी प्रायः बाहर से आते रहे है। यहाँ के गरीब "परदेस" जाकर कहीं दूध बेचते रहे या दरबानगीरी करते रहे। इसलिये कई प्रदेशों के कुछ शिक्षित कहलाने वाले लोग यहाँ वालो को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। यही नहीं, यहाँ की भाषा और साहित्य को भी गँवारू और पिछड़ा हुआ समझने लगे। ऐसे लोगो की तादाद खुद इस प्रदेश के अन्दर कम नहीं है। कुछ तो अंग्रेजी का नाम मात्र ज्ञान रखने वाले लोग हैं जो हिन्दी में अभाव ही अभाव देखते है और कुछ काम की बात उन्हे दिख भी गई तो उसे अंग्रेजी की देन समझते है। मैंने ऐसे कितने लोगो को यह कहते सुना है कि शुक्लजी ने अंग्रेजी से कुछ बाते लेकर हिन्दी आलोचना मे रखी हैं लेकिन वह भी पुरानपंथी विक्टोरियन थे, अभी हिन्दी आलोचना में कहने लायक कोई काम हुआ नहीं है। इन अंग्रेजीदाँ विद्वानों के

अलावा रघुपति सहाय फिराक जैसे कुछ उर्दूदाँ विद्वान् हैं जिनका दिल हिन्दी साहित्य के लिये जितना ही उपेक्षा से भरा हुआ है, उनका दिमाग उसकी जानकारी से उतना ही खाली है। आठ दस साल पहले फ़िराक को हिन्दी साहित्यिकों से बातचीत करने का शौक पैदा हुआ। इलाहाबाद के एक पत्र मे उनकी बातचीत छपना शुरू हुई और उसमे उन्होने भारतेन्दु से लेकर निराला तक के साहित्य को घटिया और बचकाना बतलाया। शुक्लजी पर खास मेहरबानी करके उन्होने फर्माया कि उनसे अच्छे निबन्ध कालेज के विद्यार्थी लिख लेते है। उनकी आलोचना के लिये यह राय ज़ाहिर की कि कोई नई चीज देना तो दूर, शुक्लजी जैसे आलोचको मे यह तमीज़ भी न थी कि ग्रियर्सन वगैरह की लिखी आलोचना समझ भी सकें!

फिराक ने ये सब बातें उर्दू लेखको और पाठकों के प्रतिनिधि की हैसियत से कही है, यह मानना गलत होगा। लेकिन हिन्दी साहित्य से बिना काफी परिचय हुए उस पर राय देने की आदत उर्दू के कई लेखकों में पाई जाती है, यह सही है। अभी भी रवैया हिन्दी-उर्दू की छुटाई-बड़ाई नापने का है, दोनों का साहित्य एक ही कौम का साहित्य है, यह समझ कम है। लेकिन हमे शिकायत उर्दू के लेखको और पाठको से नहीं है, वे जितना उर्दू को प्यार करते है और उसके साहित्य को रचने और सँवारने मे तत्पर रहते हैं, उतना राष्ट्र भाषा का डंका पीटने वाले लोग नहीं। उनका उर्दू-प्रेम खड़ी बोली के ही एक रूप का प्रेम है, इसलिये राष्ट्रभाषा प्रेमियो को उर्दू वालों से सीख कर हिन्दी को समृद्ध करने की कोशिश करना चाहिये।

हिन्दी साहित्य की जातीय विशेषताओ और उसके सहज विकास के सबसे बड़े शत्रु वे हिन्दी वाले ही हैं जो रूढ़िवाद के गुलाम है और हिंदी को तंग सामन्ती दायरे से बाहर निकलने नही देना चाहते। इनके लिये साहित्य का जो कुछ विकास होना चाहिये था, वह संस्कृत मे हो चुका, हिन्दी मे अगर कोई अच्छाई है तो यह कि वह संस्कृत के नजदीक है और तत्सम शब्दों की भरमार करके और भी राष्ट्रीय बनाई जा सकती है।

इन लोगो का दिमाग संस्कृत ही नहीं, अंग्रेजी और फारसी के लिये भी पायन्दाज़ है। हिन्दी के ज्यादातर रूढ़िवादी हिन्दी के बारे में शोर मचाने के बावजूद हिन्दी साहित्य से अपरिचित है, उनके मन मे हिन्दी के लिये जरा भी सम्मान की भावना नही है। वह अंग्रेजी और संस्कृत से आतंकित है यद्यपि जानते उनकी प्रगतिशील पम्पराओ को भी नही हैं।

आचार्य शुक्ल हिन्द प्रदेश की पददलित और अपमानित जनता के सम्मान-रक्षक थे। विरोधियो से ज्यादा बहस मे न पड़कर उन्होंने हिन्दी आलोचना को समृद्ध करने का बीड़ा उठाया। उन्होने हिन्दी के अलावा संस्कृत, अंगरेजी बंगाला आदि के साहित्य का गंभीर अध्ययन किया और अपने मौलिक चिन्तन से हिन्दी आलोचना में युगान्तर पैदा कर दिया। इस कार्य मे उनके मनोबल को दृढ़ करने वाली प्रेरणा जातीय सम्मान की भावना थी, इसमे सन्देह नही। एक पराधीन देश मे जातीय सम्मान की भावना एक साम्राज्यविरोधी क्रांतिकारी भावना है। वह विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध अपनी भाषा और संस्कृति की रक्षा और विकास के लिये जनता को संघर्ष करने की प्रेरणा देती है। इस भावना को दंभ और अहंकार का रूप देकर पूँजीवादी दल फायदा भी उठाता है, एक ही देश की जातियो को परस्पर लड़ाता है। इसलिये जातीय सम्मान की भावना का सही विकास तब होता है जब एक ओर वह अपने ही रूढ़िवाद का विरोध करे और दूसरी ओर वह अन्तर राष्ट्रीयता की भावना के साथ जुड़ी हो। शुक्लजी मे ये दोनों बाते पायी जाती हैं। एक ओर तो वे दरबारी काव्य-परंपरा, चमत्कार आदि के कट्टर विरोधी है, दूसरी ओर उन्होंने भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन को विश्व साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन का ही एक अंग बतलाते हुए इसे एक बहुत बड़ी बात कहा था।

भारत की सभी भाषाओं और उनके साहित्य पर सबसे पहले और सबसे ज्यादा दबाव अँगरेजी भाषा और साम्राज्यवादी अंग्रेजों की संस्कृति का था। यहाँ पर अन्धविश्वासो को कायम रखने, सामन्ती अवशेषों को मजबूत बनाने और शिक्षा के नाम पर अंग्रेजी का आतंक

जमाने और नौजवानों को अपने देश से विमुख करने में सबसे ज्यादा प्रयत्नशील यहाँ के अंग्रेज शासक थे। इसलिये शुक्लजी का वार सबसे पहले उन्हीं पर था। हम ऊपर देख चुके हैं, किस तरह उन्होंने इस अंग्रेजी प्रचार का खंडन किया है कि हिन्दी गद्य का विकास अंग्रेजों की कृपा का फल था। शुक्लजी के विश्लेषण से सिद्ध हुआ कि हिन्दी गद्य का विकास यहीं के सामाजिक विकास का परिणाम था। इस तरह उन्होंने झूठे अंग्रेजी प्रचार का खंडन किया, इस प्रचार से वे हिंदी जनता के हितैषी होने का भ्रम फैला रहे थे, उसे दूर किया। मैकॉले और उससे प्रभावित हिन्दुस्तानियों के मन मे यहाँ की भाषाओ के लिये उपेक्षा का भाव रहता था। इन लोगो ने जब अंग्रेजी मे शिक्षा प्रचार का काम शुरू किया यानी अंग्रेजी राज के लिये अंग्रेजी पढ़े नौकर तैयार करने लगे तब यहाँ की भाषाओं को नीचा दर्जा दिया या उन्हे शिक्षा के ही अयोग्य समझा। इस परिस्थिति की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने अपने इतिहास मे लिखा है, "देशी भाषा पढ़कर भी कोई शिक्षित हो सकता है, यह विचार उस समय तक लोगों का न था।" शुक्लजी उन देशभक्त लेखकों मे थे जो यह सिद्ध करना चाहते थे कि देशभाषा मे शिक्षा जरूरी है और इसके बिना और सब शिक्षा अधूरी है।

अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगो मे पहले हिन्दी के लिये किस तरह की उपेक्षा थी और वह कैसे दूर हुई, उसका रोचक वर्णन शुक्लजी ने गद्य साहित्य के प्रसार के सिलसिले मे किया है। भारतेन्दुकाल मे यह "बहुत बड़ी शिकायत" रहा करती थी कि अंग्रेजी की ऊँची शिक्षा पाये हुए लोग हिन्दी की सेवा नहीं करते। द्विवेदी युग मे यह शिकायत कुछ दूर हुई और वह इस तरह : "उच्च-शिक्षा-प्राप्त लोग धीरे धीरे आने लगे—पर अधिकतर यह कहते हुए कि 'मुझे तो हिन्दी आती नहीं।' इधर से जवाब मिलता था 'तो क्या हुआ ? आ न जायगी। कुछ काम तो शुरू कीजिये।'" अंग्रेजों ने शिक्षित नौजवानो मे किस तरह गुलाम-जहनियत पैदा की थी, यह उसकी अच्छी मिसाल है। बुद्धिजीवी वर्ग को अपनी भाषा सिखाना आसान काम नहीं था। बहुत से अंग्रेजी पढ़े हिन्दी सेवा के लिये बढ़ते

थे, मानो उस पर उपकार करने के लिये, हिन्दी सीखने के लिये बिना जरूरी मेहनत किये हुए। इस पर शुक्लजी ने विनोद करते हुए लिखा है, "बहुत से लोगो ने हिन्दी आने के पहले ही काम शुरू कर दिया।" ग़लत-सही दो चार चीजें लिख लेने पर वे लेखक बन जाते थे। "फिर उन्हें हिन्दी न आने की परवा क्यों होने लगी?"

शुक्लजी ने ज़ोर देकर लिखा है कि अंग्रेजी या संस्कृत या अरबी-फ़ारसी जानने से हिन्दी की जानकारी नही हो जाती। हिन्दी का अपना जीवन है, अपनी विशेषताए है। इन्हे सीखे-समझे बिना कोई हिन्दी लेखक नही बन सकता। उन्होने ऐसे लोगो को फटकारा है जो हिन्दी लेखक होने से अंग्रेजी, संस्कृत या अरबी फारसी का विद्वान् कहने-कहलाने मे ज्यादा गौरव समझते थे। जो लोग भी हिन्दी का हित चाहते है और जिनमे जातीय सम्मान की भावना है, उन्हे शुक्लजी के ये वाक्य गाँठ बाँध लेना चाहिये। द्विवेदी युग की चर्चा करते हुए शुक्लजी ने लिखा है:

"इस कालखंड के बीच हिन्दी लेखको की तारीफ़ मे प्रायः यही कहा-सुना जाता रहा कि ये संस्कृत बहुत अच्छी जानते है, वे अरबी-फारसी के पूरे विद्वान् है, ये अंग्रेजी के अच्छे पंडित है। यह कहने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी कि ये हिन्दी बहुत अच्छी जानते हैं। यह मालूम ही नहीं होता था कि हिन्दी भी कोई जानने की चीज है। परिणाम यह हुआ कि बहुत से हिन्दी के प्रौढ़ और अच्छे लेखक भी अपने लेखों मे फारसीदानी, अँग्रेजीदानी, संस्कृतदानी आदि का कुछ प्रमाण देना जरूरी समझने लगे थे।"

यह परिस्थिति अब भी बहुत कुछ कायम है। और यह तब तक पूरी तरह दूर न होगी जब तक हिन्द-प्रदेश मे उद्योगधन्धों का विकास न होगा, किसानो की हालत न सुधरेगी, जनता की निरक्षरता दूर न की जायगी और हिन्दीभाषी जनता अपना अलगाव दूर करके एक ही राज्य (या प्रान्त) में संगठित न होगी। जातीय चेतना और जातीय संस्कृति के विकास का बहुत गहरा संबन्ध इन सब बातों से है। सामाजिक जीवन

मे जब तक ये तमाम साधन न होगे, तब तक हिन्दी अपनी पूरी शक्ति से उन्नति न कर सकेगी।

शुक्लजी ने बताया कि कोश के सहारे अंग्रेजी का उल्था करके हिंदी नहीं लिखी जा सकती। ऐसे लोग "हिन्दी और संस्कृत के शब्द भर लिखते थे, हिन्दी भाषा नहीं लिखते थे।" इस रास्ते पर डा० नगेन्द्र, शिवदानसिह चौहान, अज्ञेय, धर्मवीर भारती जैसे लेखको ने अपनी आलोचना की भाषा मे यह तरक्की की है कि उनके बहुत से शब्द न हिंदी के होते है, न संस्कृत के। पहले के अंग्रेजीदाँ लेखको के वाक्य "अंग्रेजी भाषा की भावभंगी से परिचित लोग ही समझ सकते थे" लेकिन इन विद्वानो के लिये यह भी नही कहा जा सकता। कारण यह कि इलियट आदि इनके बहुत से अंग्रेज-अमरीकी धर्मगुरुओं की बात अंग्रेज और अमरीकी भी नही समझ पाते !

शुक्लजी ने हर बात में योरप की नकल करने का विरोध किया है। उनके रूपो को लेकर रूपवान बनने के बदले "अपने स्वतंत्र स्वरूप विकास" पर जोर दिया है। पच्छिम की चीजों का अध्ययन हम किस तरह करे, इसके बारे मे उन्होने लिखा है, "यदि हमे वर्त्तमान जगत् के बीच से अपना रास्ता निकालना है तो वहां के अनेक 'वादो' और प्रवृत्तियो तथा उन्हे उत्पन्न करने वाली परिस्थितियो का पूरा परिचय हमें होना चाहिये। उन वादो की चर्चा अच्छी तरह है, उन पर पूरा विचार हो और उनके भीतर जो थोड़ा-बहुत सत्य छिपा हो उसका ध्यान अपने साहित्य के विकास मे रखा जाय।" दूसरो से सीखते हुए अपने जातीय स्वरूप के विकास का यही रास्ता है। न तो अहंकार के मद मे अपने को ही सब कुछ समझना सही है, न अन्धे बन कर दूसरो की नकल करना सही है। अंधे बन कर नकल करने को शुक्लजी ने ठीक ही अनाड़ीपन और जंगलीपन कहा है।

अँगरेजी का गलत असर भाषा पर पड़ा। व्याकरण की तरफ लापर्वाही के अलावा "अपनी भाषा की प्रकृति की पहचान न रहने के कारण कुछ लोग उसका स्वरूप भी बिगाड़ चले है। वे अंग्रेजी के शब्द,

वाक्य और मुहावरे तक ज्यों-के-त्यों उठाकर रख देते हैं; यह नहीं देखने जाते कि भाषा हिन्दी हुई या और कुछ।" हिन्दी की अपनी प्रकृति है, उसको समझो, उसकी रक्षा करो, शुक्लजी ने बारबार यही सीख दी है।

अंग्रेजी का दूसरा ग़लत असर उपन्यासों की विषयवस्तु पर पड़ा। यहाँ लेखकों का एक ऐसा दल पैदा हुआ जो "देश के सामान्य भारतीय जीवन से हटकर बिलकुल योरपीय रहन-सहन के साँचे मे ढले हुए एक बहुत छोटे से वर्ग का जीवन-चित्र ही यहां से वहां तक अंकित करते हैं।" शुक्लजी के बाद ऐसे लेखकों की संख्या कुछ बढ़ी ही है, घटी नहीं। पहले अगर योरपीय रहन सहनवाले एक छोटे वर्ग का चित्रण होता था—लेकिन होता था हिन्दी मे—तो अब "नदी के द्वीप" के प्राणी अपने प्रेम का इजहार भी अंग्रेजी कविताओं द्वारा करते है! ये सब लेखक प्रेमचंद की जातीय परंपरा के विरोधी है। ये जातीय जीवन की धारा से दूर रेत पर सूखते हुए घोंघे है। प्रेमचन्द के लिये शुक्लजी ने लिखा था, "प्रेमचंद जी के उपन्यासों में भी निम्न और मध्यम श्रेणी के गृहस्थों के जीवन का बहुत सच्चा स्वरूप बराबर मिलता रहा।" इसीलिये जनता के सामान्य जीवन से दूर रहनेवाले लेखकों के लिये शुक्लजी ने लिखा है, "देश के असली सामाजिक और घरेलू जीवन को दृष्टि से ओझल करना हम अच्छा नही समझते।" शुक्लजी की यह बात सही है तो असली सामाजिक जीवन की उपेक्षा करनेवाले औरउसके बदले घटिया अँगरेजी उपन्यासों की नकल पर रोमांस रचने वाले लेखकों की बराबर आलोचना की जायगी और यह कार्य आवश्यक और उचित होगा।

आधुनिक अँगरेजी साहित्य मे जो निराशा और दुःखवाद के रुझान हैं, उनका भी घातक प्रभाव कुछ हिन्दी लेखकों पर पड़ा है। कुछ लोग हिन्दी के अभावों की पूर्ति के लिये दुःखवाद की मांग भी करने लगे। ऐसे लोगों को फटकराते हुए शुक्लजी ने लिखा, "बौद्धों के दुःखवाद का संस्कार किस प्रकार जर्मनी के शोपनहावर से होता हुआ हार्डी तक पहुँचा, यह भी जानना चाहिये।" शुक्लजी साहित्य में आशा,

उल्लास, जीवन मे आस्था, मानव-शक्ति मे विश्वास के हामी थे, निराशा-वाद, पस्ती और रोने-झीकने के नही। आधुनिक हिन्दी साहित्य का पहला युग अपनी जिन्दादिली के लिये प्रसिद्ध था। उसे अपने जातीय गुण की तरह साहित्य मे पल्लवित करना चाहिये, शुक्लजी की यही इच्छा थी।

शुक्लजी के अन्तरराष्ट्रीयतावाद का प्रमाण यह है कि पच्छिम के शुद्ध-कलावादियो और निराशावादियो का विरोध करते हुए उन्होने शैली और बर्न्स जैसे जनवादी कवियो की प्रशंसा की है। जहां अँगरेजी के पतनशील कवियो का विरोध किया है, वहां शेली की क्रान्तिकारी चेतना की दाद दी है, बर्न्स की सच्ची रोमांटिक भावधारा से सीखने पर जोर दिया है। उन्होने जर्मनी के भाववादी सौन्दर्यशास्त्रियों का खंडन किया है (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६८४), साथ ही वहां के महान् कवि गेटे की प्रशंसा भी की है। अच्छे कवि कुछ खास तरह के मतवाले नहीं होते, इस प्रसंग मे उन्होने लिखा है, "योरप मे गेटे और वर्ड्सवर्थ के समय तक 'मतवालेपन' और 'फक्कड़पन' की इस भावना का कवि और काव्य के साथ कोई नित्य सम्बन्ध नहीं समझा जाता था। जर्मन कवि गेटे बहुत ही व्यवहार-कुशल राजनीतिज्ञ था, इसी प्रकार वर्ड्सवर्थ भी लोक-व्यवहार से अलग एक रिंद नहीं माना जाता था।"

बंगाल के ग़लत प्रभाव से सावधान करते हुए शुक्लजी ने उसके सही प्रभाव का भी उल्लेख किया, वहां के साहित्यको से सीखने पर जोर दिया। बंगला से हिन्दी के कुछ लेखको ने अतिरंजित शैली और हिन्दी के लिये भोड़े शब्द लिये, वहां बंगला के प्रभाव से "बहुत ही परिमार्जित और सुन्दर संस्कृत पद-विन्यास की परंपरा हिन्दी मे आई, यह स्वीकार करना पड़ता है।" बंगला कविता के रहस्यवाद का विरोध करते हुए उन्होंने रवीन्द्रनाथ के लोकपक्ष का समर्थन किया है, "ऐतिहासक उपन्यास किस ढंग से लिखना चाहिये, यह प्रसिद्ध पुरातत्वविद् श्री राखालदास बंद्योपाध्याय ने अपने 'करुणा', 'शशांक' और 'धर्मपाल' नामक उपन्यासों द्वारा अच्छी तरह दिखा दिया।" शुक्लजी संकुचित राष्ट्रवादी नहीं थे।

उन्होने कहीं भी बंगाली होने से ही बंगालियों का विरोध नही किया। रहस्यवाद और संस्कृत-गर्भित शैली का विरोध करने के साथ उनकी कई विशेषताओ से सीखने पर भी जोर दिया है।

अरबी-फारसी शब्दों से लदी हुई उर्दू का उन्होंने विरोध किया है, साथ ही बाण और दण्डी की नकल पर चलने वाली गोविदनारायण मिश्र की हिन्दी का भी उन्होंने विरोध किया है। बालमुकुन्द गुप्त ने उर्दू से कुछ सीखा, यह उन्होंने स्वीकार किया। उन्होने न केवल जायसी आदि पुराने कवियों को—जिनकी पुस्तके फारसी लिपि मे थीं—वरन् नजीर जैसे बाद के और खड़ीबोली के कवि की चर्चा भी अपने इतिहास में की। उनके इस संकेत पर हिन्दी-उर्दू का मिलाजुला और विस्तृत अध्ययन करना जरूरी है।

इस तरह शुक्लजी ने हिन्दी की अपनी प्रकृति पहचानना सिखाया, अँगरेजी, संस्कृत या फारसी की बदौलत हिन्दी का लेखक बनने से सावधान किया, अँगरेजी के गलत रुझानो से बचते हुए उसकी प्रगतिशील धारा से सम्बन्ध जोड़ना सिखाया, भारत की दूसरी भाषाओ से नकल न करके उनकी उपयोगी विशेषताओ से सीखने का मार्ग दिखाया और सबसे बड़ा काम यह किया कि अँगरेजी भाषा और संस्कृत के दबाव के आड़े आकर हिन्दी के जातीय सम्मान की रक्षा की और अपनी रचनाओं से उसे और भी समृद्ध किया।

तीसरी समस्या कविता, नाटक, उपन्यास आदि साहित्य के विभिन्न रूपो की है। इनमे शुक्लजी को सबसे प्रिय कविता थी। अपने इतिहास मे उन्होने अधिकतर कवियो का ही विवेचन किया है; तुलसी, जायसी, और सूर पर उनकी पुस्तके और निबन्ध कवियो से ही सम्बन्धित हैं। उनके ज्यादातर सैद्धान्तिक विवेचन का आधार भी कविता है। किसी समय साहित्य शब्द काव्य का पर्यायवाची था। अब भी पूर्व और पच्छिम की बहुत सी आलोचना में काव्य को साहित्य और कला का पर्यायवाची मानकर विवेचन किया जाता है। कही-कही साहित्य को कथासाहित्य तक सीमित करके सिद्धान्त चर्चा करने का रुझान भी देखा

जाता है। "कविता क्या है?" जैसे निबंधो में शुक्लजी ने कविता के बारे में जो बाते कही है, वे प्रायः सब की सब साहित्य के दूसरे रूपो या अङ्गों पर भी लागू होती है।

कविता मे भी शुक्लजी प्रबन्ध-काव्य को श्रेष्ठ समझते थे। जायसी की भूमिका मे प्रबन्ध और मुक्तक की तुलना करते हुए शुक्लजी ने लिखा है, "यदि कोई इसके विचार का आग्रह करे कि प्रबन्ध और मुक्तक इन दो क्षेत्रों मे कौन अधिक महत्व का है, किस क्षेत्र मे कवि की सहृदयता और भावुकता की पूरी परख हो सकती है, तो हम बार-बार वही बात कहेगे जो गोस्वामी जी की आलोचना मे कह आये हैं अर्थात् प्रबन्ध के भीतर आई हुई मानव-जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओ के साथ जो अपने हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा सके वही पूरा और सच्चा कवि है।"

शुक्लजी की धारणा यूनानी विचारक अरस्तू से मिलती जुलती है। अरस्तू के लिये काव्य मानव-कर्मों की छवि है। मानवकर्मों के चित्रण से काव्य मे सहज नाटकीयता आ जाती है। यदि कविता केवल हृदय का उद्गारमात्र नही है वरन् मानव-जीवन का व्यापक दर्पण है तो उसमे घटनाओं, चरित्रो, स्थानो आदि का चित्रण और वर्णन अवश्य होगा। इस तरह की कविता मुक्तक भी हो तो वह नाटकीय होगी। सूर और मीरा के पदों मे, तुलसी, रसखान, रहीम आदि के छन्दो मे अधिकतर यही नाटकीयता पायी जाती है। इसके साथ ही सूर और तुलसी मे आत्मोद्गार भी हैं, न केवल पदो मे वरन् जगह-जगह रामचरितमानस जैसे प्रबन्ध-काव्य मे भी। शुक्लजी ने प्रबन्ध-काव्य को श्रेष्ठ बताकर साहित्य के इस महत्वपूर्ण रूप की ओर हिन्दी साहित्यकारो का ध्यान ठीक ही आकर्षित किया है। अँगरेजी की रोमांटिक कविता के प्रभाव से कविता को आत्मोद्गार मानने का चलन सा हो गया था। पूंजीवादी विचारधारा मे व्यक्तिवाद को जो प्रमुखता दी जाती है—जिसका अर्थ व्यक्तित्व का विकास नही होता क्योकि यह विकास भरेपूरे सामाजिक जीवन पर निर्भर है—उसका असर भी इस आत्मोद्गारवाद पर रहा है। शुक्ल जी ने साहित्य के लोकपक्ष पर जोर दिया है, उसका यह

सहज परिणाम है। फिर भी हर मुक्तक लिखने वाला कवि व्यक्तिवादी ही हो, यह जरूरी नहीं है। आत्मोद्गार का लोकपक्ष हो सकता है; स्वान्तःसुखाय और लोकहिताय मे कोई अनिवार्य शत्रुता नही है।

साहित्य के अन्य रूपों को देखते हुए हिन्दी में नाटको का विकास कम हुआ है। शुक्लजी ने हिन्दी नाटको की कुछ विशेषताएं बतलाई हैं। हिन्दी गद्य साहित्य के विकास मे नाटकों का भी हाथ रहा है। भारतेन्दु ने हिन्दी नाटको मे पुरानी पद्धति बहुत कुछ कायम रखते हुए उसमे आवश्यक सुधार भी किये। हिन्दी मे रंगमंच न होने से भारतेन्दु के बाद नाटको का उचित विकास न हो सका। शुक्लजी यह जरूरी समझते थे कि नाटक अभिनय के योग्य हो।

बदरीनारायण चौधरी के "भारत सौभाग्य" की आलोचना उन्होंने अभिनय को ध्यान मे रखते हुए की है। "पात्र इतने अधिक और इतने प्रकार के है कि अभिनय दुस्साध्य ही समझिए।"

शुक्लजी ने विदूषकों के परम्परागत हास्य को कैसे कृत्रिम बतलाया था, यह हम पहले देख चुके है। इतिहास मे गद्यसाहित्य की वर्तमान गति की चर्चा करते हुए उन्होने विदूषक-हास्य की तारीफ भी कर दी है। यहाँ वह हास्य और करुणा का विरोध दिखलाने और हास्य को आनन्दात्मक सिद्ध करने के फेर मे अपने यथार्थवादी आसन से डिग गये है। उन्होने यहाँ तक लिख दिया है, "दया या करुणा दुःखात्मक भाव है, हास आनन्दात्मक। दोनों की एक साथ स्थिति बात ही बात है।" मानव-जीवन मे करुणा और आनन्द का ऐसा विरोध नहीं दिखाई देता और शेक्सपियर जैसे नाटककारो की रचनाओ से भी यही सिद्ध होता कि घोर करुण नाटक मे भी हास्य गौण रूपमे रह सकता है। प्रसादजी के नाटको की आलोचना करते हुए शुक्लजी ने विदूषक की वैज्ञानिकता की धारणा वापस लेते हुए ठीक लिखा है, "एक बात बहुत अच्छी यह हुई है कि पुराने नाटको में दरबारी विदूषक नाम का जो फालतू पात्र रहा करता था, उसके स्थान पर कथा गति की सेसंबन्ध कोई पात्र ही हँसोड़ प्रकृति का बना दिया जाता है।" यहाँ वह अपनी प्रकृत यथार्थवादी भूमि पर

हैं। नाटक-रचना को स्वाभाविक बनाने के लिये यह जरूरी है कि "फालतू पात्र" के बदले "कथा की गति से सम्बद्ध" कोई पात्र रहे।

नाटक का उद्देश्य क्या है? हमारे यहाँ नाटक को भी काव्य कहा जाता रहा है। नाटक और काव्य के रूपो मे अन्तर क्या है? इन प्रश्नो का उत्तर शुक्लजी ने भारतीय साहित्य-शास्त्र का हवाला देकर नाटक का लक्ष्य बतलाते हुए दिया है, "उसका लक्ष्य भी निर्दिष्ट शीलस्वभाव के पात्रों को भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे डालकर उनके वचनो और चेष्टाओ द्वारा दर्शको मे रस-संचार कराना ही रहा है।" नाटक और काव्य, दोनो ही का उद्देश्य रस-संचार कराना है। पात्रो का भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे पड़ना नाटक और प्रबन्ध-काव्य दोनो ही की विशेषता है। लेकिन पात्रों के वचनो और चेष्टाओ द्वारा दर्शको मे रस-संचार करना नाटको की अपनी विशेषता है। जैसे काव्य-चर्चा मे, वैसे ही नाटक-चर्चा मे शुक्लजी ने रससिद्धान्त को सूत्ररूप मे ही लिया है, संस्कृत साहित्य मे उसके विशेष विस्तार को स्वीकार नही किया। रीतिकाव्य की तरह नाटक लिखने के लिये भी लक्षण-ग्रन्थ रचे गये थे। वास्तव मे काव्य से पहले नाटकों के बारे मे ही लक्षणग्रन्थो की रचना हुई थी। (नाटक को भी काव्य माना गया, वह दूसरी बात है)। संस्कृत नाटको पर रीतिग्रन्थो के प्रभाव का यह फल हुआ था, "पात्रो के धीरोदात्त आदि बँधे हुए ढाँचे थे जिनमे ढले हुए सब पात्र सामने आते थे। इन ढाँचो के बाहर शील-वैचित्र्य दिखाने का प्रयास नही किया जाता था।" बाण और दण्डी के गद्य के अलावा यह दूसरी जगह शुक्लजी ने संस्कृत साहित्य की रूढ़ि-विशेष का खण्डन किया है। साहित्य मे उन्होने कितनी दृढ़ता से रीतिग्रन्थो का विरोध किया है, उसी का यह एक और प्रमाण है। साथ ही यथार्थवाद के नाम पर नाटकों से काव्यत्व हटा दिया जाय, यह भी उन्हे सह्य नहीं है। योरप मे नाटक को जो शुद्ध गद्यात्मक बनाने की प्रवृत्ति रही थी, शुक्लजी उसे वांछनीय न समझते थे। नाटक मे काव्यत्व की रक्षा भी हो और चरित्र-विधान भी यथार्थ हो, हिन्दी नाटको के लिये उन्होने यही मार्ग ठीक बतलाया है। "हमारे यहाँ के पुराने ढांचों के भीतर शील-

वैचित्र्य का वैसा विकास नहीं हो सकता था, अतः उनका बंधन हटा कर वैचित्र्य के लिये मार्ग खोलना तो ठीक है, पर यह आवश्यक नही कि उसके साथ ही रसात्मकता भी हम निकाल दे ।

शुक्लजी के लिये काव्यत्व की रक्षा का अर्थ यह न था कि नाटक के पात्र गद्य काव्य ही मे बाते करे और मौके-बेमौके गाना गाने लगें। प्रसाद जी मे इस तरह के दोष दिखलाते हुए उन्होने लिखा है कि भावुकता की अधिकता से कथोपकथन कई स्थलो पर नाटकीय न होकर वर्तमान गद्य-काव्य के खंड हो गये है। "बीच-बीच मे जो गान रक्खे गये हैं वे न तो प्रकरण के अनुकूल है, न प्राचीन काल की भाव-पद्धति के।"

नाटक की कथावस्तु मे समय के अतिशय विस्तार को भी उन्होने अनुचित माना है। बीस-पचीस साल की अवधि नाटकों मे न होनी चाहिये। जो पात्र युवक के रूप मे नाटक के आरम्भ मे दिखाई पड़ें, वे नाटक के अन्त मे भी उसी रूप मे सामने आते है। इससे दर्शक यह शङ्का कर सकता है कि पचीस साल मे ये क्या वैसे ही बने हुए है ?

शुक्लजी ने कथावस्तु के गठन के सिलसिले मे एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही है। "बहुत से भिन्न-भिन्न पात्रो से सम्बद्ध घटनाओ के जुड़ते चलने का कारण बहुत कम चरित्रों के विकास का अवकाश रह गया है।" यह एक ऐसा दोष है जो नाटक के अलावा हिन्दी और अन्य भाषाओ के भी बहुत से उपन्यासो मे पाया जाता है। चरित्रो के विकास का अवकाश होना चाहिये, वर्ना वे चरित्र पाठको को याद नहीं रहते, उनके अविकसित रहने से उपन्यास अधूरा लगता है, पाठक को तृप्ति नहीं होती, वह लेखक की जल्दबाजी को कोसता है। इसीलिये वर्तमान नाटककारो और उपन्यास लेखको के लिये शुक्लजी का सूत्र इतना महत्वपूर्ण है।

शुक्लजी ने एक ओर जहाँ नाटक-रचना के पुराने बंधन ढीले करके उसमें शील-वैचित्र्य लाने पर जोर दिया है, वहाँ नाटक का रूप विकृत न हो, नाटक नाटक ही रहे, यह भी जरूरी समझा है। पन्तजी की

"ज्योत्स्ना" "शेली के ढँग पर "लिखी गई है। लेकिन शेली मे जहां "आधिदैविक शासन से मुक्ति और जगत् के स्वातंत्र्य का एक समन्वित प्रसङ्ग" है, वहाँ पंतजी मे "बहुत दूर तक केवल सौंदर्य-चयन करने वाली कल्पना मनुष्य के सुख-विलास की भावना के अनुकूल" सामग्री जुटाती है। पंत जी का यह मूल सौन्दर्यवादी—लोक-विमुख कलावादी—रूप है जिसका जिक्र शुक्लजी ने उनकी कविता के सिलसिले मे भी किया था। "उसके उपरान्त आजकल की हवा मे उड़ती हुई कुछ लोक-समस्याओ पर कथोपकथन हैं।" हवा मे उड़ती हुई—पंतजी के लोकवाद का उथलापन सूचित करने के लिये शुक्लजी की यह मार्मिक उक्ति है। वे लोक-समस्याएं पंतजी के लिये कितनी हवाई थी, यह अब पूरी तरह साबित हो गया है। पंतजी के सौन्दर्यवाद और हवाई लोकवाद के मेल से नाटक नहीं रचा जा सकता। "ज्योत्स्ना" के लिये शुक्लजी कहते है, "सब मिला कर क्या है, यह नही कहा जा सकता।"

रूढ़िवादियो और नैतिकतावादियो की तरह शुक्लजी ने उपन्यास को आलसियो का व्यसन और चरित्र बिगाड़ने का साधन नही समझा। वह उपन्यास को एक बहुत बड़ी शक्ति मानते थे, उसे समाज-सुधार का प्रबल अस्त्र समझते थे। साथ ही उन्होने उपन्यास की वह विशेषता भी परख ली थी जो उसे साहित्य के अन्य अङ्गो से अलग करती है। नाटक, उपन्यास आदि निर्माण-कला मे एक दूसरे से भिन्न हैं, यह तो सभी जानते है और इस पर बहुत कुछ लिखा गया है लेकिन ये रूप मानव-जीवन को किस तरह प्रतिबिम्बित करते है, यह प्रतिबिम्व सभी रूपो मे एकसा नहीं रह सकता, न रहता है, इसकी ओर बहुत कम लोगों का ध्यान गया है। शुक्लजी ने अपने इतिहास मे लिखा है, "वर्तमान जगत् में उपन्यासों की बड़ी शक्ति है। समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों मे जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न करते हैं।" उपन्यास की विशेषता है, विस्तृत प्रत्यक्षीकरण। उपन्यास में जितने

विस्तार से समाज की गतिविधि का चित्रण किया जा सकता है, उतने विस्तार से न तो कविता में संभव है, न नाटक मे। यही कारण है कि साहित्य मे यथार्थवाद के विकास के साथ-साथ उपन्यास भी उसका मुख्य रूप बन गया है। यह एक सूत्र हुआ। दूसरा सूत्र यह है कि उपन्यासकार का कर्तव्य है कि व्यक्तिवाद के दायरे मे चक्कर न लगाकर "भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही है" उनका चित्रण करे। ऐसा न करने पर उपन्यास मे विस्तृत प्रत्यक्षीकरण असंभव है। वर्गों का उल्लेख आकस्मिक नही है। कथावस्तु और उद्देश्य के अनुसार उपन्यासो का विभाजन करते हुए उन्होंने एक क़िस्म यह बतलाई है, "समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों की परस्पर स्थिति और उनके संस्कार चित्रित करने वाले, जैसे प्रेमचन्दजी का 'रङ्गभूमि', प्रसादजी का 'कंकाल', 'तितली'।" प्रेमचन्द और प्रसाद के उपन्यासो मे शुद्ध मानव-चित्रण के बदले वर्गों की परस्पर स्थिति पर विचार करना शुक्लजी की आलोचना-पद्धति के खिलाफ नहीं है, उसके अनुकूल है। जिन लोगो को वर्ग शब्द ही मे मार्क्सवाद और रूस की गन्ध आने लगती है, वे शुक्लजी के वाक्य पर गंभीरता से विचार करे। उनके वाक्य मे संस्कार शब्द भी बड़े मार्के का है। संस्कारो के चित्रण के बिना वर्गों और उनके प्रतिनिधियो की संस्कृति समझ मे नही आ सकती; उपन्यास गहराई से सामाजिक जीवन का चित्र नहीं दे सकता।

शुक्लजी का आग्रह था कि उपन्यासकार अपना ध्यान सर्वसामान्य जीवन पर केन्द्रित करें। थोड़े से लोगों के विशेष प्रकार के जीवन का चित्र देकर कोई बड़ा उपन्यासकार नहीं बन सकता। "देश के असली सामाजिक और घरेलू जीवन को दृष्टि से ओझल करना हम अच्छा नही समझते।" इस कसौटी पर उन्होने प्रेमचन्द के यथार्थ-चित्रण की तारीफ़ की है; इसी कसौटी पर बंगला से अनुवादित उन उपन्यासो की तारीफ़ की है जिनमें "देश के सर्वसामान्य जीवन के बड़े मार्मिक चित्र रहते थे।" भारतीय उपन्यासों की यह प्रगतिशील और मौलिक प्रवृत्ति है। इसके विरुद्ध मुट्ठी भर साधन-सम्पन्न व्यक्तियो की विकृत कामवासनाओ का

चित्रण करने वाले उपन्यास कभी भी भारतीय साहित्य का प्रतिनिधित्व नही कर सकते ।

शुक्लजी ने ऐतिहासिक उपन्यासो को रोमांटिक कल्पना का खेल नही माना, वे अतीत को गलत-सही ढंग से रंग चुन कर पेश करने का साधन न बनने चाहिये । जिस युग का भी चित्रण करना है, लेखक को उसकी सामाजिक स्थिति और संस्कृति का ज्ञान जरूर होना चाहिये । उन्होने लिखा है, "जब तक भारतीय इतिहास से भिन्न भिन्न कालो की सामाजिक स्थिति और संस्कृति का अलग अलग विशेष रूप से अध्ययन करने वाले और उस सामाजिक स्थिति के सूक्ष्म ब्यौरो की अपनी ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उद्भावना करने वाले लेखक तैयार न हो तब तक एतिहासिक उपन्यासो मे हाथ लगाना ठीक नही ।" भिन्न भिन्न कालो की सामाजिक स्थिति, अलग-अलग विशेष रूप से अध्ययन, सूक्ष्म ब्यौरो की उद्भावना—शुक्लजी ऐतिहासिक उपन्यास लिखना बहुत ही जिम्मेदारी का काम समझते थे । यहां भी उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रधान है; ऐतिहासिक उपन्यासो का मूल उद्देश्य सामाजिक स्थिति और संस्कृति का चित्रण है । कल्पना इस काम मे सहायक होती है लेकिन सबसे पहले जरूरी है किसी भी युग का विशेष अध्ययन । इस कसौटी पर श्री वृंदावन लाल वर्मा के उपन्यासो को परखते हुए शुक्लजी ने लिखा है, "उन्होने भारतीय इतिहास के मध्ययुग के प्रारंभ मे बुंदेलखंड की स्थिति लेकर 'गढ़ कुंडार' और 'विराटा की पद्मनी' नामक दो बड़े सुन्दर उपन्यास लिखे है । विराटा की पद्मिनी की कल्पना तो अत्यंत रमणीय है ।" यहाँ शुक्लजी ने वर्माजी की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है, मध्ययुग का ज्ञान, बुंदेलखंड की स्थिति का विशेष ज्ञान और रमणीय कल्पना । वर्माजी के उपन्यासो की सजीवता का कारण बुंदेलखण्ड के जनजीवन और इतिहास की जानकारी और उससे प्रेम है, इसमे सन्देह नही । प्रेमचन्द के साथ वह इस युग के श्रेष्ठ भारतीय साहित्यकारो मे से हैं ।

शुक्लजी ने उपन्यासो के मुकाबले में कहानियों के विकास को "और भी विशद और विस्तृत" बतलाया है, इस विकास मे "कवियों का भी

पूरा योग रहा है", यह विशेषता बतलाई है। पच्छिमी कहानीशास्त्र के आधार पर हिन्दी कहानियो की छानबीन करने वालो को सावधान करते हुए उन्होने लिखा है, "उनके इतने रूप-रंग हमारे सामने आए हैं कि वे सब अब पाश्चात्य लक्षणो और आदर्शों के भीतर नहीं समा सकते।"

उपन्यासों की तरह शुक्लजी निबन्धो को भी साहित्य का बहुत ही महत्वपूर्ण अंग मानते थे। "यदि गद्य कवियों या लेखको की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक संभव होता है।" कारण यह कि उपन्यास या कहानी की तरह लेखक पर कथावस्तु आदि का प्रतिबंध नही रहता। अंग्रेजी मे जो लेखक अपने गद्य के लिये प्रसिद्ध है, वे प्रायः निबन्धकार हैं। अंग्रेजी गद्य को बहुत कुछ व्यवस्थिति करनेवाले एडीसन और स्टील निबन्ध-लेखक ही थे। इसी विचार से उन्होंने प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट के लिये लिखा है कि इन्होने "हिन्दी गद्य-साहित्य में वही काम किया है जो अंग्रेजी गद्य-साहित्य मे ऐडीसन और स्टील ने किया था।" पच्छिम के व्यक्तिगत विशेषता वाले निबन्धो को कुछ शर्तों के साथ उन्होने ग्राह्य माना है। व्यक्तिगत विशेषता का यह अर्थ न होना चाहिये कि "विचारो की शृङ्खला रखी ही न जाय" या "लोकसामान्य स्वरूप से कोई संबन्ध ही न रखे"। निबन्ध लेखक को—वैज्ञानिक के विपरीत—"अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छद गति से" विचरने की सुविधा होनी चाहिये लेकिन कहने के लिये उसके पास कुछ महत्व की बात भी होनी चाहिये। "जहाँ गतिशील अर्थ की परंपरा नहीं," वहाँ निबन्ध अपना साहित्यिक रूप खोकर सिर्फ एक तमाशा बन जायगा। शुक्लजी ने भारतेंदु युग मे निबन्धो के विकास का उल्लेख करते हुए बाद को अच्छे निबन्ध न लिखे जाने पर खेद प्रकट किया है। हिन्दी मे यदि कुछ अपनी विशेषताएँ लिये हुए निबन्ध-रचना का कार्य आगे बढ़ाना है, तो भारतेंदु युग के निबन्ध साहित्य का अध्ययन करके उस परंपरा का उद्धार करना जरूरी होगा।

साहित्य के रूपों के सिलसिले में आखिरी बात आलोचना के बारे मे करनी है। शुक्लजी स्वयं आलोचक थे, इसलिये इस विषय पर उन्होंने विस्तार से विचार किया है। यहाँ उन्होंने रूढ़िवाद का बहुत ही स्पष्ट और तीव्र खण्डन किया है। बालकृष्ण भट्ट आदि लेखकों को उन्होंने नयी आलोचना का जन्मदाता कहा है। शुक्लजी से पहले यह नयी आलोचना बहुत ही अविकसित दशा मे थी। जो आलोचना फली-फूली थी, वह रीतिकालीन परम्परा का ही विस्तार थी। शुक्लजी ने इस निर्जीव परम्परा के खण्डन की ओर विशेष ध्यान दिया। इसकी थोड़ी सी चर्चा रीतिकाव्य वाले अध्याय मे हो चुकी है। संस्कृत साहित्यालोचन की सीमाएं बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि इसका उद्देश्य लक्षण ग्रन्थो के अनुसार गुण-दोष-विवेचन होता था। एक आचार्य दूसरे का खण्डन करना चाहता था तो उसके प्रशंसित पदो को दोष दिखाने के लिये उद्धृत करता था और जिन्हें खुद अच्छा समझता था, उन्हे रस, अलङ्कार आदि का उदाहरण बनाता था। "साहित्य-दर्पणकार ने शृङ्गार रस के उदाहरण मे 'शून्यं वासगृहं विलोक्य' यह श्लोक उद्धृत किया। रस-गंगाधरकार ने इस श्लोक मे अनेक दोष दिखलाए और उदाहरण मे अपना बनाया श्लोक भिड़ाया।" संस्कृत-आलोचना मे जहाँ इस तरह की रूढ़ियाँ हैं, वहाँ उनसे बाहर विशद सैद्धान्तिक चर्चा और अनेक कवियों की प्रतिभा की मार्मिक व्याख्या भी है। इस सिलसिले मे अभिनवगुप्त, मम्मट और मल्लिनाथ का नाम लेना काफी होगा।

हिन्दी की रूढ़िवादी आलोचना के बारे मे उनका यह मत ज्यादा सही है कि "मिश्रबंधुओ और पंडित पद्मसिह शर्मा ने अपने ढंग पर कुछ पुराने कवियों के सम्बन्ध मे विचार प्रकट किए। पर यह सब आलोचना अधिकतर बहिरङ्ग बातो तक ही रही। भाषा के गुणदोष, रस, अलंकार आदि की समीचीनता, इन्ही सब परम्परागत विषयों तक पहुँची।" इस तरह की आलोचना कवि-प्रतिभा की मार्मिक व्याख्या करने मे असमर्थ थी। पण्डितों में प्रचलित पुराने ढंग की आलोचना की मिसाल उन्होंने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से दी है। संस्कृत कवियों पर उनकी रच-

नाओ के बारे में लिखा है, "इनमे कुछ तो पंडित-मण्डली मे प्रचलित रूढ़ि के अनुसार चुने हुए श्लोकों की खूबियों पर साधुवाद है (जैसे, क्या उत्तम उत्प्रेक्षा है !) और कुछ भिन्न विद्वानो के मतों का संग्रह ।" एक मोहल्ले की बात दूसरे मोहल्ले वालों को मालूम हो गई, इस तरह की आलोचना का इतना ही मूल्य शुक्लजी ने स्वीकार किया है ।

मिश्रबंधुओं के "हिंदी नवरत्न" को एक ही वाक्य-बाण से बेधते हुए उन्होने लिखा है कि इसमे "सबसे बढ़कर नई बात यह थी कि 'देव' हिंदी के सबसे बड़े कवि है ।" देव-बिहारी विवाद नयी आलोचना के विकास के लिये कितना निरर्थक था, यह शुक्लजी ने विस्तार से दिखाया है । इसका कारण यह है कि इस विवाद से साहित्य की उन मूल समस्याओं का समाधान न होता था, वरन् उनसे ध्यान हट जाता था, जो नये हिंदी साहित्य के विकास के सिलसिले मे उठ रही थीं । हिन्दी आलोचना का मौलिक कर्तव्य यह था—और शुक्लजी ने उसे पूरा किया—रीतिशास्त्र के बदले यथार्थवाद के अनुकूल नये साहित्य-सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा, रूढ़िवादी साहित्य का विरोध और नये राष्ट्रीय और जनवादी साहित्य का समर्थन । इस कर्तव्य को ध्यान मे रखते हुए ही शुक्लजी ने दूसरे आलोचकों की नुक्ताचीनी की थी । पद्मसिंह शर्मा की अनूठी शैली, विद्वत्ता आदि की प्रशंसा करने के बाद उन्होने लिखा है, "शर्म्माजी की यह समीक्षा भी रूढ़िगत ( Conventional ) है ।" वह दूसरे शृङ्गारी कवियो से भिन्न बिहारी की विशेषताएं नही दिखा पायी, उनकी "अंतः प्रवृत्तियो के उद्‌घाटन" का प्रयत्न नहीं कर पायी और इसमें सबसे बड़ा दोष था, "बिना जरूरत के जगह जगह चुहलबाजी और शाबाशी का महफिली तर्ज़ ।"

पुरानी रूढ़ियों के साथ कुछ नयी रूढ़ियो का भी जन्म हो रहा था । आलोचना मे संगत तर्क-पद्धति की जगह गद्य-काव्य रचने की प्रवृत्ति भी बढ़ रही थी । "कविता देवलोक के मधुर संगीत की गूंज है," इस तरह के वाक्यों का मजाक उड़ाते हुए शुक्लजी ने "घोर विचार-शैथिल्य

और बुद्धि का आलस्य फैलने" के खतरे से हिन्दी लेखकों को सावधान किया है।

शुक्लजी ने आलोचना के रूप पर विचार करते हुए अलंकार और रस-निरूपण वाली पद्धति की सीमाएं बतलाईं, साहित्य की मार्मिक व्याख्या करने पर जोर दिया, आलोचना को गद्य काव्य बनने से बचा कर उसे तर्क-योजना के सहारे आगे बढ़ने का मार्ग दिखाया। "भावुकता की सजावट" और आलोच्य विषय के चारो ओर "चमचमाता वाग्जाल" बिछाने वालो की संख्या कम नहीं हुई, कुछ बढ़ी है। इसलिये शुक्लजी की सीख पर बराबर ध्यान देना अब भी आवश्यक है।

---

# निबन्ध-रचना, शैली और व्यक्तित्व

"चिन्तामणि" मे शुक्लजी के दस निबन्ध ऐसे हैं जिनका संवन्ध मुख्यतः मनोविज्ञान से है। ये निबन्ध शुक्लजी के साहित्यालोचन का मनोवैज्ञानिक आधार स्पष्ट करते है। हम पहले देख चुके हैं कि शुक्लजी की आलोचना-पद्धति न तो रीतिशास्त्रों का अनुसरण करती है, न पच्छिम के काव्यशास्त्र का। इसलिये मनोविज्ञान के बारे मे उनकी स्थापनाएं और भी दिलचस्प हो जाती हैं। इनमे न तो शुक्लजी ने रीतिशास्त्र के भाव-विवेचन को अपना आधार बनाया है, न पच्छिम के मनोविज्ञान को। उनकी स्थापनाएँ मौलिक है और न केवल साहित्य-शास्त्र को, वरन् मनोविज्ञान और समाजशास्त्र को भी महत्वपूर्ण देन है।

पच्छिम के मनोविज्ञान की मूल प्रवृत्ति व्यक्तिवाद को लेकर चली है। उनका मुख्य रुझान व्यक्ति को समाज से, उसके वर्ग से अलग करके उसके मनोविकारों का अध्ययन करना रहा है। मनोविज्ञान की कुछ धाराएँ जड़ भौतिकवाद को लेकर चली है। वैज्ञानिक भौतिकवाद के विपरीत ये धाराएं मनुष्य को निष्क्रिय पदार्थ मानकर, उसकी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति और चिंतन को कोई जगह न देकर उसे परिस्थितियो का नपा-तुला परिणाम मात्र मान लेती हैं। बिहेवियरिस्टधारा यांत्रिक भौतिकवाद

की धारा है जो मनुष्य की हर क्रिया को परिस्थितियो की प्रतिक्रिया मान कर चलती है। इसी अवैज्ञानिक विचारधारा से मिलती-जुलती फ्रायड आदि का मनोविश्लेषण है जो प्रायः मनुष्य की हर क्रिया के पीछे उसकी दमित कामवासना का खेल देखती है। भारतीय भाववादी दर्शन का रुझान ज्ञान और भावना को मनुष्य के सामाजिक जीवन, उसके सामाजिक व्यवहार से अलग करके देखने का है। यह रुझान भारतीय दर्शन की एकमात्र धारा नहीं है। हमारे दर्शन मे वस्तुवाद की ओर उन्मुख और धाराएँ भी है लेकिन रीति-शास्त्र पर इनका प्रभाव नही पड़ा, मुख्य प्रभाव भाववादी दर्शन का पड़ा है। नतीजा यह कि इस तरह के दर्शन से जो मनोविज्ञान और साहित्य-शास्त्र प्रभावित होगा, वह भावों का संबन्ध मनुष्य के व्यवहार से न जोड़ सकेगा, वह यह न दिखला सकेगा कि भावों का सामाजिक आधार क्या है, कौन से भाव अच्छे है, कौन से बुरे, भावो का सामाजिक परिणाम क्या होता है, उनका प्रभाव मनुष्य के सामाजिक जीवन पर क्या पड़ता है, इत्यादि। उनकी प्रवृत्ति साहित्य को लोक जीवन से अलग करके देखने, रस या आनन्द को मानव-संस्कारों से दूर रखने, शुद्ध कला या लोकोत्तर आनन्द की व्याख्या करने की ओर होगी। शुक्लजी का मनोविज्ञान और साहित्य-शास्त्र इससे विरोधी दशा में विकसित होता है।

मनुष्य के हृदय मे भाव क्यों पैदा होते हैं ? इनका सम्बन्ध किसी शुद्ध आत्मा या अशुद्ध माया नाम की वस्तु से है या इनका स्रोत मनुष्य के सामाजिक व्यवहार, उसके भौतिक जीवन मे ढूंढ़ना चाहिये ? शुक्लजी का कहना है, "संसार-सागर की रूप-तरङ्गों से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसी की रूप-गति से उसके भीतर विविध भावो या मनोविकारों का विधान हुआ है।" (रसात्मक बोध के विविध रूप)।

मनुष्य के भावो का विधान संसार की रूप-गति से हुआ है। उनका आधार मनुष्य का भौतिक जीवन है, उससे अलग हम शुद्ध आत्मा की तरह विशुद्ध भावों या "इंस्टिंक्ट" की कल्पना नहीं कर सकते। बहुत से पच्छिमी विचारको का "इंस्टिंक्ट"—यानी अपरिवर्तन शील मूल भाव

—आत्मा का ही पर्यायवाची है। शुक्लजी के लिये ऐसे अपरिवर्तनशील भावो की सत्ता नही है। भावो की सत्ता अनुभूति पर निर्भर है और अनुभूति विषयवस्तु के बिना, बाह्य जगत् के बिना नहीं होती। मनुष्य की काल्पनिक अनुभूति भी बाह्य जगत् की ही प्रतिच्छवि रहती है। कारण यह है कि "मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है।" (काव्य मे रहस्यवाद)।

सत्ता का ज्ञान विशुद्ध आत्मानुभूति नहीं है वरन् लोकबद्ध है। कविता का विकास—मनुष्यों के भावो और उनकी व्यंजना का विकास—लोक के ही भीतर होता है, इसलिये भावो मे जो विभिन्नता दिखाई देती है, वह लोक की ही विभिन्नता, मनुष्य के व्यवहार और बाह्य जगत् की विभिन्नता का ही परिणाम है।

"अनुभूति के द्वंद्व ही से प्राणी के जीवन का आरंभ होता है।" (भाव या मनोविकार)। यह द्वंद्व सुख और दुख का है। "मूल अनुभूति ही विषय-भेद के अनुसार" नये नये भाव पैदा करती है। भाव की विभिन्नता दो कारणों से होती है, मनुष्य की इच्छा से और विषयबोध से। आत्मगत और वस्तुगत दोनो ही तरह के कारणो से भावो का विकास होता है। यदि आत्मगत कारण न हो तो मनुष्य दर्पण की तरह यांत्रिक ढंग से वस्तुगत व्यापारों को ही प्रतिबिंबित करता रहे। शुक्लजी ने लिखा है, "विषय-बोध की विभिन्नता तथा उससे संबन्ध रखनेवाली इच्छाओं की विभिन्नता के अनुसार मनोविकारो की अनेकरूपता का विकास होता है।" इस तरह भावों की कोई विशुद्ध आत्मगत सत्ता नहीं है; उनकी विभिन्नता का विकास विषय-बोध पर भी निर्भर है। मनुष्य के भाव उसके सामाजिक जीवन से किस तरह उत्पन्न होते हैं, इसकी एक मिसाल ईर्ष्या है। ईर्ष्या के बारे मे शुक्लजी ने लिखा है, "ईर्ष्या सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक विष है।" इसी तरह उत्साह को लीजिये। "साहस-पूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है। कर्म-सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते है।" यहां भी उत्साह का संबन्ध मनुष्य

के व्यवहार से है। इसी तरह श्रद्धा वह आनन्द-पद्धति है जो "किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण वा शक्ति का विकास देख" कर पैदा होती है। यहां भी उसका वस्तुगत कारण मौजूद है। करुणा का तो कहना ही क्या ? "जब बच्चे को संबन्धज्ञान कुछ-कुछ होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नीव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते है।" यह संबंध-ज्ञान न हो, बाह्यजगत् का बोध न हो तो करुणा का भी अस्तित्व न हो। व्यक्तिगत दुख की अनुभूति से करुणा को अलग करते हुए शुक्लजी ने लिखा है, "पर दूसरो की पीड़ा, वेदना देख जो 'करुणा' जगती है, उसकी अनुभूति सच्ची रसानुभूति कही जा सकती है।" (रसात्मक बोध के विविध रूप)। करुणा लोकजीवन से विमुख एकान्तवासी कवियो की आत्मानुभूति नही है, वह दूसरों की पीड़ा देखकर जगती है, उसके संचार के लिये दूसरों का अस्तित्व भी जरूरी है।

मनुष्य के हृदय मे लज्जा क्यो पैदा होती है ? जब उसे यह आशंका होती है कि "दूसरो के चित्त मे" उसके प्रति बुरी धारणा है, तब उसकी वृत्तियों का संकोच होता है और वही लज्जा है। इस तरह लज्जा का जन्म भी लोक-व्यवहार मे होता है। लोभ कब पैदा होता है ? जब किसी सुख देने वाली "वस्तु के संबन्ध मे" प्राप्ति की इच्छा पैदा होती है। "अरुचिकर विषयों के उपस्थित होने पर" घृणा पैदा होती है। "किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के कारण के साक्षात्कार से" भय पैदा होता है। "दुःख के चेतन कारण या अनुमान से" क्रोध पैदा होता है। सारांश यह कि हर मनोविकार का कोई न कोई वस्तुगत कारण होता है। काव्य का संबन्ध मनोविकारो से है और मनोविकारो का संबन्ध मनुष्य के व्यवहार-जगत् से। इसलिये व्यवहार-जगत् का ज्ञान प्राप्त किये बिना, उससे भावात्मक संबन्ध स्थापित किये बिना कोई भी शुद्ध आत्मानुभूति के बल पर कवि नहीं बन सकता। शुक्लजी के साहित्यालोचन का यह वस्तुवादी सूत्र है, "शब्द-काव्य की सिद्धि के लिये वस्तु-काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है।"

भावों के वस्तुगत कारण हैं। उनका आधार मनुष्य का व्यवहार-

जगत् है लेकिन वे उत्पन्न होते है मनुष्य मे ही। भाव-धारणा की यह क्षमता मनुष्य के ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। शुक्लजी ने कई जगह पशुओ और मनुष्यो में भेद करते हुए मानव के विकास के साथ उसका ज्ञान-प्रसार और भाव-प्रसार बढ़ता हुआ दिखाया है। "कविता क्या है" नाम के निबन्ध मे उन्होंने लिखा है, "पर मनुष्य मे ज्ञान-प्रसार के साथ भाव-प्रसार भी क्रमशः बढ़ता गया है।" यह भाव-प्रसार क्रमशः बढ़ा है, अकस्मात् मनुष्य इस भावप्रसार के साथ पैदा नहीं हो गया। मनुष्य अपने विकासक्रम में कुछ संस्कार पूर्वजो से पाता है, कुछ अपने नये अनुभवो से संचित भी करता जाता है। ऐसा न हो तो उसके कुछ आदिम संस्कार ही बने रहे, उनसे वह आगे न बढ़े। "काव्य मे प्राकृतिक दृश्य" नाम के निबन्ध मे शुक्लजी ने लिखा है, "पूर्वजनो की दीर्घ परंपरा द्वारा चली आती हुई जन्मगत वासना के अतिरिक्त जीवन मे भी बहुत से संस्कार प्राप्त किये जाते है।" मनुष्य को आज जो भावना-शक्ति मिली है, वह एक दीर्घ परंपरा का फल है और अपने नये संस्कार जोड़कर मनुष्य उसे आगे भी बढ़ाता चलता है। मनुष्य की वासना, सहृदयता, उसकी रस-ग्राहिका शक्ति के विकास का यह वैज्ञानिक सिद्धांत है। शुक्लजी ने संस्कृत के रस-शास्त्रियो की वासना को स्थिर और शाश्वत न मानकर उसे एक ऐतिहासिक विकास का परिणाम स्वीकार किया है। इस तरह भावो में बाह्य जगत् के अलावा मनुष्य की जिस आत्मगत चेतना, इच्छा आदि का योग रहता है, उसकी भी एक वस्तु-गत सत्ता है, वह भी ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। विषय-वस्तु के विचार से भी और मनुष्य की अपनी इच्छा के विचार से भी भाव की वस्तुगत सत्ता सिद्ध होती है, इसलिये भावो को प्रकट करने वाली कविता भी एक वस्तुगत व्यापार है जिसका वैज्ञानिक अध्ययन संभव है।

भाव का संबन्ध किसी शाश्वत आत्मा से नही है, इसी कारण विभिन्न मनुष्यो और वर्गों मे रुचि की भिन्नता दिखाई देती है। रुचि की समानता का आधार मानव-जीवन की समानता है। मानव-जीवन की विषमता से रुचि की विषमता भी पैदा होती है। "भाव या मनोविकार" में

शुक्लजी शासकवर्ग का जिक्र करते है जो भावों का उपयोग "अपनी रक्षा और स्वार्थसिद्धि के लिये भी" करते आये है, "उसी प्रकार धर्म-प्रवर्तक और आचार्य अपने स्वरूप-वैचित्र्य की रक्षा और अपने प्रभाव की प्रतिष्ठा के लिए भी।" इसलिये जन-साधारण का भाव-व्यापार वही नहीं है जो शासको और धर्माचार्यों का होता है। रुचि का वर्ग-आधार, वर्गों द्वारा भावो का उपयोग शुक्लजी के इन दो वाक्यो मे बहुत अच्छी तरह प्रकट हुआ है। "शासकवर्ग अपने अन्याय और अत्याचार के विरोध की शांति के लिए भी डराते और ललचाते आए हैं। मत-प्रवर्तक अपने द्वेष और संकुचित विचारो के प्रचार के लिए भी जनता को कँपाते और लपकाते आए है।" यह द्वेष और संकुचित विचार कहाँ से पैदा होते हैं? मत-प्रवर्तको और शासको के स्वार्थमय जीवन से। उनका जीवन जनसाधारण से भिन्न है। एक अत्याचार और अन्याय करने वाला है, दूसरा सहनेवाला है। इसी विषमता के कारण उनकी रुचि मे भी विषमता होती है। इसलिये "कविता क्या है" मे "अर्थागम से हृष्ट" ज्योतिषियों, कर्मकाण्डियों, बनियो और दलालो, अमलों और मुख्तारों को कवि और साहित्यकार निठल्ले और खब्तुलहवास लगते है, इस रुचि भेद का कारण सामाजिक जीवन की असमानता है। यह असमानता अखंड और निरपेक्ष नही होती; असमानता के साथ बहुत सी सामनता भी कायम रहती है। यही कारण है कि बहुत सी बातों मे रुचि की असमानता के साथ कुछ बातो मे रुचि की समानता भी मिलती है। उसी निबंध में शुक्लजी ने कविता पर अत्याचार की बात कही है, लोभियों और स्वार्थियों द्वारा उसके गला दबाये जाने की बात कही है, केशव आदि के विवेचन में राजदरबारों के कुसंस्कारो का उल्लेख किया है—यह सब सिद्ध करता है कि मनुष्य की रुचि का आधार उसके जीवन की परिस्थितियां है। रुचि के वर्ग-आधार का यह अर्थ नहीं होता कि मनुष्य की अपनी इच्छा-शक्ति की कोई भूमिका नहीं होती। इच्छाशक्ति परिस्थितियो से प्रभावित होती है लेकिन जिनका मनोबल दृढ़ होता है, वे अपने वर्ग की परिस्थितियों से ऊपर भी उठ सकते हैं और उठ जाते हैं।

रुचि और भावना का आधार पहचानने के कारण ही शुक्लजी ने सामन्ती संस्कारो और सामन्ती साहित्यशास्त्र का बारबार खंडन किया है। भावना और नैतिकता का गहरा संबन्ध है। मनुष्य के कर्मों की नियामक शक्ति बुद्धि से ज्यादा उसके भाव, उसके संस्कार होते है। शुक्ल जी ने सामन्ती और पूँजीवादी वर्गों की रुचि और नैतिकता का तीव्र खंडन किया है। "गेरुआ वस्त्र लपेटे धर्म का डंका" पीटने वाले, "देश-हितैषिता का लंबा चोगा पहने" देशोद्धार की पुकार करने वाले उन्हे धोखा नही दे सकते। (श्रद्धा-भक्ति)। दूसरों की श्रद्धा के लिये ललकने वाले धूर्तों को उन्होने कड़ी फटकार बतलाई है। इनके लिये श्रद्धा ठग-विद्या का ही दूसरा नाम है। दूसरो के कर्मों के लिये सच्ची सम्मान भावना से उसका कोई सम्बन्ध नही है। शुक्लजी ऐसे ठगो पर व्यंग्य करते हुए लिखते है, "परश्रद्धाकर्षण की विद्या की भी आजकल खूब उन्नति हुई है। आश्चर्य नही कि इसके लिए कुछ दिनो मे एक अलग विद्यालय खुले।" यह व्यापार-युग है। यहाँ हर चीज़ बिकती है, "तब श्रद्धा ऐसे भाव क्यो न बिके ?" पूंजीवादी वर्ग बिकाऊ माल के सहारे जीता है। यह उसका वर्गधर्म है, उसकी वर्ग-नैतिकता है। इस लिये वह श्रद्धा को भी बिकाऊ माल बना डालता है। और व्यापार-युग से पहले दान-दक्षिणा का युग था। पंडो और पुरोहितो की संस्कृति यह है कि श्रद्धा का अर्थ दक्षिणा हो गया है। यजमान कहता है, इतनी ही श्रद्धा है और पंडे कहते हैं, जितनी श्रद्धा हो, उतना दो, "यद्यपि इन पंडों और पुरो-हितो के संबन्ध मे सदा यह निश्चय नहीं रहता कि वे बड़े विद्वान्, बड़े धार्मिक या बड़े परोपकारी है।" ( उप० ) धर्म के नाम पर श्रद्धा का व्यापार यहाँ भी होता है।

लोक-दिखावे के लिये धनी व्यक्ति सदाचार का ढोंग रचते है, दूसरो पर दया का अभिनय करते है ! लेकिन वे भूल जाते हैं कि "मनोवेग-वर्जित सदाचार दंभ या झूठी कवायद है।" (करुणा)। इसी तरह निःसंकोच होकर अपने संकोची होने का दावा करनेवालों को शुक्लजी ढोंगी कहते हैं। हमारे यहाँ के समाज में ऊँचनीच का भेद रहा है। जो

आदर और सम्मान के योग्य हैं, वे आदर पायें लेकिन जनता को दबाकर जब आदर पाने का एक पेशा बन जाता है, तब उस समाज-व्यवस्था को जीर्ण-शीर्ण समझ लेना चाहिये। शुक्लजी कहते है, "जिस जाति मे इस छोटाई-बड़ाई का अभिमान जगह-जगह जमकर दृढ़ हो जाता है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच स्थायी ईर्ष्या स्थापित हो जाती है और संघ-शक्ति का विकास बहुत कम अवसरो पर देखा जाता है।" (ईर्ष्या)। ईर्ष्या का यह सामाजिक आधार हुआ। संघशक्ति का तभी विकास हो सकता है जब वर्गों के बीच की यह विषमता न रहे। लेकिन विषमता घटने के बदले और बढ़ती जाती है। उसका बढ़ना एक वस्तुगत क्रम है, वह कुछ लोगो की व्यक्तिगत इच्छा का परिणाम नही है। उसका निवारण वर्गहीन समाज के निर्माण से ही संभव है। शुक्लजी ने लिखा है, "किसी अवध के ताअल्लुकेदार के लिये बड़ाई का यह स्वांग दिखाना आवश्यक नहीं है कि वह जब मन मे आए तब कामदार टोपी सिर पर रख, हाथी पर चढ़ गरीबो को पिटवाता चले।" (ईर्ष्या)। टोपी बदल गई है लेकिन गरीबो पर अत्याचार कायम हैं बल्कि राइफल और टियर-गैस की मदद से और बढ़ गये है।

पूँजीवादी समाज मे एक संस्कार खूब पनपता है। यह संस्कार खुद कमाओ और जियो, दूसरो को मरने दो का है। पूँजीवादी नैतिकता का आधार यह स्वार्थवृत्ति है जिसे व्यक्ति की स्वाधीनता का नाम दिया जाता है। अंग्रेजी मे इसे झूठे सिद्धांत का रूप दिया गया है—सर्वाइवल आफ दि फिटेस्ट। समाज मे जो शक्तिशाली है, वह दूसरों को मारकर—या मर जाने देकर—खुद जियेगा। डार्विन ने विकासवाद के वैज्ञानिक सिद्धांत के साथ यह कल्पना भी जोड़ दी थी। इस कल्पना का आधार इंग्लैंड के पूँजीवादी समाज मे स्वार्थ की होड़ थी। आजकल इस सिद्धान्त का उपयोग पूँजीवादी लूट और युद्धों को जायज़ ठहराने के लिये किया जाता है। शुक्लजी ने इस धारणा को पास नही फटकने दिया। उनके लिये मनुष्यता का विकास परस्पर सहयोग के आधार पर होता है और होना चाहिये, न कि इस हिंसा के द्वारा। अपने "श्रद्धा-भक्ति" वाले निबन्धों

में शुक्लजी ने लिखा है, "अपने कार्य-क्षेत्र के बाहर यदि वह अपने इन भावो का सामंजस्य ढूंढ़ता है तो नहीं पाता है—कहीं उसे जीवो जीवस्य जीवनम् का सिद्धान्त चलता दिखाई पड़ता है, कहीं लाठी और भैंस का। वह सोचता है कि इन बातो का अनुसरण मनुष्य-समाज मे भी जानबूझ कर क्यो न किया जाय, यह नहीं सोचता कि मनुष्य-जाति की स्थिति इन अवस्थाओ से बहुत आगे बढ़ी है और चेतना की श्रेणी मे उसके आगे की ओर कोई भूमि उसे दिखाई नही पड़ रही है।" जीवो जीवस्य जीवनम्—जंगल का नियम है। जिस समाज मे यह नियम लागू हो, वह सभ्य समाज कहलाने का अधिकारी नहीं, वह मनुष्यता की स्थिति तक पहुँचा नहीं, उसकी चेतना अवरुद्ध और कुंठित हो गई है।

पच्छिम के कुछ मनोवैज्ञानिको ने समाज विशेष के वर्ग-संबन्धो मे पनपने वाली स्वार्थपरता को शाश्वत नियम का रूप दे दिया। उनके लिये मनुष्य का कोई काम निःस्वार्थ होता ही नहीं, कोई देश और जनता के लिये हँसते हँसते प्राण भी दे दे तो वे उसमे उसके अहंकार की तुष्टि या किसी दमित वासना की अभिव्यक्ति देख लेंगे और उसकी निःस्वार्थ सेवा से इन्कार करेंगे। ऐसे लोगो के लिये करुणा, सहानुभूति आदि का कोई अस्तित्व नहीं है। इन्हे लक्ष्य करके शुक्लजी ने लिखा है, "समाज-शास्त्र के पश्चिमी ग्रन्थकार कहा करें कि समाज मे एक दूसरे की सहायता अपनी-अपनी रक्षा के विचार से की जाती है, यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्मक्षेत्र मे परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देने वाली किसी न किसी रूप मे करुणा ही दिखाई देगी।" (करुणा)। शुक्लजी का मनोविज्ञान पच्छिमी मनोविज्ञान से किस तरह भिन्न है, उसकी यह मिसाल है।

शुक्लजी ने कई जगह अंग्रेज आलोचक आई० ए० रिचार्ड्स का नाम प्रशंसा के साथ लिया है। वह इसलिए कि रिचार्ड्स ने शुद्ध कलावाद का खंडन किया था, साहित्य की अनुभूति को जीवन की अनुभूति से अलग न किया था। पच्छिम के दूसरे पतनशील विचारकों के मुका-

बले मे उन्होंने उसकी प्रशंसा की थी। लेकिन रिचाड्‌स के मनोविज्ञान का आधार भी व्यक्तिवाद है। वह कविता का लक्ष्य मनुष्य के मनोविकारो मे संतुलन मानता है लेकिन कौनसी प्रवृत्तियां अच्छी है और कौनसी बुरी, इसकी छानबीन उसने नही की। रिचाड्‌स के विपरीत शुक्लजी के विवेचन की आधारशिला है लोकहित। कौनसा भाव अच्छा है, कौनसा बुरा, भिन्न-भिन्न वर्गों मे एक ही भाव के कौन-कौन से रूप होते है (वास्तव मे भाव विशेष का नाम एक होता है, उसका तत्व अलग-अलग होता है), ये समस्याए शुक्लजी ने उठाई है, रिचाड्‌स ने नही। भाव अच्छा है या बुरा, इसकी कसौटी यह है: "किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम से होता है।" (उत्साह)। रिचाड्‌स ने मानव-वृत्तियो के परिणाम का सवाल नहीं उठाया, इसीलिये उसका कलावाद का खंडन संगत नहीं है।

उत्साह क्या है? "कर्ममात्र के संपादन मे जो तत्परतापूर्ण आनन्द देखा जाता है", वही उत्साह है। कर्म के साथ फल की इच्छा भी होती है और यह इच्छा अनुचित नहीं है यदि फल का संबन्ध शुद्ध स्वार्थ न हो। देशरक्षा में भी साहस देखा जाता है, परपीड़न और डकैती मे भी। दूसरी तरह का साहस पहले के सौन्दर्य तक "कभी नही पहुँच सकता।" (उत्साह)। परिणाम के अनुसार यह भाव का सौन्दर्य-निरूपण हुआ।

श्रद्धा से क्या सिद्ध होता है? यही कि "जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार को वाञ्छित होता है।" इस तरह लोकहित भावो का शुभ या अशुभ रूप परखने की कसौटी बनता है। इसी लोक-हित के कारण श्रद्धालु की दृष्टि "सामान्य की ओर होनी चाहिये विशेष की ओर नहीं।" अन्ध श्रद्धा क्यो खराब है? इसलिये कि उससे समाज का अनिष्ट होता है। अन्ध श्रद्धा के ही कारण धर्म और देशहितैषिता के नाम पर लोग ठगे जाते है।

क्रोध के त्याग का उपदेश बहुत से महात्माओं ने दिया है लेकिन समाजरक्षा के लिये क्रोध आवश्यक हो, तो उसका पूर्ण त्याग हानिकर होगा। किसी स्त्री पर अत्याचार होते देखकर हम क्रोध करें तो "उस

समय का हमारा क्रोध कितना सुन्दर और अक्रोध कितना गर्हित होगा।"
इसी तरह करुणा की आवश्यकता "जीवन-निर्वाह की सुगमता" के लिये है। मनुष्य बनने के लिये शील और संकोच की जरूरत होती है। लेकिन लज्जा को स्त्रियो का भूषण कहकर पुरुषो ने उसे "आनन्द और विलास की एक सामग्री' बना डाला। लोभ का एक रूप प्रेम होता है जिसका उत्कृष्ट रूप देशप्रेम है। इसके विरुद्ध पैसे का लोभ है जिससे लोभ का मतलब ही पैसे का लोभ हो गया है। घृणा और क्रोध का नजदीकी संबन्ध है और जैसे जीवन मे क्रोध आवश्यक है, वैसे ही घृणा भी। भय की स्थायी वृत्ति कायरता कहलाती है। असभ्य, पिछड़ी हुई और जङ्गली जातियो मे भय की मात्रा ज्यादा होती है। जैसे-जैसे प्रकृति के बारे मे मनुष्य का ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसका भय कम होता जाता है। ईर्ष्या एक ऐसा भाव है जो समाज की कृत्रिमता से पैदा होता है और जिसे कोई भी प्रकट नही करना चाहता।

इस तरह शुक्लजी ने हर मनोविकार का सामाजिक आधार बतलाया है, उसका संबन्ध मनुष्य के व्यवहार से जोड़ा है, उसके सामाजिक परिणाम के हिसाब से उसे शुभ या अशुभ माना है। इससे सिद्ध हुआ कि शुक्लजी के मनोविज्ञान का एक ठोस सामाजिक आधार है।

जीवन मे भावो की महत्वपूर्ण भूमिका है। "समस्त मानव-जीवन के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते है।" (भाव या मनोविकार)। भावों का संबन्ध मनुष्य के कर्मों से है। जैसे उसके भाव और संस्कार होते है, वैसे ही उसके कर्म होते है। "मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति मे, भावो की तत्परता मे है।" (करुणा)। इसलिये भावो की छानबीन का काम सामाजिक महत्व का है। कविता मनुष्य के भावों को प्रतिबिंबित करती है, इसलिये उसे भी मानव-जीवन की प्रवर्तक मानना होगा, उसे भी मनुष्य की सजीवता का कारण मानना होगा। योगवाला चित्तवृत्तियो का निरोध काव्य का मार्ग नही है। साहित्य मे मनोविकार प्रकट ही नहीं किये जाते, उनका परिष्कार भी किया जाता है। यह साहित्य की सामाजिक उपयोगिता है। मनोविकारो का दमन करनेवालो को लक्ष्य करके

शुक्लजी कहते है, "नीतिज्ञो और धार्मिको का मनोविकारो को दूर करने का उपदेश घोर पाषण्ड है। इस विषय मे कवियो का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारो पर सान ही नही चढ़ाते बल्कि उन्हे परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त सबन्ध निर्वाह पर जोर देते है।" (करुणा)। कवि तीन काम करता है, मनोवेगो को तीव्र करता है, उन्हे परिमार्जित करता है और संसार के साथ उनके उपयुक्त संबन्ध-निर्वाह पर जोर देता है। शुक्लजी का यह सिद्धांत अरस्तू के कैथार्सिस या भाव-परिष्कार के सूत्र से ज्यादा भरापूरा है। संस्कृति का आधार मानव-संबन्ध है, उसका प्रभाव मानव-संबन्धो पर पड़ता है, संस्कृति अपने उस आधार को दृढ़ या निर्बल करती है। यह बात साहित्य के लिये भी कही जा सकती है। साहित्य केवल भाव-परिष्कार नहीं करता, वह किन्हीं मानव-संबंधो को दृढ़ या कमजोर भी करता है। इस तरह किसी समाज-व्यवस्था को कायम रखने या उसे निर्मूल करने मे साहित्य का बहुत बड़ा हाथ होता है। इसी कारण साहित्याकार किन्ही मानव-संबन्धो या किसी समाज-व्यवस्था की रक्षा या विनाश के प्रति तटस्थ नहीं रह सकता, चाहे तो भी उसके लिये यह संभव नहीं है।

साहित्य की अनुभूति भावो की अनुभूति है। भावो की अनुभूति वास्तविक जीवन मे, मनुष्य के व्यवहार-जगत् मे होती है। इसलिये साहित्य की अनुभूति वास्तविक जगत् की अनुभूति से निराली नही है। जिन बातो से संसार मे दुख मिलता है, उनसे साहित्य मे भी। ट्रैजेडी पर आँसू बहाने मे शुद्ध आनन्द का अनुभव होता है, शुक्लजी यह नही मानते। वह पहले आलोचक है जिन्होने पूर्व और पश्चिम के विचारको से इस बारे में मतभेद प्रकट किया है।

भावो की अनुभूति का नाम ही रस है। शुक्लजी ने एक ओर क्रोचे का खंडन किया है जो काव्य (या कला) को शुद्ध अभिव्यंजना मानता है लेकिन कही-कहीं दबी जबान से भावानुभूति स्वीकार भी कर गया है, दूसरी ओर उन्होने उन भारतीय विचारको को भी फटकारा है जो हृदय की अनुभूति की बातें तो करते है लेकिन रस शब्द से परहेज करते हैं।

उन्होने ऐसे लोगो को याद दिलाया है कि हृदय की अनुभूति रस से अलग कोई अनूठी चीज नही है।

साहित्य के व्यापक प्रभाव का कारण भावना की लोक-सामान्य भूमि है। रस-दशा लोक-हृदय मे लीन होने की दशा का ही नाम है। इसलिये साहित्य का भाव-जगत् जनसाधारण का भाव-जगत् होना चाहिये,मुट्ठी भर लोगो का कृत्रिम भाव-जगत् नही। साहित्य राज-दरबारों, पंडो-पुरोहितो और देशभक्ति का सौदा करनेवालो का गुलाम बन जाय, उन्ही की भावनाएं व्यक्त करने लगे तो वह अपनी व्यापकता खो देगा। साहित्य आत्माभिव्यक्ति वही तक है जहाँ तक वह लोक-जीवन की भी अभिव्यक्ति है। इससे आगे व्यक्ति-वैचित्र्यवाद आ जाता है जिसकी जगह किसी अजायबघर मे है, साहित्य मे नही। पच्छिम के व्यक्तिवाद के मुकाबले मे शुक्लजी ने भारत का साधारणीकरण का सिद्धान्त रखा है। उन्होने इसकी नयी व्याख्या की है। "यह सिद्धान्त यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओ के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके।" (साधरणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद)। काव्य मे भाव-व्यंजना किसी विशेष आलंबन के सहारे ही होती है लेकिन यह विशेष सामान्य का विरोधी नही होता। कवि-कौशल विशेष और सामान्य की एकता स्थापित करके उनका विरोध मिटा देता है। "भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न भिन्न विशेषों के भीतर से सामान्य के उद्घाटन की ओर बराबर रही है।" (उप०)

साहित्य का भाव-व्यापार बौद्धिक क्रिया का विरोधी नहीं है, न वह उससे स्वतंत्र या तटस्थ है। शुक्लजी ने अबुद्धिवाद का बार-बार खंडन किया है, उन लोगो पर फब्तियाँ कसीं है जो बुद्धि के विकास को काव्य के ह्रास का कारण मानते है। उन्होने दिखलाया है कि मनुष्य के भावो का परिष्कार और संचार वर्तमान सभ्यता और मनुष्य के बनावटी सामाजिक जीवन से रुक सकता है, बुद्धि के प्रसार से नहीं। बुद्धि को कोसना वर्तमान सभ्यता ( अर्थात् पूंजीवादी सभ्यता ) और सामाजिक

जीवन के बनावटीपन पर पर्दा डालना है। इन्दौरवाले भाषण मे शुक्ल जी ने बुद्धि और हृदय, बौद्धिक ज्ञान और भावना का सम्बन्ध बहुत अच्छी तरह बतला दिया है। बुद्धि और हृदय एक दूसरे के विरोधी न हों, "दोनो एक दूसरे के सहयोगी के रूप मे काम करे।" यह सहयोग किस तरह कायम होता है? बुद्धि अपने "विशेष मनन और चिन्तन द्वारा" जिन तथ्यो का निरूपण करती है, कवि उन्हीं को "गोचर और मार्मिक रूप मे" सामने रखता है। भावना का आधार अज्ञान नहीं ज्ञान ही है। ज्ञान ही भावो के संचार के लिये मार्ग खोलता है। "ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।" काव्य को अबौद्धिक क्रिया मानने वालो को शुक्लजी का यह अकाट्य उत्तर है। ज्ञान और भावना का यह सम्बन्ध उसी सूत्र को लेकर चला है जिसके अनुसार "हृदय सिंधु मति सीप समाना" है और "बरबारि बिचारू" के बरसने पर ही "कबित मुक्ता मनि चारू" उत्पन्न होते है। साहित्य विचारशून्य, विचारो से तटस्थ, ज्ञान के प्रति उदासीन क्रिया नही है। श्रेष्ठ साहित्य सदा ज्ञान-प्रसार के भीतर भाव-प्रसार के मार्ग पर चलता है।

साहित्य के भाव-जगत् के एक छोर पर विचार और बौद्धिक चितन है तो दूसरे छोर पर इन्द्रियबोध और मूर्तिमत्ता है। साहित्य और शिल्प, स्थापत्य आदि की सामान्य भूमि यह गोचरता है। शुक्लजी ने कई जगह साहित्य को कला की संज्ञा न देने पर जोर दिया है। ऐसा उन्होने उसे शुद्ध कलावाद से बचाने के लिये किया है। लेकिन शिल्प आदि कलाओ की सामान्य भूमि यह गोचरता है, गोचरता के आधार पर उनका सौन्दर्य है, सौन्दर्य के साथ मनुष्य की वासना का संस्कार और आनन्द है। इस कारण साहित्य को ललित कलाओ से एकदम अलग नहीं किया जा सकता, न साहित्य-मीमांसा से सुन्दर शब्द खारिज किया जा सकता है।

ऊपर हमने देखा है कि बुद्धि अपने चिन्तन और मनन द्वारा जिन तथ्यो का निरूपण करती है, कल्पना उन्हीं को "गोचर और मार्मिक रूप में" सामने रखती है। जहाँ गोचर रूप होगा, वहाँ यह भी देखा

जायगा कि यह रूप किस तरह सँवारा गया है, उसका आकार-प्रकार, रंग आदि हमारे सौन्दर्यबोध के अनुकूल है या नहीं। पच्छिम के कुछ विचारकोंने साहित्य को गोचरता तक,इन्द्रियबोध और रूपरंग की सुन्दरता तक सीमित कर दिया है। इसी कारण शुक्लजी काव्य-शास्त्र के बदले सौन्दर्य-शास्त्र का प्रयोग ग़लत मानते है। उनका यह विरोध सही है। सौन्दर्य से इन्द्रिबोध का ही सौन्दर्य लेना ग़लत है। सौन्दर्य भावो और विचारों मे भी होता है, मनुष्य के कर्मो मे भी होता है। "कविता केवल वस्तुओ के ही रंग-रूप के सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है।" (कविता क्या है)।

साहित्य या कला की गोचरता का सिद्धान्त शुक्लजी के ज्ञान-शास्त्र का ही परिणाम है। ज्ञान न तो आत्मा का प्रकाश है, न इलहाम होने से प्रकट हुआ है, न वह मनुष्य की सहज भावना (Intuition) का फल है। इस तरह के ज्ञान-शास्त्रो का विरोध करने के बाद शुक्लजी ने अपना वैज्ञानिक सिद्धान्त रखा है। वह सिद्धान्त यह है कि मनुष्य के बौद्धिक चिन्तन का विकास इन्द्रियज ज्ञान के आधार पर ही हुआ है। "आरम्भ मे मनुष्य-जाति की चेतन-सत्ता इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही अधिकतर रही। पीछे ज्यो-ज्यो सभ्यता बढ़ती गई है त्यों-त्यो मनुष्य की ज्ञान-सत्ता बुद्धि-व्यवसायात्मक होती गई है।" (काव्य में अभिव्यंजनावाद)। ज्ञान की पहली सीढ़ी इन्द्रियबोध है। साहित्य इस सीढ़ी को पूरी तरह कभी नहीं छोड़ता। वैज्ञानिक चिन्तन जहाँ बुद्धि व्यवसायात्मक है, वहां साहित्य इन्द्रियबोध का सहारा लिये रहता है। उसके कलात्मक सौन्दर्य का यह भी एक आधार होता है।

अपने इतिहास मे शुक्लजी ने लिखा है, "प्रत्येक भाव का प्रथम अवयव विषयबोध ही होता है।" भाव के साथ प्रथम अवयव के रूप मे विषयबोध मौजूद हो तो भावजगत् विषयबोध से अलग नहीं हो सकता। साहित्य की अनुभूति शुद्ध भावानुभूति नहीं हो सकती, उसके साथ इन्द्रिय-बोध भी जुड़ा रहेगा। विचार से भाव ज्यादा व्यापक होता है, भाव से

इन्द्रियबोध। इस गोचर आधार के कारण साहित्य विज्ञान की अपेक्षा ज्यादा व्यापक और प्रभावशाली होता है। काव्य की विशेषता भावो को मूर्त रूप देने मे है। "जब तक भावों से सीधा और पुराना लगाव रखने वाले मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे तब तक काव्य का वास्तविक ढांचा खड़ा न हो सकेगा।" ( कविता क्या है )।

कल्पना का आधार इन्द्रियबोध ही है। शुद्ध कल्पना नाम की कोई चीज नहीं है। पच्छिम के जिन विचारको ने कल्पना का स्वतंत्र अस्तित्व माना है, उसकी निराली सृष्टि की चर्चा की है, शुक्लजी ने उनका खंडन किया है। उनका प्रत्यक्ष विरोध क्रोचे जैसे भाववादियो से है, अप्रत्यक्ष विरोध कोलरिज जैसे भाववादियो से भी है जिन्होने कल्पना को शाश्वत और निरपेक्ष चेतना का पयार्य मान लिया था और मनुष्य की व्यावहारिक कल्पना को उसी परम चेतना का अंश मान लिया था। योरप की कल्पनावादी साहित्य-मीमांसा के विपरीति शुक्लजी का मत यह है, "जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे, उसे उस भाव का आलंबन कहना चाहिये। ऐसे रसात्मक तथ्य आरंभ मे ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं। फिर ज्ञानेन्द्रियो द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है।" ( कविता क्या है )।

शुक्लजी के ज्ञान-शास्त्र मे मनुष्य का मन बाह्य जगत् का ही प्रतिबिंब है। वह रूप-गति हीन नही है, रूपगति का ही संघात है। मानसिक प्रक्रिया की यह वस्तुवादी व्याख्या है। "जिस प्रकार यह जगत् रूपमय है और गतिमय है उसी प्रकार मन भी। मन भी रूप-गति का संघात ही है।" ( कविता क्या है )। मन स्वयं रूपमय है, इसलिये ज्ञान भी रूपातीत नही होता। "हमे अपने मन का और अपनी सत्ता का बोध रूपात्मक ही होता है।" ( उप० ) जो चिन्तन और विचार अरूप लगते हैं, उनका आधार भी रूपमय जीवन ही है। मनुष्य अपनी सुविधा के लिये संकेतो से काम लेता है लेकिन हर संकेत इस रूपमय जगत् या उसके मानसिक प्रतिबिंब की ओर ही होता है। "भावो के अमूर्त विषयों की तह मे भी मूर्त और गोचर रूप छिपे मिलेगे।" ( उप० ) साहित्य

की मूर्तिमत्ता का यह दार्शनिक आधार है।

इस ठोस दार्शनिक आधार पर ही शुक्लजी ने साहित्य मे रूपविधान की चर्चा की है। कल्पना क्या है? "मानसिक रूपविधान का नाम ही संभावना या कल्पना है।" (रसात्मक बोध के विविध रूप)। ऐडीसन के कल्पना-सम्बन्धी विवेचन के साथ चलते हुए शुक्लजी दो तरह का रूप-विधान बतलाते है। एक तो "प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओ का ज्यो का त्यो प्रतिबिम्ब होता है", दूसरा इनके "आधार पर खड़ा किया हुआ नया वस्तु-व्यापार-विधान" होता है। पहला रूपविधान स्मृति है, दूसरा कल्पना। ऐडीसन ने स्मृति को भी कल्पना का नाम दिया है। शुक्लजी ने वह स्थापना अमान्य ठहरा दी है। इसके सिवा "प्रत्यक्ष या स्मरण द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष दशाओ मे रसानुभूति की कोटि मे आ सकती है", यह स्थापना ऐडीसन के चिन्तन से बहुत दूर है। अनुभूति का अर्थ शुक्लजी के लिये "चाक्षुष ज्ञान" के अलावा शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श भी है। इस तरह रूपविधान का अर्थ इन्द्रियबोध का ही विधान समझना चाहिये।

रूपविधान मे चाक्षुष ज्ञान मुख्य है। इसीलिये शास्त्र चर्चा की विशेषता अर्थग्रहण है तो साहित्य की विशेषता बिम्बग्रहण। (कविता क्या है)। साहित्य से प्रभावित होने की शक्ति उनमे होती है जिनमे मूर्ति-विधान की क्षमता होती है। जो लोग साहित्य से प्रभावित नही होते, उसका एक कारण यह है कि "उनके अन्तःकरण मे चटपट वह सजीव और स्पष्ट मूर्ति-विधान नही होता जो भावो को परिचालित करता है।" (उप०)। कल्पना की आवश्यकता न केवल साहित्यकार के लिये है, उसके पाठक के लिये भी वह जरूरी है।

बौद्धिक चिन्तन, इन्द्रियबोध और भावना का समन्वय साहित्य की विशेषता है। इस विशेषता के मौलिक व्याख्याकार आचार्य शुक्ल है। यह व्याख्या पूर्व और पश्चिम दोनों के काव्यशास्त्र से ज्यादा संगत और वैज्ञानिक है। यह हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र है।

इस शास्त्र के आधार पर उन्होने क्रोचे आदि पच्छिम के विचारकों

का खंडन किया है। जो लोग हिन्दी के साहित्य-शास्त्र को अंग्रेजी किताबों की नकल समझते है, वे हिन्दी अंग्रेजी दोनो ही के साहित्य-शास्त्र का अपना अज्ञान प्रकट करते है। पच्छिमी साहित्य-शास्त्र के बारे मे शुक्ल जी का कहना है: "सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गई है। पर वास्तव मे यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं।" (कविता क्या है)। यह सब पढ़कर भी कोई कहे कि हिन्दी का काव्यशास्त्र अंग्रेजी की नकल है तो उससे पूछना चाहिये कि दिमाग मे अकल भी है या उसकी नकल हीं रह गई है।

शुक्लजी अंग्रेजी आलोचको में जिसके सबसे ज्यादा निकट है, वह ऐडीसन है। लॉक के वस्तुवाद से प्रभावित होकर ऐडीसन ने कल्पना का सिद्धन्त निकाला था और काव्य की विशेषता उसका रूपविधान बतलाया था। तब से योरप की समीक्षा मे मूर्तिमत्ता का खूब जोर रहा है। लेकिन हर तरह की कल्पना, हर तरह का रूप-विधान तो कलात्मक नहीं होता। किस तरह की कल्पना काव्य के लिये आवश्यक है, इसका जवाब ऐडीसन के यहाँ नहीं है। कारण यह कि उसके पास रस-सिद्धान्त नही था। कल्पना और रूपविधान को काव्य-सौन्दर्य का मूल आधार मानकर इस प्रश्न का उत्तर दिया ही नहीं जा सकता। इसका उत्तर तभी सभव है जब कल्पना का संबन्ध भावानुभूति से जोड़ा जाय। शुक्लजी ने यह सम्बन्ध जोड़ा है। उन्होने रूपविधान और भावानुभूति का संबंध इस तरह जोड़ा है, "काव्य-विधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्तन और संचार करती हो। सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। अतः काव्य मे हृदय की अनुभूति अङ्गी है, मूर्त्त रूप अङ्ग—भाव प्रधान है, कल्पना उसकी सहयोगिनी।" (काव्य मे अभिव्यंजनावाद)।

ऐडीसन के यहाँ जिस समस्या का समाधान नहीं है, उसका यह दोटूक जवाब है। मूर्त रूप को प्रधान मानना काव्य की विषयवस्तु के मुकाबले मे उसके रूप को मुख्य मानना है। पूँजीवादी विचारधारा पर इस रूपवाद का गहरा असर है। उससे शुक्लजी का अलगाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

क्रोचे के सौन्दर्यशास्त्र का खण्डन करते हुए शुक्लजी ने योरप के आत्मवाद या आइडियलिज्म का भी खण्डन किया हैं। क्रोचे की विचार-धारा बाह्य जगत् की वास्तविकता को अस्वीकार करती है। इसके बदले अपने उलझे तर्कजाल से वह बर्कले के दर्शन या मध्यकालीन अंधविश्वासो की ही प्रतिष्ठा कर सकता है। शुक्लजी ने उसके प्रतिक्रियावाद की जड़ पर ही आघात किया है। क्रोचे की मूल स्थापना क्या है? "उसने कला की अभिव्यंजना के इस व्यवसाय को बाह्य प्रकृति और अन्तःप्रकृति दोनों से परे जो आत्मा है, उसकी अपनी निज की क्रिया कहा है—इस जगत् और जीवन से स्वतन्त्र।" यह बात किसी न किसी रूप मे भारत के अध्यात्मवादी भी दोहराते है, इसमे सन्देह नही। शुक्लजी ने इसी का खण्डन किया है। क्रोचे जिन्हे आत्मा के कारखाने से निकला हुआ माल समझता है, उसे वह इस व्यवहार जगत् का ही प्रतिबिंब साबित करते हैं। स्वयं शुक्लजी भी जहाँ अपवादरूप से आत्मवादी विचारधारा की ओर झुक जाते है, वहाँ क्रोचे की उपर्युक्त धारणा से मिलती जुलती बात ही कहते है। जैसे यह उक्ति, "परस्पर साहाय्य के जो व्यापक उद्देश्य है उनका धारण करनेवाला मनुष्य का छोटा सा अन्तःकरण नहीं, विश्वात्मा है।" (करुणा)। मानव मात्र के हृदय को विश्वात्मा कहा जाय तो बात दूसरी है लेकिन शुक्लजी का वह अर्थ नही है। उन्होने अन्यत्र भी लिखा है कि काव्य का लक्ष्य यह है कि "मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकालकर उसे विश्वव्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति मे लीन करे।" (काव्य में अभिव्यंजनावाद)। लेकिन मनुष्य की अनुभूति विकासमान है। इन्द्रियज ज्ञान से मनुष्य बुद्धि-व्यवसायी

ज्ञान की ओर बढ़ता आया है, पूर्वजो के संस्कारों मे नये संस्कार जोड़ता आया है, यह शुक्लजी सिद्ध कर चुके है। इसलिये देशकालबद्ध मानव से परे कोई त्रिकालवर्तिनी अनुभूति नही है।

इस तरह की उक्तियां अपवाद हैं। शुक्लजी जब हृदय की मुक्त दशा की बात करते है तब उसकी व्याख्या करके स्पष्ट कर देते है कि उनका आशय लोक-हृदय मे लीन होने की दशा से है।

शुक्लजी की आलोचना बड़ी गंभीर है, यह बात अक्सर दोहराई जाती है। इस प्रशंसा में अज्ञान भी छिपा रहता है। जो बात समझने मे बुद्धि पर ज्यादा जोर पड़े, उसे गंभीर कहकर जल्दी पीछा छूट जाता है। दूसरी तरह का अज्ञान शुक्लजी को देखकर मुँह मटकाने मे प्रकट होता है। ब्राह्मणवादी है, एकाङ्गी समाजशास्त्री है, आउट आफ डेट है, कुछ अंग्रेजी चीजो का अनुवाद किया है, मध्यवर्ग के संस्कारो से पीड़ित है आदि बातें इसी तरह का अज्ञान प्रकट करती हैं।

शुक्लजी की आलोचना गंभीर है, इसलिये कि उसका आधार वस्तुवादी दृष्टिकोण है। वह संसार के उन इने गिने आलोचकों मे हैं जिन्होने मुक्त कंठ से इस भौतिक जगत्, मनुष्य के व्यवहार जगत् को सत्य स्वीकार किया है। शुक्लजी ने लिखा है, "संसार का अर्थ आजकल योरप और अमेरिका लिया जाता है।" जब संसार मे भारत की भी गिनती होने लगेगी, यानी कुछ बुद्धिजीवियो का दिमाग पच्छिम की गुलामी से मुक्त होगा, वहाँ की प्रगतिशील विचारधारा पहचानकर उससे शुक्लजी की तुलना करेगा, तब वह उनका महत्व पहचानेगा, उससे पहले नही।

शुक्लजी की गंभीरता का दूसरा कारण उनकी तर्क और चिन्तन-पद्धति है। इस पद्धति को हम द्वंद्व नाम दे तो अनुचित न होगा। विरोधी लगनेवाली वस्तुओ का सामंजस्य पहचानना, उन्हे गतिशील और विकासमान देखना, संसार के विभिन्न भौतिक और मानसिक व्यापारों का परस्पर संबन्ध स्थापित करके उनका अध्ययन करना इस पद्धति की विशेषताएं है। भारतीय दार्शनिको और तार्किको की लंबी परंपरा मे भी शुक्लजी अपनी इस चितन-पद्धति के कारण एक श्रेष्ठ विचारक ठहरते है।

विरोधी तत्वो की एकता देखने के कारण शुक्लजी ही लिख सकते थे, "यदि राम हमारे काम के है तो रावण भी हमारे काम का है।" (श्रद्धा-भक्ति)। कारण यह कि एक मे प्रवृत्ति का क्रम है तो दूसरे मे निवृत्ति का। साहित्य के लिये दोनों का संयोग आवश्यक है। "जीवन मे इस निवृत्ति और प्रवृत्ति का प्रवाह साथ-साथ चलता है।" (उप०)। इस पद्धति से उन्होने निर्माण के साथ ध्वंस को भी आवश्यकता बतलाया है, माधुर्य के साथ भीषणता मे भी सौन्दर्य देखा है। इसी पद्धति से रूपविधान और भाव का सम्बन्ध, इन्द्रियबोध और विचार का सम्बन्ध, साहित्य मे सामान्य और विशेष का सम्बन्ध समझ मे आता है। इसी तरह साहित्य मे विभिन्न अर्थों का समन्वय होता है। अनुमित अर्थ का क्षेत्र दर्शन विज्ञान है, आप्तोलब्ध का इतिहास और कल्पित अर्थ का काव्य है। "पर भाव या चमत्कार से समन्वित होकर ये तीनो प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते है और होते है।" ( काव्य मे अभिव्यंजनावाद )। इसी तरह काव्य मे विभाव प्रधान वस्तु है; उसी से भाव-व्यंजना होती है। "भाव और विभाव दोनो पक्षो के सामंजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति नही हो सकती।" (साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद)। काव्य मे साधारण और असाधारण का सम्बन्ध इसी पद्धति से समझा जा सकता है। "साधारण के बीच मे ही असाधारण की प्रकृत अभि-व्यक्ति हो सकती है।" ( काव्य मे प्राकृतिक दृश्य )। इस तरह के वाक्य अचानक पाठक को चमत्कृत कर देते है। उनमे जीवन और साहित्य के सत्य की झलक रहती है, यही उनके अनूठेपन का कारण है।

शुक्लजी ने न तो ऑस्कर वाइल्ड जैसे कुछ लेखको की तरह आलं-कारिक शैली मात्र के लिये विरोधाभास खड़े किये है, न उन्होने कुछ भारतीय समन्वयवादियो की तरह वास्तविक विरोध पर पर्दा डालकर नकली एकता कायम कर दी है। वह विरोधी लगने वाले तत्वो की जो एकता दिखलाते है, वह वास्तविक होती है, उसका आधार मनुष्य का व्यवहार जगत् होता है, कल्पना नही।

शुक्लजी ने अपने इतिहास में लिखा है, "संसार की हर एक बात

और सब बातो से संबद्ध है।" इसकी बहुत अच्छी मिसाल वह विवेचन है जहाँ शुक्लजी ने विदेश के सामाजिक आन्दोलनो से भारत का संबंध जोड़ा है। इस पद्धति के कारण वह क्रोचे आदि विचारको और अंग्रेजी के इलियट आदि कवियो के हानिकर प्रभाव से हिन्दी लेखको और पाठको को सावधान कर सके।

वह वस्तुओ और विचारो को गतिशील और विकासमान किस तरह देखते है, इसकी मिसाल मनुष्य की देव-सम्बन्धी धारणा, उसकी भावना और चिन्तन के विकास तथा संस्कारो के अर्जन का विवेचन है। उन्होने अनेक रसवादियो या कल्पनावादियो की तरह मनुष्य के भाव-जगत् को अपरिवर्तनशील नहीं माना। इसीलिये विकास-क्रम मे कौन से तत्व पतनशील है, कौन से प्रगतिशील, इसका भेद वह दिखा सके। उन्होने संस्कृत, फारसी, हिन्दी, उर्दू के दरबारी साहित्य का लगातार और डटकर विरोध किया। उन्होने हिन्दी साहित्य मे संस्कृत साहित्य के पतनशील रुझान छोड़ने को कहा, उसके प्रगतिशील रुझान अपनाने की सलाह दी। उन्होने लिखा है, "हिन्दी की कविता का उत्थान उस समय हुआ जब संस्कृत-काव्य लक्ष्यच्युत हो चुका था।" (काव्य मे प्राकृतिक दृश्य)। यहाँ एक ओर तो उन्होने संस्कृत साहित्य से हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध देखा है। द्वंद्व-पद्धति की यह एक विशेषता है। साथ ही उन्होने संस्कृत साहित्य को गतिशील देखा है, उसके पतनशील रूप से सावधान किया है। द्वंद्व-पद्धति की यह दूसरी विशेषता हुई।

शुक्लजी की गम्भीरता का तीसरा कारण उनका सामाजिक दृष्टिकोण है। वह हिन्दी के मानववादी, सामन्त-विरोधी और देशभक्त लेखक है। उन्हे जनसाधारण से प्रेम है। इसलिये वह साधारण मे ही असाधारण की स्थिति देख सकते है। उन्हे अपने देश की संस्कृति से प्रेम है, इसलिये वह पच्छिम के घटिया सिद्धान्तो की नकल बर्दाश्त नही कर सकते। इस दिशा मे कहीं-कही उनका विवेचन गलत हो गया है, कहीं-कही तुलसी को महान् सिद्ध करने की धुन मे वह साहित्य का सम्बन्ध धर्म से जोड़ने लग गये है, यह सही है। लेकिन यह उनकी मूल विचारधारा नही है।

सच्चे हिन्दूवादी और इस्लामवादी की पहचान यह है कि वह साम्राज्य-वाद और सामन्तवाद का समर्थक होता है। शुक्लजी साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के निर्मम आलोचक हैं। उन्होंने पैसे पर टिके हुए मानव-सम्बन्धो की, पूँजीवादी सभ्यता की कड़ी आलोचना की है, योरप के उपनिवेशवादियो का सच्चा रूप प्रकट किया है, कविता को उद्दीपन का व्यापार बनानेवालो और धार्मिक पाखण्ड से जनता को ठगने वालो की तीखी नुक्ताचीनी की है। शुक्लजी का काव्य-शास्त्र जैसे दार्शनिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण है, वैसे ही उनका साहित्यालोचन सामाजिक क्षेत्र मे है।

मनुष्य उनके लिये देशबद्ध प्राणी है। जिसके हृदय मे देशप्रेम नहीं, उसका मानवतावाद झूठा है। काव्य मे प्रकृति-चित्रण की मांग करते हुए न तो उन्होंने प्रकृति को आध्यात्मिक सत्य का संदेशवाहक बनाया है, न उसकी रूपपूजा को महत्वपूर्ण माना है। प्रकृति-चित्रण की आवश्यकता उससे मनुष्य के साहचर्य से पैदा होती है। और मनुष्य का सबसे ज्यादा सम्बन्ध उसके अपने देश से होता है। "इसी देशबद्ध मनुष्यत्व के अनुभव से सच्ची देशभक्ति या देशप्रेम की स्थापना होती है। जो हृदय संसार की जातियो के बीच अपनी जाति की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नही कर सकता, वह देशप्रेम का दावा नहीं कर सकता।" (काव्य मे प्राकृतिक दृश्य)। शुक्लजी नही चाहते कि जैसे "एक अमेरिकन फारसवालो को उनके देश का सारा हिसाब-किताब समझाकर चला गया", वैसे ही भारत के लोग भी अमेरिकनो से देशप्रेम करना सीखें और "विलायती बोली में 'अर्थशास्त्र' की दुहाई" दिया करे। शुक्लजी की देशभक्ति तमाम हिन्दी पाठको और साहित्य-कारो को अपनी स्वाधीनता की रक्षा करना सिखलाती है। इस स्वाधीनता को आज खास खतरा उन्ही से है जो फारस वालो को देश का हिसाब-किताब समझाकर चले नही आये, वरन् वहाँ युद्ध का अड्डा बना रहे है।

दृढ़ता, आत्मविश्वास और निर्भीकता शुक्लजी के विशेष गुण है। लाख विरोधी प्रचार हो, वह अपने सिद्धान्तों पर अडिग रहे। रहस्यवाद की भारत-व्यापी धूम होने पर उन्होने उसका विरोध करना नही छोड़ा।

भारतीय अध्यात्मवाद की विश्व मे डुग्गी पिटने पर भी उन्होने वास्तविक जगत् का सूत्र नहीं छोड़ा, इस जगत् के चित्रण को भारतीय साहित्य की मूल विशेषता बतलाया और अध्यात्म शब्द को साहित्य के मैदान से बाहर निकाल देने को कहा। अंग्रेजी और संस्कृत की धाक की पर्वाह न करके उन्होने इन भाषाओ मे जो कमजोरियाँ दिखीं, उनका भी खुलकर विवेचन किया। इन सब कामों के लिये उन्हे बल मिलता था, हिन्दी जनता से, हिन्दी के तरुण विद्यार्थियो से, उच्चवर्गों की अवज्ञा और अपमान से, वाल्मीकि, भवभूति और तुलसी की परम्परा से, संसार की बढ़ती हुई स्वाधीनता-प्रेमी मानवता से, और अपने विशाल हृदय से।

शुक्लजी सहृदय आलोचक है। तर्कशास्त्री से अधिक वह भावुक साहित्य-प्रेमी है। उनकी तर्क-योजना मे चूक हो सकती है, सहृदयता मे नहीं। उनमे भारतेन्दु-युग की जिंदादिली है, उस युग के लेखको जैसा व्यंग्य-विनोद है। व्यंग्य हमेशा विनोद के लिये नही होता। कहीं-कही उनका व्यंग्य क्रोधाग्नि मे तपे हुए तीर की तरह होता है। लोभियो के लिये कहते है, "न उन्हे मक्खी चूसने मे घृणा होती है और न रक्त चूसने मे दया।" ऐसा तीखा व्यंग्य या तो प्रेमचन्द मे मिलता है या निराला मे। ऐसे तीर जब तब ही निकालते है। उनका विनोद साधारणतः मनोरंजन और उल्लास के लिये होता है। "एक सभा के सहायक मन्त्री हैं जो कार्य-विवरण पढ़ने मे संकोच करते है। सारांश यह कि एक बेवकूफी करने मे लोग संकोच नही करते और सब बातों मे करते है।" (लज्जा और ग्लानि)। केशव, मिश्रबन्धु आदि उनके व्यंग्य-विनोद का लक्ष्य किस तरह बने है, यह हम पहले देख चुके है।

शुक्लजी की शैली वैज्ञानिक विवेचन की शैली है। उसमे कलात्मक सौन्दर्य पैदा करने की कोशिश नही की गई। फिर भी यह शैली एकसी नही है। करुणा, क्रोध आदि वाले निबन्धो मे शैली का आनन्द कम है, सूक्ष्म तर्क-योजना मे रस लेने वाले ही इन्हे पढ़कर प्रसन्न हो सकते है। जहां-तहां आवेशपूर्ण वाक्य या आलंकारिक शैली आ गई है, वह मरुभूमि में जलाशय की तरह। लेकिन "काव्य मे प्राकृतिक दृश्य",

"काव्य में रहस्यवाद" आदि निबन्ध खूब प्रवाहपूर्ण हैं। इनमें एक सरस वक्ता की आवेशपूर्ण शैली का आनन्द मिलता है। शुक्लजी की आलोचना जब लड़ाकू रूप धारण करती है, तब उनकी शैली बहुत ही स्वाभाविक और मनोरंजक होती है।

शुक्लजी की एक बहुत बड़ी विशेषता अत्यन्त सारगर्भित वाक्य रचने की क्षमता है। इस तरह के वाक्य अनायास उनके साधारण वाक्य-प्रवाह मे आकर अपनी असाधारणता से पाठक को आकर्षित कर लेते हैं। इन वाक्यों में जीवन के अनुभवों और सुदीर्घ चिन्तन का फल संचित होता है। "यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है।" "जिन्हें यह कहने मे संकोच नही कि हम बड़े संकोची है, उनमें संकोच कहाँ ?" "जो किसी के लिये नहीं जीते, उनका जीना न जीना बराबर है।" "राम का नाता सारे संसार से नाता जोड़ता है, तोड़ता नही।" "अभिमानी स्वयं अन्धा होकर दूसरो की आँखें भी फोड़ता है।" इस तरह के सैकड़ों वाक्य उनकी रचनाओ मे बिखरे हुए हैं।

जहां-तहां वह भारतेन्दु-युग के लेखको के रंग मे शब्द-चमत्कार दिखाते हुए विनोद करते है। "लोभ और प्रीति" के सिलसिले मे "सब की टकटकी टके की ओर लग गई"; "लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गये।" या क्रोध की चर्चा मे, "धज के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलने वाला धोखे मे भी क्रोध को पाप का बाप ही कहेगा।"

शुक्लजी ने तत्सम शब्दो का प्रयोग काफी किया है लेकिन इधर के आलोचको से कम। तद्भव रूपो का भी प्रयोग वह धड़ल्ले से करते है। जैसे इतिहास मे : "वज्रयानी सिद्धो का लीला-क्षेत्र भारत का पूरबी भाग था। गोरख ने अपने पंथ का प्रचार देश के पच्छिमी भागो मे" किया। पूरब-पच्छिम जैसे रूप उनके यहाँ खूब है। उर्दू के प्रचलित शब्दो का प्रयोग भी उन्होने काफी और बिना झिझक के किया है। इतिहास में देव-बिहारी वाले विवाद का नतीजा बतलाते हुए लिखा है

कि बहुत से लोग "इस तुलनात्मक समालोचना के मैदान में उतरने का शौक जाहिर करने लगे।" अंग्रेजी पढ़े-लिखों की हिन्दी मे "जो दोष रहते थे, वे उनकी खातिर से दरगुजर कर दिये जाते थे।" बदरीनारायण चौधरी ने अपने दो नाटक "हाथ आजमाने के लिये लिखे थे।" किशोरीलाल गोस्वामी के लिये, "खैरियत यह हुई कि अपने सब उपन्यासों को आपने यह भंगनी का लिबास नही पहनाया।' इस तरह के और बहुत से वाक्य उद्धृत किये जा सकते है। उर्दू शब्दो के प्रयोग का तो कहना ही क्या। "अलबत" उनका वैसे ही प्रिय शब्द है जैसे "नाना"!

किसी लेखक का कृतित्व ही उसका सच्चा व्यक्तित्व है। शुक्लजी के कृतित्व का अब तक जो विवेचन हुआ है, उसीको उनके मेधावी व्यक्तित्व का विवेचन समझना चाहिये। इसके सिवा कुछ उनकी व्यक्तिगत बातें हैं जिनसे पाठकों को दिलचस्पी हो सकती है। उनके इतिहास मे जहां-तहां दो चार बातें इस तरह की मिलती है। शुक्लजी भारतेन्दु-युग के अनेक लेखकों से अच्छी तरह परिचित थे। बालकृष्ण भट्ट से उन्होंने अनेक बार सुना था, "न जाने कैसे लोग बड़े-बड़े लेख लिख डालते हैं।" एक बार वह शुक्लजी के घर आये थे और इनके भाई की आँख आई देखकर बोले थे, "भैया! यह आँख बड़ी बला है; इसका आना, जाना, उठना, बैठना सब बुरा है।" बदरीनारायण चौधरी शुक्लजी पर विशेष कृपा रखते थे। कांग्रेस मे दो दल होने पर उन्होंने शुक्लजी से एक नोट लिखने को कहा था। उसका एक वाक्य बदलकर उन्होने यो लिखने का आग्रह किया था, "दोनो दलो की दलादली मे दलपति का विचार भी दलदल में फँसा रहा।" शुक्लजी ने ठीक यही शैली तो नही अपनाई, लेकिन कभी-कभी मनोरंजन के लिये उससे मिलती-जुलती सानुप्रास शैली का प्रयोग उन्होने जरूर किया है। जैसे सत्यनारायण कविरत्न के लिये लिखा है, "वे थे ब्रजमाधुरी मे पगे जीव; उनकी पत्नी थीं आर्य्यसमाज के तीखेपन में तली महिला।"

बदरीनारायण चौधरी से उन्होंने भारतेन्दु के बारे मे बहुत सी बातें सुनी होंगी। आनन्दकादंबिनी पर भारतेन्दु ने जो राय दी थी, उसे

शुक्लजी ने इतिहास में उद्धृत किया है। (पृ० ५६० )। प्रसाद जी से उन्होने कई बार ऐतिहासिक उपन्यास लिखने के लिये कहा था, इसका जिक्र भी उन्होने किया है। इस तरह के उल्लेख आलोचना में संस्मरणों का महत्व जोड़ देते हैं। शुक्लजी इतिहास लिख रहे थे, संस्मरण नहीं; इसलिये उन्होने आवश्यक होने पर ही ऐसी बातों की चर्चा की है।

अपने बारे मे उन्होंने कम लिखा है, फिर भी उनकी रचनाओं मे जहां-तहां व्यक्तिगत बातों का उल्लेख हुआ है, उनसे पुस्तक-सेवी विद्वान् के बदले एक घुमक्कड़ और विनोदी व्यक्तित्व की तस्वीर बनती है। "मैंने पहाड़ों और जंगलो मे घूमते समय" साधुओ को प्रकृति पर मुग्ध होते देखा था। साधु मुग्ध हुए हों, चाहे न हुए हो, शुक्लजी ने जंगलो-पहाड़ों मे घूम कर प्रकृति का बहुत निकट से परिचय पाया था, इसमे सन्देह नही। "एक दिन रात को मैं सारनाथ से लौटता हुआ" काशी की गली में प्राचीन उज्जयिनी का भ्रम कर चुका था। यह भ्रम टूटा म्युनिसिपैलिटी की लालटेन से। काशी की गलियो मे उन्होंने ठठेरो को मायावाद समझाकर गाहक से दूना दाम वसूल करते देखा था। साँची का स्तूप देखते हुए महुओं की सुगन्ध पर वह झूम उठे थे और उस लखनवी दोस्त से खीझ उठे थे जिसे डर था कि महुए का नाम लेने से "लोग देहाती समझेंगे।" उन्होने चूल्हा फूंकते हुए ब्राह्मण देवता को उसमे पानी डालते देखकर रसात्मक अनुभूति की थी, सीताराम और करेला कहकर बूढ़ो को चिढ़ाने वाले लड़कों की भीड़ से भी आनन्द लिया था। इसका कारण शुक्लजी का मानवप्रेम, उनकी विनोद-प्रियता और जिंदादिली थी। लड़को के सिवा बूढ़े रसिको से भी यह पद सुनकर उन्होंने याद कर लिया था, "कवि सेवक बूढ़े भए तौ कहा पै हनोज है मौज मनोज ही की"!

शुक्लजी मे कुछ बातें डाक्टर जॉनसन की सी हैं। दोनो ही लेखक सहज बुद्धि (कॉमन सेन्स) की जमीन नहीं छोड़ना चाहते। शुक्लजी यथार्थवाद की कसौटी पर कभी-कभी साहित्य को इस तरह परखते हैं कि अद्भुत रस की सृष्टि हो जाती है। प्रकृति को अबलामय देखनेवाले कवियों

को लक्ष्य करके आचार्य कहते हैं, "आजकल तो स्त्री-कवियो की कमी नही है। उन्हे अब पुरुष-कवियो का दीन अनुकरण न कर अपनी रचनाओ मे क्षितिज पर उठती हुई मेघमाला को दाढ़ी-मूछ के रूप मे देखना चाहिये।" जायसी की भूमिका मे "काजर दे नहिं एरी सुहागिनि! आंगुरि तेरी कटैगी कटाछन" इस पंक्ति पर शुक्लजी की टिप्पणी है, "यदि कटाक्ष से उँगली कटने का डर है, तब तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिये छुरी, हँसिया आदि की कोई जरूरत न होनी चाहिए।"

शुक्लजी ने अपने निबंधो द्वारा हिन्दी के काव्य-शास्त्र को एक नया मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आधार दिया। इस आधार पर उन्होने साहित्य की प्रगति-विरोधी धाराओ का खंडन किया और संस्कृत-हिन्दी की प्रगतिशील परंपरा का समर्थन किया। उनकी शैली तार्किक विवेचन के लिये उपयुक्त होने के साथ आवश्यकतानुसार आवेशपूर्ण और आलंकारिक भी है और उसकी एक विशेषता जीवन का संचित अनुभव प्रकट करने वाली वाक्यावली है। शब्द-चयन मे उर्दू के प्रचलित शब्दो से उन्हे परहेज़ नही है। उनका व्यक्तित्व एक सहृदय और विनोदी साहित्य-प्रेमी और संसार-प्रेमी मनुष्य का है, पुस्तकसेवी संन्यासी का नहीं। उनकी निर्भीकता, दृढ़ता, गहन अध्यवसाय और आत्मविश्वास के गुण उनके काव्यसिद्धान्तों और साहित्यालोचन की ही तरह हिन्दीप्रेमियों के लिये शिक्षाप्रद और प्रेरणादायक हैं।